

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

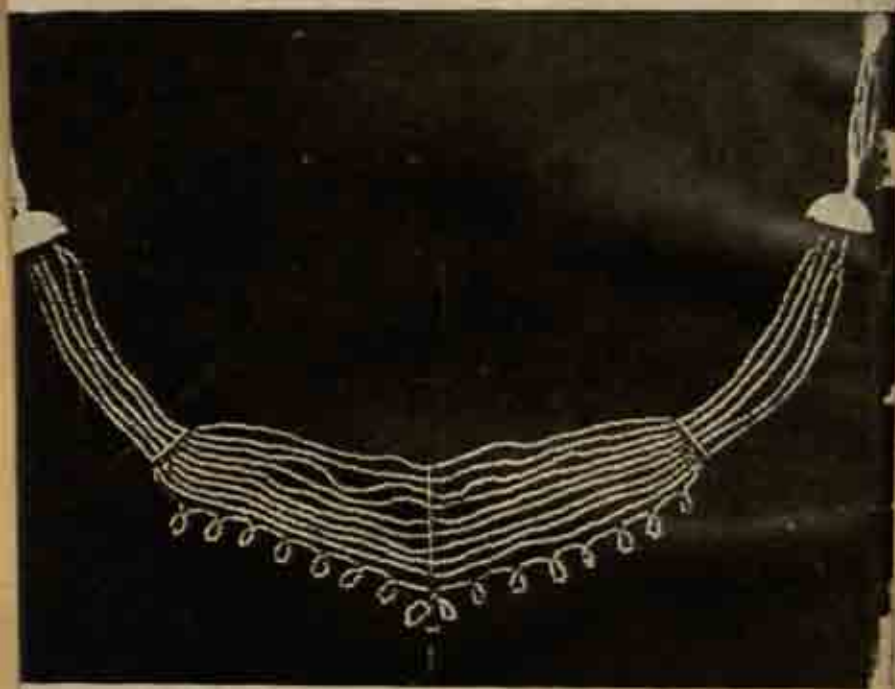
CENTRAL
ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 36851

CALL No. 901.0954/Har.







पिछली दशाब्दी में भारतीय पुरातत्व की एक बड़ी खोज भारत
में सिन्धु सभ्यता के अवशेषों का पता लगाना है। इसका सबसे
महत्वपूर्ण स्थान लोथल है। इसकी खुदाई में प्राप्त एक
स्वर्णहार (पृ० ६१) ।

भारत का

30851

सांस्कृतिक

इतिहास

★ 119

हरिवत्त वेदालंकार

पृष्ठ ५०

गुरुकुल विश्वविद्यालय
कांगड़ी

तीसरा संस्करण



901.0954

Har

~~"SPECIMEN" 1962~~

१९६२

आत्माराम पण्ड संस, दिल्ली-६

BHARAT KA SANSKRITIK ITIHAS

(Cultural History of India)

by

Hari Dutta Vedalankar

Rs. 8.00

(Third Edition, 1962)



COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
कापमोरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ

- होज बाग, नई दिल्ली
- चौड़ा रास्ता, जयपुर
- माई हौरा गेट, जालन्धर
- बेगमपुल रोड, मेरठ
- विश्वविद्यालय क्षेत्र, वरधवागढ़

मूल्य आठ रुपए

मुद्रक

रमिक प्रिंटर्स

करोल बाग, नई दिल्ली

CENTRAL LIBRARY

LIBRARY

Acc. No. 36851
Date 21.5.63
Call 901-0954

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस संस्करण को पूर्णतया संशोधित करते हुए इसमें पिछले दस वर्षों में हुए नवीन पुरातत्वीय अन्वेषणों तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में लोपल की सुदाई पर एक नया प्रकरण बढ़ाया गया है। शासनप्रणाली तथा आधुनिक भारत वाले अध्यायों की सामग्री को अद्यतनीय बनाने के लिये अनेक संशोधन किये गये हैं। संशोधन के लिये मुझे डा० वामुदेवधरणजी सातवात, हिन्दू विश्वविद्यालय, तथा श्री कृष्णदत्तजी बालोयी, सागर विश्वविद्यालय, से बहुमूल्य सुझाव मिले हैं, मैं इनका इसके लिए अत्यन्त धान्यारी हूँ। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने लोपल, मोहेंजोदड़ो आदि के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य चित्र छापने की अनुमति प्रदान की है, इसके लिए इस विभाग का बहुत अनुगृहीत हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी

२४-४-६२

हरिदत्त वेदालंकार

प्रथम संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के सब पहलुओं का सरल एवं सुबोध रूप से संक्षिप्त तथा प्रामाणिक दिग्दर्शन कराना है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जनता का इस विषय में धनुराम निरन्तर बढ़ रहा है और विश्वविद्यालय अपने पाठ्य-क्रमों में इसका समावेश कर रहे हैं। यह पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है, उनमें वर्णित सभी विषयों का इसमें संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादन है। ध्याता है कि विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए यह पुस्तक उपयोगी होमी तथा प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में विज्ञाना रखने वाले सामान्य पाठक भी इसमें लाभ उठा सकेंगे।

पुस्तक के पहले अध्याय में भारतीय संस्कृति की महत्ता, सम्यक्ता और संस्कृति के स्वरूप, तथा हमारे देश की सांस्कृतिक एकता की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है और विभिन्न राजनीतिक युगों की सांस्कृतिक उत्पत्ति का संक्षिप्त निर्देश है। इस अवतरणिका के बाद दूसरे से तेरहवें अध्यायों तक वैदिक, महाकाव्य-कालीन, गुप्त एवं मध्य युग की सांस्कृतिक दशा का तथा बौद्ध, जैन, भक्ति-प्राधान्य पौराणिक हिन्दू-धर्म, बृहत्तर भारत, वर्ण-व्यवस्था, भारतीय दर्शन, शासन-प्रणाली, शिक्षा-व्यवस्था तथा कला आदि संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंशों का विवेक

है, हिन्दू धर्म और इस्लाम के भारस्वरिक सम्पर्क के परिणामों का भी उल्लेख है। नौदहवें अध्याय में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और उसके भविष्य पर विचार किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में आधुनिक भारत के सांस्कृतिक नव जागरण का वर्णन है, इसमें ब्राह्म-समाज, धर्म-समाज आदि धार्मिक आन्दोलनों, सती-प्रथा के निषेध से हिन्दू कोश तक के सामाजिक सुधारों, वर्तमान भारत के वैज्ञानिक विकास, साहित्यिक उन्नति और कलात्मक पुनर्जागृति का संक्षिप्त उल्लेख है।

पुस्तक की कुछ प्रधान विशेषताओं का वर्णन अनुचित न होगा। इसकी भाषा और शैली व्यवस्थित सरल और सुबोध रखी गई है। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक युग और सांस्कृतिक पहलू के अधिक विस्तार में न जाकर उसकी मुख्य बातों की ही चर्चा की जाय, विभिन्न विषयों का काल-क्रमानुसार इस प्रकार वर्णन किया जाय कि सारा विषय हस्तामलकभाव हो जाय। पाठक और विद्यार्थी स्पष्ट रूप से यह जान सकें कि हमारी संस्कृति में कौन-सी संस्था, प्रथा, व्यवस्था, कला-शैली आधुनिक विचार किस समय और किस कारणों से प्रादुर्भूत हुए। उदाहरणार्थ जाति-भेद का वैदिक, मौर्य, सातवाहन, गुप्त तथा मध्य युगों में कैसे विकसित हुआ, इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस प्रकार धर्म तथा अन्य क्षेत्रों में भी सांस्कृतिक उन्नति की क्रमिक व्यवस्थाओं का निदर्शन है। भारतीय कला वाले अध्याय में न केवल भारतीय कला की विशेषताओं तथा उसकी विभिन्न शैलियों का परिचय दिया गया है किन्तु उनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए १४ चित्र भी दिये हैं, चित्रों का चूसाव इस दृष्टि से किया गया है कि इनमें भारतीय कला के सभी कालों के एक-दो उत्तम नमूने आ जायें। केवल कुछ अधिक चित्र देना चाहता था किन्तु पुस्तक के जल्दी में छपने के कारण, उसे इतने चित्रों से ही संतोष करना पड़ा है। अगले संस्करण में वह इस दोष को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करेगा। सात चित्र भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इनके प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं इस विभाग का अत्यन्त आभारी हूँ। विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार स्पष्ट करने के लिए एक मान-चित्र भी दिया गया है।

यदि यह पुस्तक छात्रों तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को इस विषय का ज्ञान करा सके और इसके प्रति अनुराग उत्पन्न कर सके तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

गुरुकुल कांगड़ी

हरिदत्त वेदालंकार

विषय-सूची

१. विषय-प्रवेश	१
२. प्रागैतिहासिक युग	१४
३. वैदिक साहित्य और संस्कृति	३४
४. रामायण और महाभारत तथा उत्कालीन भारत	५४
५. जैन और बौद्ध-धर्म	६५
६. भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास	७४
७. दर्शन	८६
८. मौर्य-सातवाहन-कुषाण युग	९६
९. गुप्त-युग का समाज, साहित्य और विज्ञान	११७
१०. वृहत्तर भारत	१२८
११. मध्यकालीन संस्कृति	१४०
✓ १२. इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव	१५३
१३. शासन प्रणाली	१६५
१४. भारतीय कला	१७७
१५. प्राचीन शिक्षा-पद्धति	२०३
१६. आधुनिक भारत	२१८
१७. भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ	२४१
पहला परिशिष्ट-संस्कृति विषयक संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल	२५३
दूसरा परिशिष्ट-प्राचीन भौगोलिक स्थानों के वर्तमान रूप	२५८
सहायक ग्रन्थ-सूची	२६२
अनुसूचिका	२६४

हाफ्टोन चित्र-सूची

१. शोधन की सुझाई से प्राप्त स्वर्णहार ।
२. अशोककालीन वृषभांकित स्तम्भशीर्ष (३ री श० ई० पू०) ।
३. अमरावती स्तूप का एक दृश्य ।
४. भारहुत में बुद्ध की उपासना का एक दृश्य ।
५. भारहुत स्तूप में उत्कीर्ण राजकुमार जेत के उद्यान को लरीदने का दृश्य (२ री श० ई० पू०) ।
६. महामाया का स्वप्न (२ री श० ई० पू०) ।
७. भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण थोली की मूर्ति (२ री० श० ई० पू०) ।
८. अलकावलि से मुशोभित पार्वती मस्तक, अहिन्लत्रा बरेली से प्राप्त, (१ वी० श० ई०) ।
९. चामर आहिनी वाली दीदारबंज, पटना ।
१०. भगवान् राम की कांस्य प्रतिमा (११ वीं श० ई०) ।
११. प्रजा पारमिता (१२ वीं श०) ।
१२. होयसलेश्वर (हालेबिद, मैसूर) के मन्दिर का बाहरी दृश्य ।
१३. दक्षिण में भारतीय संस्कृति के प्रसारक महर्षि अगस्त्य (चिदम्बरम्, १३ वीं श० ई०) ।
१४. सारनाथ की बुद्धमूर्ति ।
१५. राजराज चोल द्वारा तंजौर में बनवाया बृहदीश्वर का मन्दिर (१० वीं श० ई०) ।
१६. धारापुरी (एलिकैण्डा) की त्रिमूर्ति ।
१७. देववाड़ा (घाऊ) के जैन मन्दिर में संगमरमर की कारीगरी वाली छत (१०-११ ई०) ।
१८. बप्पे की दुलार कर्त्ती माँ (भुवनेश्वर, उड़ीसा, ११वीं श०)
१९. पञ्च लिखती हुई मारी (भुवनेश्वर, ११ वीं श०)
२०. लिंगराज (भुवनेश्वर) के मन्दिर ।
२१. कोणार्क (उड़ीसा) के रथ का विशालचक्र ।

लाइन ग्लास विषय-सूची

१. हड़प्पा के दो कब्रस्थ	पृ० १७६
२. मोहेंजोदड़ो की मुहरें	पृ० १७६
३. सांची का स्तूप	पृ० १८०
४. बराबर (जि० गया) में धरोक की बनवाई लोभश शक्ति की मुफा	पृ० १८२
५. अजन्ता का एक भित्तिचित्र	पृ० १८६
६. पद्मपाणि धवललोकितेश्वर	पृ० १८६
७. मामल्लपुरम् का एकाग्रम मन्दिर	पृ० १८२
८. भगीरथ की तपस्या	पृ० १८३
९. एलोरा का कैलाश मन्दिर	पृ० १८४
१०. खजुराहो के मन्दिर	पृ० १८५
११. मोहेंजोदड़ो की भर्तृकी	पृ० २०१
१२. नटराज शिव	पृ० २०२
१३. नालन्दा के प्राचीन अवशेष	पृ० २१४

विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति की महत्ता—भारतीय संस्कृति विश्व के इतिहास में बड़े दुर्लभों में विशेष महत्त्व रखती है। यह संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से है। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के बाद से यह मिस्र और मेसोपोटेमिया की सबसे पुरानी सभ्यताओं के समकालीन समझी जाने लगी है। प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी विशेषता घमरता है। चीनी संस्कृति के घातिरिक्त पुरानी दुनिया की अन्य सभी—मेसोपोटेमिया की सुमेरियन, असीरियन, बबिलोनियन और आखे प्रभृति तथा मिस्र, ईरान, यूनान और रोम की—संस्कृतियाँ काल के कारण काल में समा लूची हैं, कुछ स्वतन्त्रता हो उनकी गौरव-भाषा मानने के लिए बचे हैं; किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्ष तक काल के कुर धपड़ों को सहती हुई आज तक जीवित है। उसकी तीसरी विशेषता उसका जगद्गुरु होता है। उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने न केवल इस महाद्वीप-सरीले भारतवर्ष को सभ्यता का पाठ पढ़ाया अपितु भारत के बाहर भी बहुत बड़े हिस्से को जंगली जातियों को सभ्य बनाया, साइबेरिया से मिथन (धौलेका) तक और महासागर टांगू, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रजात महासागर के बोनियो, जाम्बो के द्वीपों तक के विशाल भू-भाग पर अपना अमित प्रभाव छोड़ा। सर्वोच्चता, विद्यापता, उदारता और सहिष्णुता की दृष्टि से अन्य संस्कृतियाँ उसकी समता नहीं कर सकती।

इस अनुपम और विलक्षण संस्कृति के उत्तराधिकारी होने के नाते इसका जयार्थ जान प्राप्त करना हमारा परम साधरण कर्तव्य है। इससे न केवल हमें उसके गुण, प्रसूत शोध भी, मालुम होंगे। यह भी ज्ञात होगा कि किन कारणों से उसका उल्लंघन और अपभ्रंश हुआ। इसमें तो कोई संन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति का प्रतीत मूल्यन उज्ज्वल था, किन्तु हमारा कर्तव्य है कि हम अधिक्य को भूल से भी अधिक उज्ज्वल और सौन्दर्यपूर्ण बनाने का प्रयास करें। यह सांस्कृतिक इतिहास के सम्मोह अध्ययन से ही सम्भव है।

किन्तु इससे पहले संस्कृति के स्वल्प तथा भारतीय संस्कृति की भौगोलिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सामान्य परिचय आवश्यक है।

सभ्यता और संस्कृति—संस्कृति का अन्वय है उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। सनुष स्वभावता प्रातिजीव प्राणी है। वह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की

प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-विचार, मनीषा अनुसंधान और आविष्कार, जिनसे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सम्भव बनता है, सम्पदा और संस्कृति का अंग हैं। सम्पदा (Civilization) से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की और संस्कृति (Culture) से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। प्रारम्भ में मनुष्य बीबी-पानी, मुट्ठी-पानी सब-कुछ सहता हुआ जंगलों में रहता था, धर्म-धर्म: उसने इन प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा के लिए पहले मुकाबों और फिर क्रमशः लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों की शरण ली, घबे वह लोहे और सीमेंट की गमल-बुम्बी श्रुतांतिकाओं का निर्माण करने लगा है। प्राचीन काल में मातापिता का साधन सिर्फ मानव के दो पैर ही थे, फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रथ और बहली का आश्रय लिया, जब वह मोटर और रेजिगाडी के द्वारा थोड़े समय में बहुत लम्बे फासों पर चलता है, हवाई जहाज द्वारा आकाश में भी उड़ने लगा है, स्मृतिचिह्नों, राकेटों, अंतरिक्ष-यानों द्वारा चन्द्रमा, शुक्र तथा मंगल ग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। पहले मनुष्य जंगल के कन्द, मूल और फल तथा साधित से अपना निर्वाह करता था। बाद में उसने पशु-पालन और कृषि के आविष्कार द्वारा आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सब कार्यों की शारीरिक शक्ति से करता था, पीछे उसने पशुओं की बालतु बनाकर और खड़ाकर उनकी शक्ति का हल, गाड़ी आदि में उपयोग करना सीखा। बाद में उसने हवा, पानी, वायु, बिजली आदि भौतिक शक्तियों को तथा रासायनिक शक्ति को जब से कार्य के ऐसे मशीनें बनाई जिनसे उसके भौतिक जीवन में काम-चलन हो गई। मनुष्य की यह सारी प्रगति सम्पदा कहलाती है।

संस्कृति का स्वरूप—मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता। वह भोजन से ही नहीं जीता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बादबूढ़ मन और आत्मा तो प्रसन्न हो बने रहते हैं। इन्हें संतुष्ट करने के लिए मनुष्य धर्मता को विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य को जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। धर्म-दर्श की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, विज्ञान और बालतु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। मुखपुर्वक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक 'सम्पद-कृति' संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

संस्कृति का निर्माण—किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। वह किसी विशेष व्यक्ति के पुस्तक के फल नहीं, अपितु धर्मरूप ज्ञान तथा अज्ञान व्यक्तियों के भगौरूप प्रयत्न का परिणाम होती है। सब

व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने वाली मूँगे की भीमकाम कृद्वानों से की जा सकती है। मूँगे के अंतर्गत कीड़े अपने छोटे कर बनाकर समाप्त हो गए, फिर नये कीड़ों ने कर बनाए, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी ध्वली मीठों ने भी वही किया, और यह कम हुआ। वर्षों तक निरन्तर चल रहा। आज उन सब मूँगों के नन्हे-नन्हे धरो ने परस्पर जुड़ते हुए विपन्न कृद्वानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उसके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, विधि, भाषा तथा कलाओं का विकास करते अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की भी इसी प्रकार रचना हुई है।

भारतीय संस्कृति में सम्मिश्रण—भारतीय संस्कृति को प्रायः केवल आर्यों की कृति समझा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी संस्कृति के निर्माण में प्रधान भाग अर्यों का था, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आज हमारे जो संस्कृति है वह आर्यों नहीं अपितु भारतीय है। इसमें आर्यों ने, उनके पूर्व यहाँ बसने वालों तथा उनके बाद यहाँ आने वाली सभी आर्योत्तर जातियों ने अपनी देन दी है। जिस प्रकार मिट्टी के अनेक स्तरों के जमाने से डेल्टा बनता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति बना जातियों की साधनाओं के परस्पर सम्मिश्रण से बनी है। मेजिटो, द्रान्यो, आर्य, द्रविड, ईरानी, यवन, शक, कुशाण, पल्लव, गुप्त, अरब, तुर्क, मुगल प्रभृति अनेक जातियों ने सांस्कृतिक यज्ञ में अपनी-अपनी धातु दी है। समरीक्षा और आस्ट्रेलिया में जिस प्रकार समुची-बी-नामूनी पुरानी संस्कृतियों और जातियों का उन्मूलन करके राष्ट्रीय एकता की प्रतिष्ठा की गई, ऐसा यहाँ कभी नहीं हुआ। यहाँ किसी जाति ने दूसरी जाति के उन्मूलन की बात नहीं सोची। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है, वह आर्य और आर्योत्तर बहुविध जातियों की साधनाओं के सम्मिश्रण का फल है। वर्तमान काल का प्रत्येक विचार, विज्ञान और सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्न विभिन्न तरकों से मिलकर बने हैं। प्रयागराज की त्रिवेणी में तीन धाराओं का संगम होता है, किन्तु भारतीय संस्कृति अनेक पुनीत धाराओं के समागम से बनी है।

सम्मिश्रण का कारण सहिष्णुता—इस प्रकार का सम्मिश्रण बहुत कम देशों में हुआ है। इस सम्मिश्रण का प्रधान कारण आर्यों की सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। प्रायः विजेता असहिष्णु होते हैं, वे विजितों पर अपना धर्म, आचार-विचार, विश्वास बलदेरता थोपना चाहते हैं। यूरोप ने कई सदियों तक न केवल विभिन्न जातियों अपितु ईसाइयों में भी अपने से प्रतिजुत मत रखने वालों का क्रूरता-पूर्ण दमन करने तथा रक्त की नदियाँ बहाने के बाद धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ा है। किन्तु भारत में आर्यों ने जलज्वर के समय से यह सिद्धांत मान लिया था—एक ही भगवान् की ओग नाना नामों से पुकारते हैं (एक सदिशा बहुधा वदन्ति)। सबको अपने दम से पूजा

करने, धार्मिक विश्वास रखने तथा उसके अनुसार जीवन बिताने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समूचे भारतीय इतिहास में यह प्रवृत्ति प्रबल रही है। इसी कारण भारतीयों ने बाहर से आने वालों को विदेशी नहीं समझा, उनमें धृणा नहीं की, उनकी रीति-रिवाज और आचार-विचार का विरोध नहीं किया। उनका धर्म, भाषा और रहन-सहन भले ही भिन्न हो, भारतीयों ने उसे स्वीकार किया। भारत में यहूदी, पारसी, मुगल-मान, ईसाई धर्मों को आश्रय दिया। सहिष्णुता के कारण धर्म, द्रविड़, संगीत, शक, ईरानी, तुर्क आदि जातियों का सुगमतापूर्वक सम्मिश्रण हुआ। वही जो जातियाँ आई, सहिष्णुता और उदारता से उन्हें अपना बना लिया गया। इस्लाम हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था। किन्तु कुछ ही सदियों में मुसलमान विदेशी नहीं रहे और भारतीय बन गये। यमूनर सुबहो को इस बात का गर्व था कि वह हिन्दुस्तानी है। उसका कहना था—'यद्यपि मेरा जन्म तुर्क-कुल में हुआ है तथापि मैं भारतीय हूँ। मैं सिंध से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता, मैं अरब को बात नहीं करता, मेरा सितार भारतीय भावों के गीत-गाता है।'

सम्मिश्रण के परिणाम—इस सम्मिश्रण ने भारतीय दृष्टिकोण अधिक विस्तार बना, विचार में उदारता और व्यवहार में सहिष्णुता आई। समूचे देश में एक ऐसी महरी मौलिक एकता उत्पन्न हुई जो इस आकार के अन्य प्रदेशों में नहीं पाई जाती। यूरोप में यदि कस को निकाल दिया जाये तो शेष प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग भारत के लगभग है। लेकिन यूरोप में वैसी महरी मौलिक एकता नहीं दिखाई देती जैसी भारत में दृष्टिगोचर होती है।

भारतवर्ष की विविधता तथा मौलिक एकता—बाना जातियों के सम्पर्क से समृद्ध भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने सब प्रकार की विविधताओं से परिपूर्ण इस देश में मौलिक एकता स्थापित की है। भारतीय दर्शन का उच्चतम आदर्श बहुत्व में एकत्व ढूँढ़ना रहा है और इस देश की संस्कृति ने उसे चिन्तात्मक रूप में खोज निकाला है। भौगोलिक दृष्टि से भारत प्रधान रूप से चार भागों में बाँटा जाता है : (१) हिमाचल, उत्तर पूर्वी और उत्तर पश्चिमी सीमा के पर्वत, (२) सिन्धु और गंगा का उत्तर भारतीय मैदान, (३) विन्ध्य-मेगाला (४) दक्षिण। इनमें सब प्रकार की विविधता है। कहीं ऊँचे पहाड़ हैं और कहीं सपाट मैदान, कहीं शस्परवामन प्रदेश हैं और कहीं निर्बल मरुभूमियाँ, आर्द्रतम और शुष्कतम, ठण्डे से ठण्डा और गर्म-से-गर्म सभी प्रकार का जलवायु, बाना प्रकार के वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी यहाँ मिलते हैं।

इसमें रहने वाले लोगों की नस्ल, बोलियाँ, धर्म, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान एक नहीं हैं। भारत को इन सबका आजापजपर कहा जाय तो सामय प्रत्युक्ति न होगी। भारत में कई विभिन्न नस्लें हैं : जैसे (१) आर्य, (२) द्रविड़, (३) किरात (तिब्बत-बर्मो), (४) मुण्डा (कोल-भील)। दूसरे आयाम में इनका विस्तृत वर्णन होगा। इनके सम्मिश्रण से बीसियों संकर नस्लें पैदा हुईं। हिन्दू समाज जात-पात में

विभक्त है और जातियों की संख्या लगभग २,००० है। यही वैविध्य भाषाओं में है। श्री प्रियर्सन के मतानुसार भारत की विभिन्न भाषाओं तथा बीतियों की संख्या कमया १७६ और ५४४ है। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी, ईसाई, बहोई आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। विविध जातिवासियों के बेश-भूषा, रहन-सहन, आन-पान में कोई समता नहीं। बंगाली, बिहारी, पंजाबी, उडिया, मराठे, गुजराती, तामिल, तेलुगु, कन्नड़ और केरल सभी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

भौतिक एकता—किन्तु यह विविधता बाह्य है। वास्तव में इसकी तह में एक भौतिक एकता है, जो हमारे देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का परिणाम है। उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-श्राला तथा दक्षिण में समुद्र ने गारे भारत में एक विशेष प्रकार की ऋतु-पद्धति बना दी है। "यहाँ की ऋतु में जो कारण बाधन बनकर उठती है वह हिमालय की ओर बढ़ती है। बादल हिमालय की म्नी लोंग पाते, वे या तो बरस जाते हैं या हिमालय की षीटियों पर बर्फ के रूप में जम जाते हैं, यमियों में पिघलकर नदियों की धाराएँ बनकर, बाय समुद्र में बहे जाते हैं। सनातन काल में समुद्र और हिमालय में एक दूसरे पर पानी फेंकने का खेल चल रहा है। इससे बरसात होती है, नदियाँ में पानी धाता है, विभिन्न कम के अनुसार ऋतुएँ धाती हैं और यह ऋतु-चक्र समूचे देश में एक-सा है।" भारत में अनेक बीतियाँ तथा भाषाएँ हैं, किन्तु अधिकांश प्रधान भाषाओं की वर्णमाला एक है। भारत में अनेक मस्ते हैं, किन्तु पुल-मिलकर एक प्रदेश में समान भौगोलिक परिस्थिति में रहते, एक भूमि के बल-जल से पोषण पाते हूँ उनमें काफी एकता उत्पन्न हो गई है। उस पर भारतीयता की अमिट छान अमिट हो गई है। भारत की एक देश स्वीकार न करने वालों की भी यह भौतिक एकता स्वीकार करनी ही पड़ती है। सर हर्बर्ट स्पेन्सी के शब्दों में—"भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में, भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दिखाई देती है, उसकी तह में, हिमालय से कम्मा-कुमारी तक एक भौतिक एकता है।"

सांस्कृतिक एकता—यह एकता प्रधानतः संस्कृति के प्रकार में प्राबुध्त्त हुई और प्राचीन काल से उसे समूचे देश की विभिन्न जातियों की एक सूत्र में गिराने में सफलता मिली है। पंजाबी, बंगाली और मराठी साकार, रूप-रंग, भाषा आदि में सब प्रकार से भिन्न हैं, किन्तु धान्तरिक रूप में एक हैं। वे एक ही हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एक-ते हैं। वे समान रूप से वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, गीता, रामायण और महान्यास, पुराण और शास्त्रों की प्रतिष्ठा करते हैं। मौ, संसा, सायरी सर्वत्र पवित्र मानी जाती हैं। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पुराण-प्रतिपादित देवी-देवताओं की सभी पूजा करते हैं। सारे देश में हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ फैले हुए हैं। चारों दिशाओं के चार धाम—उत्तर में बड़ी-नाम, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ पुरी और पश्चिम में डारिका, भारत की सांस्कृतिक एकता और अखण्डता के पुष्ट प्रमाण हैं। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र

पुरखों, समोन्मा, मयुरा, माया, वासी, कांची और वामनो आदि देश में मिलती हुई है। प्राचीन काल से हिन्दु, गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी को पूज्य मानते आए हैं। समूचे देश का सामाजिक संरचना 'वर्णव्यवस्था' है, यह व्यवस्था वैदिक संस्कार और अनुष्ठान द्वारा मिली है, सर्वत्र जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था का विकास समाज रूप से माना जाता है। आदि भारत में सामाज्य और महा-भारत की कथाएँ बड़े पात्रों से सुनी जाती हैं। पुराने जमाने में समूचे देश के विद्वत् समाज को एक सूत्र में पिरोते वह काल पहली संस्कृत ने और फिर प्राकृत ने लिया, तद्विषय में यह कार्य हिन्दी से पूरा होता है।

एकता के कारण—प्राचीन काल में सामाज्य की अविच्छेद्यता बहुत अधिक थी। विभिन्न प्रांत उत्तुंग पर्वतों, गहरी नदियों, बड़े जंगलों, बौद्ध रेगिस्तानों द्वारा एक दूसरे से पृथक् थे। फिर भी उनमें उपर्युक्त सांस्कृतिक एकता जलाने करने में दो कारणों ने मुख्य भाग लिया, इनमें पहला है—ऋषि-मुनि, तन्त्र, तीर्थ-यात्रा और विद्यार्थी, तथा दूसरा है वैदिक-विशेषता।

ऋषि-मुनि—प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों ने सबकुछ तटस्थ उठाते हुए दक्षिण भारत में अपने लोकोपकार और राज्य स्थापित किए। अगस्त्य आदि महापुरुषों ने इनमें दक्षिण की अन्तर्गत जातियों की सर्व सम्मता का पाठ पढ़ाया। सब प्रांतों में धर्मस्थित लोगों को साक्षात् करने वाले व्यक्तियों ने सांस्कृतिक एकता को बढ़ाया। कन्या-कुमारी ने मित्रों की प्रसिद्धी को प्रकाशित करने के लिए हरिद्वार आने वाले दक्षिण भारतवासियों और गंगा का जल समस्तभूमि के मन्दिर में बसाने वाले उत्तर भारत वालों के पारस्परिक सम्बन्धों से एकता का गुण्ट होना स्वाभाविक ही था। संस्कृत के विद्वानों और धर्म-सुधारकों ने भी इस प्रवृत्ति में सहयोग दिया। केरल के श्री धर्मराचार्य ने हिमालय तक अपना प्रचार किया, महाभूमि चैतन्य ने बंगाल से कृदावन तक समूचे भारत की कृष्ण-भक्ति की पवित्र प्रवृत्ति को साक्षात्कृत किया। पुराने जमाने में बड़े विश्वविद्यालय तीर्थ-यात्राओं और राजधानियों में होते थे। तत्कालीन, बभारत, नालन्दा और उज्जयिनी इसी प्रकार के विद्याकेन्द्र थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में विद्यार्थी इन स्वातंत्र्य पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन्होंने भी एक संस्कृति के विकास में सहायता दी। ऋषि-मुनि, माधु-मन्त्र इन दिनों विभिन्न प्रांतों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए, सामाज्य जलता के दिविध संघों को धान्तिपूर्ण एकता के सूत्र में पिरो रहे थे।

विजयता—जिन्हु इस कार्य को बल-शुर्बक करने वाले महत्वाकांक्षी और साहसी राजा थे। प्राचीन काल से राजाओं की इच्छा विभिन्न करके चक्रवर्ती सम्राट बनने की रहती थी। प्रतापी राजा दूसरे राज्यों को जीतकर एकजट सम्राट, सार्वभौम और राजाधिराज आदि उपाधियाँ धारण करते थे। कौटिल्य के कथनानुसार चक्रवर्ती का साम्राज्य हिमालय से समुद्र तक फैला होना चाहिए। इसी प्रकार के चक्रवर्ती राज्यों से विमान भूराज्य एक शासन-सूत्र के नीचे आ जाते और शासन-

संस्कृतिक एकता के प्रसार में महाकाय करती थी। चन्द्रगुप्त, अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय राजनीतिक एकता में इस प्रवृत्ति को पुष्ट किया।

सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास—प्राचीन और मध्य युग में राजनीतिक एकता बहुत बौढ़े काल तक रही। तीसरी शती ई० पू० में अशोक तथा चौथी शती ई० में समुद्रगुप्त के समय भारत कुछ काल के लिए एक-छत्र शासन के नीचे रहा, मध्य युग में घनाजदीन (१२६५-१३१४ ई०) और औरंगजेब (१६५६-१७०७ ई०) ने समूचे भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक किया। बीच-बीचे समय गढ़ी छोटे-छोटे राजा राज्य करते रहे। किन्तु, राजनीतिक एकता के न रहते हुए भी सारे समय में सांस्कृतिक एकता बनी रही। भारत का राजनीतिक इतिहास विभिन्न राज्यों के उदय-व्यथन, एक-यात-पूर्ण युद्धों और संघर्षों की लम्बी कहानी है। किन्तु सांस्कृतिक इतिहास हमारी जाति द्वारा धर्म, दर्शन, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गई महत्त्वपूर्ण प्रगति की मनोरंजक कथा है। राजनीतिक इतिहास के तानक-तार-संहार और मार-काट करने वाले राजा और सेनानी हैं, किन्तु सांस्कृतिक इतिहास के निर्माता समाज की शान्ति और प्रेम का संदेश देने वाले महात्मा बुद्ध और महावीर, रामानन्द और कबीर जैसे साधु-जनों, संन्यासियों जैसे दार्शनिक, जगिदास, गुरु, तुलसी जैसे अमर महाकवि हैं।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास राजनीतिक इतिहास के आधार पर प्रधान रूप से निम्न युगों में बाँटा जाता है :—

प्रागैतिहासिक युग—भारत में मानव के आदिमों ने वैदिक युग तक के काल को प्रागैतिहासिक कहा जाता है। इस काल पर प्रकाश डालने वाली कोई लिखित सामग्री या धन नहीं है। यह भारतीय सभ्यता का उपा काल है, इसके ज्ञान का एकमात्र साधन इस युग के मानव द्वारा छोड़े औजार-हथियार तथा अन्य वस्तुएँ हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उसने खने-खाने, किस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रयोग से नये आविष्कार किये, अपनी ज़रों और की परिस्थिति पर विचार पानी शुरू की, अपनी आजीविका प्राप्त करने तथा रक्षा की दृष्टि से उसने विविध उपायों से औजार और हथियार बनाये। इस दृष्टि से आदिम मानव की प्रगति की बार-बार-स्थापों में बाँटा जा सकता है : पहली अवस्था में वह पत्थर के हथियारों का प्रयोग करता था। इसके बाद उसने पहले लोहे और फिर लोहे के हथियार बनाने शुरू किये। अंत में लोहे के हथियारों का निर्माण और व्यवहार होने लगा। इन चार युगों को क्रमशः पथ्य, लौह, लौह और लौह युग कहते हैं। पथ्य-युग की दो बड़े आविष्कारों में बाँटा जाता है—पुरातनकाल और नवतनकाल। पुरातनकाल मानव-सभ्यता की पहली दशा थी, इसमें वह सामान्य ज़रों को हथियारों या औजारों के रूप में बदलता था। इस समय उसका साधारण चन्द्र-मूल, जटनी-फल और विहार से प्राप्त सामग्री थी, उसे कृषि का ज्ञान नहीं था। पुरातनकाल के अनेक अवशेष, बिनोरी पत्थर के बहुत-से हथियार नर्मदा, सोदावरी की घाटियों में तथा पवित्र के पठार में पाए गए

है। छप्पेमान टायु में नेग्रिटो जाति सभी तक इस अवस्था में रहती है। पाषाण-युग की दूसरी दशा नवग्राम काल की। यह उस समय प्रारम्भ हुई जब मनुष्य ने पत्थर को चिस्कर धारदार और चिकने इधमार बनाते शुरु किए। इसी समय कुपि, मिट्टी के बर्तन बनाने तथा पशु पालने की कलाओं का आविष्कार हुआ। भारत में इस युग का भीमशंख करने वाले वर्तमान संघाल आदि जातियों के पूर्वज थे। तबारास काल के बाद ताक-युग का आविर्भाव हुआ। भारत में इस युग के सबसे अधिक अवशेष मध्यप्रान्त में मिले हैं। कानपुर, फतेहगढ़, मथुरा, मैसपुरी से भी कुछ उपकरण मिले हैं। इसके बाद कर्मि का भुग पाया, घात से पीछे हटकर कई पूर्व सिन्ध और पंजाब में इसकी अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस सभ्यता के सबसे अधिक अवशेष मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं।

प्रागैतिहासिक युग में भारत में विविध जातियों के समागम से भारतीय संस्कृति का सूत्रपात हुआ और वह विभिन्न नस्लों से घनेक घन ग्रहण करके समृद्ध हुई। आज जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है, वह यद्यपि आर्यों की कृति है किन्तु उसमें आर्योत्तर जातियों का अंश कम नहीं है। इसका ताना धागें हैं, परन्तु बनाव आर्योत्तर। अपने आरम्भिक काल में इसने बहुत-से महत्त्वपूर्ण तत्त्व संघाल आदि जातियों के मूल पूर्वज निपादो या आग्नेयो (Proto Austroloid) में तथा भूमध्य-सागरीय (इरिड) नस्लों से ग्रहण किए हैं। पान, कपास व ईंध की खेती, केला, नारियल, नींबू आदि फलों का तथा कुम्हड़ा, बैंगन आदि शाक-भाजियों का उत्पादन, सामाजिक जीवन में पान-मुषारी का व्यवहार, धार्मिक कर्म-काण्ड में निन्दुर-हन्दी आदि का प्रयोग, भावी जीवन और पुनर्जन्म के विचार, मृग आदि नदियों तथा तीर्थों की पूजा और उनमें अस्थि-प्रवाह, तिग-पूजा, हाथी को पालतू बनाना, मृतों वस्त्रों का बुनना, बीस (कोड़ी) के आधार पर गणना, धानेय जाति की डेल हैं। प्रतिमा-पूजन, मातृ-आर्षा की उपासना, उमा, विष्णु, शंखेश, हनुमान, स्कन्द आदि देवताओं की पूजा इरिड प्रभाव का परिणाम है। अपने मूल में ही भारतीय संस्कृति प्रधान रूप से धानेय (निपाद), इरिड और आर्य संस्कृतियों की विशेषों के संगम से समृद्ध हुई है।

वैदिक युग (६०० ई० पू० तक) — इस युग में आर्यों ने भारत के सभी भागों में अपने संस्कृति का प्रसार किया। आर्योत्तर जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। इस काल में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, धारण्यको और उपनिषदों की रचना हुई। यह युग दो उपविभागों में बँटा है—पूर्व वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग। भारतीय संस्कृति की दृष्टि में उत्तर वैदिक युग सबसे अधिक महत्त्व रखता है, इसी काल में प्रधान हिन्दु-संस्थाओं तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक आर्यों की विशेष देने सहितगता और सामंजस्य की भावना, जाति-विज्ञान का विकास, उपोवन-पद्धति, वर्णाश्रम-व्यवस्था और नारियों की प्रतिष्ठा थी।

महाजनपद या प्राक् मौर्य युग (६००-३६६ ई० पू०) — भारतवर्षे राजनैतिक

दृष्टि से उस समय १६ बड़े राज्यों (महाजनपदों) में बँटा हुआ था, इसे महाजनपद युग कहा जाता है। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है छठी शती ई० पू० में जैन धर्म के और बौद्ध धर्म के प्रचलन भगवान् महावीर और बुद्ध का आविर्भाव। इनो समय समय के राजाओं ने साम्राज्य-निर्माण प्रारम्भ किया। इस युग की प्रधान विशेषताएँ बौद्ध तथा भूष-साहित्य और वैशाली का निर्माण, भारतीय दर्शन और धार्मिक का जन्म है। इस समय नाटक-कला का भी श्रीमण्डल हो चुका था। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने अनेक प्रकार से भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया। भगवान् बुद्ध के अनुयायियों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने परवर्ती युगों में भारतीय वास्तु, मूर्ति एवं चित्र-कला के विकास में बड़ा भाग लिया, उनके द्वारा बनवाए गए सौची, भारहुत और क्षमरावती के स्तूप, अशोक के शिला-स्तम्भ, अजन्ता के भित्ति-चित्र भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में से हैं। मूर्ति-पूजा का प्रसार, सध-व्यवस्था बौद्धिक स्वतन्त्रता, उच्च नैतिक धारणा, लोक-साहित्य का विकास तथा विदेशों में—विशेषतया मध्य एशिया, चीन, जापान में—भारतीय संस्कृति का प्रसार उनकी उल्लेखनीय वस्तुएँ हैं। जैनों ने भारतीय संस्कृति में अहिंसा को परम धर्म बनाया, अपने तीर्थंकरों की स्मृति में बनाए गए स्तूपों, मूर्तियों तथा तीरथों में भारतीय कला को समृद्ध किया। सर्वमान्य लोक-भाषाओं को विकसित एवं समृद्ध बनाने का बहुत बड़ा श्रेय जैनों को है।

मगध मौर्य युग (३६६-२२१ ई० पू०)—यह अक्षिपशाही साम्राज्यों का युग था। इसमें मगध में पहले नन्दी और फिर मौर्यों का प्रतापी साम्राज्य स्थापित हुआ। ३२७ ई० पू० में सिकन्दर ने भारतवर्ष पर हमला किया। पंजाब के मगध राज्यों डिटकर उसका मुकाबला किया। उसकी सेना हिम्मत हार बैठी और विजय-विजय को व्याप्त नदी के तट से वापस लौटना पड़ा। उसके जाने के बाद मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५-२०० ई० पू०) ने मौर्यवंश स्थापित किया। इसके समय में सिकन्दर के सेनापति सेन्धुकस ने भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर हिन्दूकुश पर्वत तक अपनी राज्य-भत्ता स्थापित की। उसके उत्तराधिकारियों में अशोक (२७४-२३२ ई० पू०) उल्लेखनीय है। वह भारत का सबसे बड़ा सम्राट् था, धार्मिक समान के इतिहास में भी उससे महत्वपूर्ण शासक कोई नहीं हुआ। वह दुनियाँ उस-इने-सिने राजाओं में से है, जिन्होंने राज्य-शक्ति का उपयोग वैयक्तिक महत्त्व कांक्षाओं की पूर्ति में नहीं किया, बल्कि बतने के लिए दून की मूर्तियाँ नहीं बड़ाई, ईश्वर के समक्ष के जोर पर नहीं जीते; किन्तु विश्व-प्रेम, प्राणि-मान के प्रति तथा धर्म अनुकम्पा के प्रसार से निरासे उन में उसने धर्म-विजय की। इसके समय में धर्म का विदेशों में प्रचार होने लगा। मौर्य काल से भारतीय कलाओं का गूढ़ना इतिहास मिलने लगता है। इस युग की सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति कीर्ति का 'धर्म-शास्त्र' है।

सातवाहन युग (२१० ई० पू०—१७६ ई० पू०)—मौर्य-वंश के बाद में

में कोई ऐसा शक्तिशाली राज-वंश नहीं हुआ, जो भारत के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में रख सकता। इसके बाद कमला गुप्त (लगभग १८५ ई० पू०—३२ ई० पू०), काण्व (३२ ई० पू०—२३ ई० पू०) और सातवाहन (१०० ई० पू०—२२५ ई० पू०) राज-वंशों ने शासन किया। इनमें से अन्तिम वंश सबसे प्रतापी और दीर्घ काल तक शासन करने वाला था, यतः उसी के नाम से इस युग को सातवाहन युग कहा जाता है। इस काल में भारत पर यूनानियों, अरबों और कुषाणों के हमले हुए। कुषाणों का सबसे प्रसिद्ध राजा-कनिष्क (३८-१०० ई०) था, हमने बौद्ध धर्म स्वीकार करने इसीको को भोजि उसके प्रसार का यत्न किया। सांस्कृतिक रूप से यह काल कई दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसी युग में भारतीयों ने बड़ी संख्या में बाहर जाकर विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके वृहत्तर भारत का निर्माण प्रारम्भ किया। अम्बोडिया और कम्पा (अनाम) में हिन्दू राज्य स्थापित हुए। चीन के साथ सातवाहन का सम्बन्ध हुआ, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति फैली, रोम के साथ भारत का व्यापार बृद्ध हुआ। भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म तथा महाभारत का उत्कर्ष हुआ, व्यापक रूप से मूर्ति एवं लिंग-पूजा प्रचल गई। महाभाष्य और मनुस्मृति इसी युग की रचनाएँ हैं। भाष्य एवं भाष्यपूर्ण इस युग के श्रेष्ठ नाटककार एवं कवि हैं। भरत, सुभूत, जैमिनी, कणाद, नौतम और बादरामण इसी युग में हुए। प्राकृत साहित्य का उत्थान भी इसी युग में हुआ। मूर्ति-कला में यूनानी एवं भारतीय शैली के समागम से शास्वार शैली का जन्म हुआ।

नाग-वाकाटक-गुप्त साम्राज्य (१७६ ई०—५४० ई०)—दूसरी शती के अन्त कान्तिपुरी (अन्तिम वि० मिर्जापुर) के नाम वंश ने गंगा-यमुना-प्रदेश को कुषाणों से आजाद में मुक्त किया। तीसरी शती के मध्य में सागों की शक्ति उनके सामन्त हर्षवर्मा (२४८ ई०—२८४ ई०) के पास चली गई, उनके बेटे प्रवर्तेन के समय २८४—३४५ ई०) वाकाटक-साम्राज्य उन्नति के दिग्दर्श पर पहुँच गया। चौथी ० ई० के पूर्वार्द्ध में गणप में गुप्त वंश स्थापित हुआ। इनके प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ३४४—३८० ई०) ने अपने रज-सीसन में वाकाटक-साम्राज्य का अन्त किया, रत्त के बड़े भाग को विजित करके प्रथम-पञ्च किया। न केवल भारत के किन्तु तुल के कुषाण वंशों तथा सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने उसे अपना अधिपति स्वीकार किया। इसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय विजयनाथि में साम्राज्य अधिक शक्तिशाली बनाया। कुमारगुप्त प्रथम ने ४० वर्ष (४१५—४५५ ई०) तक सग किया। पाँचवीं शती के मध्य में भारत पर हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए। बाद चन्द्रगुप्त (४५५-४६३ ई०) ने गुप्तों की 'अमरावती राज्य-संरक्ष' को स्थिर रा, लेकिन छठी शती के शुरू में हूणों के जो जबरदस्त आक्रमण हुए, उनमें गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया।

गुप्त युग भारतीय संस्कृति और कला का स्वर्ण-युग कहलाता है। उस समय में वैसी शान्ति और समृद्धि थी, वैसी न तो पहले किसी युग में हुई थी और

न माने कभी हुई। उस समय भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृति के उत्कर्ष-प्रसन्न-वर्ष का पहुँचा। व्यापार की समुद्र-पूर्व उन्नति हुई। विदेशों में भारतीय राज्यों तथा संस्कृति का प्रसारण विस्तार हुआ। सुदूर पूर्व (East Indies) में भारतीय राज्य बोनियों के पूर्वी ओर तक पहुँच गए। सभी, मलय, स्वाम, हिन्द चीन, जावा, मलय एशिया तथा चीन में हिन्दू और बौद्ध धर्मों का प्रचार हुआ। इस धर्म के लिए कुम्हारवीर और मृगधर्म जैसे बोनियों प्रकाशक भारत से बाहर गए और चीन में फाहियान जैसे धर्मिक खजानु चीनसे अपनी धर्म-विशाला प्राप्त करने तथा तीर्थ-यात्रा के लिए भारत आने लगे। भारत में बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों का उत्कर्ष-विकास हुआ। इस युग की मूर्ति एवं विषय-कला परवर्ती युगों के कलाकारों के लिए आदर्श का काम करती रही। धर्मशास्त्र के लिए इस काल के हैं। भारतीय उस समय ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में धर्म-मय-समय कालियों में आगे बढ़ गए। नौ शकों तथा गुप्त द्वारा अश्वमेधन की दशगुणोत्तर पद्धति पहिले-पहिले चीनी राजा ई० में भारतीयों ने निकाली और दुनिया के सब देशों में उसे यहाँ से भेजा। धर्म-मय ने मुख्य-कारण और मृग के चारों ओर पृथ्वी के धर्मों के सिद्धान्त स्थापित किये। इस युग की वैज्ञानिक उन्नति का अत्यन्त प्रमाण कुम्हारवीर के पास अपनी लोहे की चीनी है। बड़े हथार धर्म की बरसाते भेजने के बाद भी इस पर जंग का कोई असर नहीं हुआ। संस्कृत-साहित्य के सबसे बड़े कवि कालिदास को अधिकार्य विद्वान् इसी युग का मानते हैं। मानन्दा के जगत्-प्रसिद्ध विद्यापीठ की स्थापना भी इसी काल में हुई। इस समय भारत में ज्ञान की जो ज्योति प्रकट हुई, वह एक हजार वर्ष तक संसार को अपने आलोक से प्रकाशित करती रही।

मध्य युग (१४०-१५२६ ई०)—गुप्त युग में भारतीय संस्कृति अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु तक पहुँच चुकी थी, अब उसका धनकर्म शुरू हुआ। पहले एक हजार वर्ष तक यह प्रक्रिया जारी रही। इस काल की दो बड़े उपनिषदों में बाँटा जाता है—पूर्व मध्य युग (५४०-११६० ई०) तथा उत्तर मध्य युग (११६०-१५२६ ई०)। पूर्व मध्य युग में नारी शासन-मत्ता हिन्दुधर्म के शास में भी और उत्तर मध्य युग में दिल्ली पर मुस्लिम शासन स्थापित हो गया। पूर्व मध्य युग में भारत के विभिन्न प्रदेशों पर चर्यन, चानूचय, पाल, गेल, गुर्जर, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार, चौहान, पाण्ड्याण, महलोन, पल्लव, पाण्ड्य, चोल आदि राज-वंश राज्य स्थापित करते रहे।

१६वीं शती के आरंभ में तुर्कों ने उत्तर भारत जीता, दिल्ली पर कम में दाम (१२०६-१२६० ई०), बिलजी (१२६०-१३२० ई०), तुगलक (१३२०-१४१२ ई०), सय्यद (१४१६-१४५० ई०), लोदी (१४५०-१५२६ ई०) लोगों ने शासन किया। किन्तु राजपूताना और दक्षिण भारत में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य बने रहे। १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में विजयनगर साम्राज्य का उदय हुआ। यद्यपि इस समय भारत की सांस्कृतिक उन्नति गुप्त-युग की भाँति नहीं हुई थी, फिर भी राजाओं के प्रोत्साहन से आस्तु एवं मिला की प्रदुभूत कला-कृतियाँ—एलोरा और देवगढ़ (धार्मिक) के मन्दिर—

इसी समय में तैयार हुई। हिन्दू धर्म के महान् आचार्य कुमारिल, शंकर और रामानुज इसी समय हुए। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति इसी युग की विभूति हैं। दर्शन में चर्मकीर्ति, शान्तरहित और शंकर के अन्य भारतीय विचार की ऊँची उड़ान की सूचित करते हैं। बृहत्तर भारत के कम्बुज, चम्पा, श्रीविजय (जावा-सुमात्रा) के राज्यों में भारतीय संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई। इसी समय बोरोबुद्धर (८वीं शती), शंकोर वाट (१२वीं शती) के जगत्-प्रसिद्ध मन्दिर बने, किन्तु पूर्व मध्य युग के उत्तरार्द्ध में सभी क्षेत्रों में उन्नति के प्रवाह में मन्दता आने लगी। उत्तर मध्य युग में इसके परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भारतीय उपनिवेशों का अन्त हो जाता है, जात-यात के बन्धन कटोर होने लगते हैं। दर्शन में नया और स्वतन्त्र विचार अन्त हो जाता है। प्रकाण्ड पण्डित भी पुराने ग्रंथों की टीकाओं और भाष्यों में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगते हैं। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में नई उन्नति बन्द हो जाती है।

मुगल-मराठा युग (१५२६-१७६१ ई०)—इस युग में १५२६ ई० से १७२० ई० तक मुगल भारत की प्रधान राजनैतिक शक्ति थे और इसके बाद उसका स्थान मराठों ने ले लिया। इस समय इस्लाम और हिन्दू-धर्म का पारस्परिक सम्पर्क हुआ, भक्ति पर बल देने वाले और जाति-भेद का लक्षण करने वाले अनेक धर्म-मुधारक सन्त हुए। मुस्लिम प्रभाव से वास्तु, चित्र, संगीत आदि कलाएँ बड़ी समृद्ध हुईं। प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति तथा उत्पत्ति इसी युग में हुई। यदि मुगलमान बंगाल की विजय न करते तो बंगला इतनी शीघ्र साहित्यिक भाषा नहीं बनती, राज-दरबार में संस्कृत का ही बोल-बाला रहता। मुर और तुलसी, रहीम और रसखान ने इस काल में हिन्दी-साहित्य की वीरुद्धि की। मराठी में पद्य के अतिरिक्त शिवाजी के काल से राज्य-कार्य के लिए गद्य का विकास हुआ। मुगलों ने यूरोपीय रण-कला, वाक्पद, बन्दूक और तोपों का प्रयोग तुर्की से सीखा और उसका भारत में प्रसार किया, वे भारत में कामगज बनाने की कला लाये। बुद्ध-विद्या, सैनिक-व्यवस्था और किनेबन्दी भी इस समय विशेष उन्नति हुई। उत्तर भारत की बेश-भूषा, रहन-सहन, खान-वान पर पर्याप्त मुस्लिम प्रभाव पड़ा। हिन्दी, बंगला, मराठी में संकटों फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों की वृद्धि हुई।

इस युग में भारतीय शिल्पियों ने अपनी पुरानी विषयविक्रमात् योग्यता बनाये रखी, "मुरत के कारीगरों द्वारा तैयार जहाज यूरोपियन खरीदने थे, मीर कासिम के कारखाने में बनी बन्दूकें अंग्रेजों बन्दूकों से अधिक उत्तम थीं", किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस समय की सबसे बड़ी विशेषता जिज्ञासा तथा जागृति का अभाव था। भारतीय शिल्पी जहाँ तक पहुँच चुके थे, उससे आगे बढ़ने की इच्छा उनमें नहीं रही। समर-कला में यूरोपियन उन्नति कर रहे थे, किन्तु उस समय किसी भारतीय ने उनसे इस विज्ञान की सीखने की उत्कण्ठा या अभिलाषा नहीं दिखाई। १७-१८वीं शती का पुनरुत्थान महाराष्ट्र, पंजाब और कुन्देलखण्ड में केवल राजनैतिक क्षेत्र में हुआ।

सांस्कृतिक क्षेत्र में हम गहरी मोह-निद्रा में पड़ गए, हमारे ज्ञान-नेत्र बन्द हो गए, हम पाल मुँदकर पुरानी जीक पर चबलते रहे। चारों ओर की दुनिया और उसकी उन्नति की ओर से बिलकुल गतकों नहीं रहे। भारत के संघर्षों के अधीन होने का एक बड़ा कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन की मन्दता थी।

ब्रिटिश युग—१८वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई और १९४७ तक भारत संघर्षों के अधीन रहा। राजनैतिक दृष्टि से तरतन्त्र होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का असाधारण महत्त्व है। ब्रिटिश सम्पर्क से भारत का बाहरी दुनिया विशेषतः पश्चिमी जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ, समूचे देश में एक शासन-व्यवस्था, तथा समान शिक्षा-व्यवस्था प्रचलित होने से राष्ट्रीयता व एकता की भावना उत्पन्न हुई, पश्चिमी विचार-धारा और ज्ञान से परिचित होने पर धर्म एवं समाज-सुधार और देशों-द्वारा के आन्दोलन प्रबल हुए। इस समय भारत ने कई बातों की कुम्भकनी मोह-निद्रा का परित्याग किया। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक और सांख्यिक क्षेत्रों में असाधारण जागरण और उन्नति हुई। जहाँ भारत में एक नई जाकना और नई चेतना का उदय हुआ, भारत ने मध्य युग से आधुनिक युग में प्रवेश किया। १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारे देश में आधुनिक युग के परिवर्तन अधिक तीव्र गति के साथ होने लगे हैं।

अगले अध्यायों में काल-क्रम से विभिन्न युगों के सांस्कृतिक इतिहास की विवेचना की जाएगी।

प्रागैतिहासिक युग

(क) संस्कृतियों का संगम

प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति का सूत्रपात हुआ और उत्तर-पश्चिम में भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ, जिसके सबसे अधिक सम्बन्ध मोहें-जोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं। भारतीय संस्कृति का श्रीगणेश प्राचीन और प्राकृतिक जातियों के पारस्परिक सम्मिलन और सम्मिश्रण से हुआ। आज जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है उसके निर्माण में यद्यपि आर्यों का प्रधान भाग है, किन्तु आर्यों के जातियों ने उसके निर्माण में जो भाग लिया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन दोनों के सुखद सम्पर्क से प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति की वह धारा प्रादुर्भूत हुई, जिसमें ऐतिहासिक युग में अन्य घाटों मिलती रही। इस अध्याय में पहले विभिन्न संस्कृतियों के संगम का और बाद में सिन्धु-संस्कृति का वर्णन किया जाएगा।

जिस प्रकार पर्वतों से निकलने वाली नगीरणी पहाड़ों में जाङ्गली, मन्दाकिनी, अलकनन्दा आदि अनेक नदियों के जल से परिपूरित होकर गंगा नदी बहती है और मैदान में यमुना, सोमती, गंडक और सोन आदि से मिलकर भी गंगा ही रहती है, उसी प्रकार प्रागैतिहासिक काल में नेग्रिटो, आग्नेय, द्रविड़ और आर्य आदि अनेक जातियों की विशिष्ट सांस्कृतिक धाराओं से समृद्ध होने वाली और ऐतिहासिक युग में बल, शक्त, रूप, धृक्, सुगन्ध तथा जितना सम्पर्क में पोषण पाने वाली संस्कृति भी भारतीय ही रही है। इसने अपने आरम्भिक युग में विभिन्न जातियों का सम्मेलन से अनेक तरह प्रणुन किया है, इन्हें भली-भाँति समझने के लिए भारत की प्रधान नस्लों का परिचय आवश्यक है।

भारत की नस्लें—पहले यह समझा जाता था कि द्रविड़ इस देश के मूल निवासी थे और आर्य लोग बाहर से आए। नई वैज्ञानिक संश्लेषण के अनुसार भारत में बसने वाली सभी जातियाँ मूलतः बाहर से आई हैं। भारत की वर्तमान जनता की मूल-शास्त्रियों ने सूक्ष्म निरीक्षण के बाद छः प्रधान नस्लों में बाँटा है—(१) नेग्रिटो, (२) आग्नेय (निपाद), (३) मंगोल (फिरात), (४) सुभाष्य आर्य (द्रविड़), (५) पश्चिमी (गोल सिर वाले), और (६) नॉडिक (आर्य)।

(१) नेग्रिटो (Negrito)—नीग्रो-वंश की वह शाखा है जिसका कद बहुत छोटा होता है। इसकी विशेषताएँ हैं गहरा काला रंग, बहुत छोटा कद, मोटे होंठ

तथा ऊनी बाल। यह भारत में बसने वाली प्राचीनतम जाति है और यह इसके घन-रोष नष्टप्राय है। यह प्रधान रूप से सबसेमान टापू में बनी हुई है और इसके कुछ अंश भारत के दक्षिणी भाग—कोचीन और ट्रावन्कोर के पर्वतों की बाहर और मसपन जातियों में, आसाम के अमरा नाथों में तथा राजबहुल (बिहार) की पहाड़ियों में बसने वाली जातियों में पाये जाते हैं। इसे इसके बाद आने वाली जातियों ने, विशेष-कर धाम्नेय जाति ने नष्ट कर दिया।

(२) धाम्नेय (Austro)—नेचिटी नस्त के बाद यह जाति भी पश्चिम में भारत में आई। इसे धाम्नेय कहने का कारण यह है कि इस समय यह जाति प्रधान रूप से संसार के दक्षिण-पूर्व (धाम्नेय) कोण में पाई जाती है। भारत में इस जाति से सम्बन्ध विभिन्न जातियाँ चीनने वाली जातियाँ सम्बाल, कुशा, शबर आदि प्रधान रूप से उड़ीसा के पास भाइलण्ड में रहती हैं। इन्हें कौन भी कहा जाता है। भारत में इनकी संख्या बहुत कम है, किन्तु इस देश से बाहर इस नस्त के लोग चमो, हिन्द-चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप-समूह (सुन्दर-द्वीप) तथा प्रधानतः महासागर के टापुओं में बहुत दूर तक फैले हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रार्थतिहासिक युग में इनकी भी जाया भारत में आई वह इस समय विद्यमान धाम्नेय जाति का पूर्व रूप था, अतएव उसे प्राथमिक-धाम्नेय (Proto Australoid) का नाम दिया गया है। भारत में ही इसे जातीय विशेषताएँ प्राप्त हुई हैं और यही से इसकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व (धाम्नेय) कोण की ओर बनी गई। बाद धाम्नेय जाति (Proto Australoid) की शबल-नस्त के सम्बन्ध में ठीक ज्ञान नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी माटे कद और बपटी नाक वाले थे। आज भी भारत के अधिकांश भाग में निम्न जातियों के रूप में वे विद्यमान हैं। प्राचीन काल में आवद निपाद इन्हीं का नाम था।

(३) भूमध्य-सागरीय (इवियु)—पहले जिस जाति को इवियु कहा जाता था, अब उसे भूमध्य-सागरीय (Mediterranean) का नाम दिया गया है। इसमें तीन उपभेद माने जाते हैं : (क) पुरा भूमध्य-सागरीय—काळा रंग और बँधला कद इनकी विशेषताएँ हैं। ये प्रधान रूप से मलयालम, तामिल तथा कन्नड़-भाषी प्रदेशों में हैं। (ख) घनलो भूमध्य-सागरीय—ये पुरा-भूमध्य-सागरीयों की अपेक्षा अधिक ऊँचे और नाक रंग के हैं। पंजाब और गंगा की उपरती घाटी में मिलते हैं। धार्यों से पहले उत्तर भारत में यही जाति बसती थी, ऐसा समझा जाता है। (ग) प्राग् भूमध्य-सागरीय—इसमें नाक लम्बी और रंग अधिक सौरा होता है, यह पंजाब, सिंध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है। ये सभी जातियाँ लम्बे सिर वाली हैं।

(४) पश्चिमी वृत्त कपाल जाति—सन्ध एशियायी पर्वत-मालाओं में मूल रूप से विकसित इस नस्त के आल्पाइनो, दोनारी और आर्मीनियन नामक तीन भेद भारत में पाए जाते हैं। पहला भेद गुजरात में, दूसरा बंगाल, उड़ीसा, आदिवासी-

कन्नड़ और तामिल प्रदेशों में तथा तीसरा प्रधान रूप से बंबई के पारसियों में मिलता है।

(५) नाडिक (धार्म) — धार्म भाषा-भाषी नाडिक (Nadik) जाति के खार चिल्ल है—गोरा या गेहूँ का रंग, ऊँचा कद, उमरा हुआ माथा, लम्बी नुकीली, नाक और भरपूर दाढ़ी-मुँह। इसके समूचे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, विशेषतः सिन्धु नदी की उपरती घाटी तथा स्वात, पंजकोरा, कुनार, विजाल नदियों की घाटियों और हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं। पंजाब, राजपूताना और मरा की उपरती घाटी में भी यह जाति अन्य जातियों के साथ सम्मिश्रित रूप में पाई जाती है। महाभारत के चित्रपावन ब्राह्मणों में भी इसके लक्षण मिलते हैं। प्राचीन साहित्य से यह ज्ञात होता है कि धार्म समूहने वालों तथा नीली घालों वाले थे; किन्तु भारतीय जनजातों के प्रभाव से उनके इस रूप में परिवर्तन आ गया है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में धार्मों का बहुत महत्वपूर्ण योग है। इन्होंने भारत को न केवल धार्म साधारण प्रधान की प्रविष्टि विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय करके यहाँ भारतीय संस्कृति की आधार-बिजा भी रनी।

(६) मंगोल (किरात) — इस मूल की मुख्य पहचान है—गोतकरी, गण्डा बेहरा, गालों की हड्डियाँ उमरी हुई, दाढ़ी-मुँह नहीं के बराबर तथा नाक की बड़ कुछ चपटी। भारत में इसके दो भेद—लम्बे सिर वाले पुरा किरात और गोल सिर वाले तिब्बत—किरात—पाए जाते हैं। लम्बे सिर वाले सबसे पुराने किरात हैं, ये बासाम में तथा भारत और बर्मा के सीमा-क्षेत्र में रहते हैं। गोल सिर वाले इनमें विकसित समझे जाते हैं। ये बटगाँव की पहाड़ियों तथा बर्मा के निवासी हैं। तिब्बत—किरात रूप में इस जाति के भेदक चिल्ल अधिक स्पष्ट रूप में मिलते हैं। ये सिनिकम और भुटान के निवासी हैं और तिब्बत से काफी आधुनिक समय में भारत आये हैं।

भारतीय जनता प्रधान रूप से इन छः समूहों के सम्मिश्रण से बनी है, इन सभी ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में सहयोग दिया है। प्रारंभिक काल में नेषिटो, धार्मिक, इतिहास और धार्म जातियों ने इस सांस्कृतिक महापथ में अपनी आहूतियाँ दी थीं और इन सभी के अनन्वित पुण्य प्रभाव से एक भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ था। इसमें विभिन्न जातियों से आए धर्म धर्म-मिलकर इस प्रकार एक हो गए हैं कि उनका पूर्ण तथा निश्चित रूप से विश्लेषण करना सर्वथा असंभव है। भाषा-शास्त्र तथा पुरातत्त्व धादि की सहायता से इस पर जो अमुरा प्रकाश पड़ा है वह इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण और मनोरंजक है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में किन-किन जातियों ने क्या-क्या सहयोग दिया है। यहाँ प्रारंभिक काल में भारतीय संस्कृति के मूलपात में माना जातियों द्वारा प्रदत्त बंधों का ही कारण-क्रम से वर्णन किया जाएगा।

नेषिटो मूल की सांस्कृतिक देन—नेषिटो भारत-भूमि पर पदार्पण करने वाली प्रथम मूल थी; किन्तु वह भारत की परवर्ती संस्कृति पर विशेष स्थायी प्रभाव न

जान सकी, क्योंकि वह सम्प्रदायों की आदिम अवस्था-पुराणों की दशा में थी। इनके बाद में आने वाली अधिक उन्नत जातियों ने बिल्कूल और निर्लोलू कर दिया। नेग्रिटो पत्थर और हड्डी के अनेक हथियारों का तथा तौर-तमाक का प्रयोग करते थे। जंगलों में फल-भूत के सन्धन और जामबरी तथा मछलियों के शिकार से अपना निर्वहण करते थे। खेती, मिट्टी के बर्तन बनाने और मकान-निर्माण की कलाओं से वे अनभिज्ञ थे। अश्वेमान के आदिम निवासों आज तक अज्ञात नहीं उपजा सकते। भोजनियों और मकान बनाने की कला से अपरिचित होने के कारण वे कहीं गुफाओं में रहते थे। नेग्रिटो अफ्रीका से आकर होते हुए भारत में आये और यहाँ से मलाया, हिन्द-ओष-समूह होते हुए न्यूगिनी तक गये गए। इस समय भारत में इनकी सबसे बड़ी बस्ती अण्डमान टापू में ही है। सम्प्रदाय की आदिम दशा में होने पर भी इनमें अद्भुत साहस का और उम्मी के भरोसे से अपनी छोटी-छोटी निस्त्रियों द्वारा अफ्रीका से न्यूगिनी तक फैल गए थे। भारतीय जातियों में नेग्रिटो-समूह बहुत समय तक बसा रहा। कुछ विश्व-भला पर, विशेषतः अजन्ता के भित्ति-चित्रों में, इसका कुछ प्रभाव पाया जाता है। सन्तान-प्राप्ति के लिए तथा मृतकों की सद्गति के लिए वट-वृक्ष की पूजा हिन्दू धर्म की इस जाति की एक विशेष देन है।

आग्नेय जाति की देन—नेग्रिटो के बाद आने वाली आग्नेय जाति की भारतीय जनता का प्रधान मूल ग्रन्थ माना जाता है। वे अपने साथ नवाग्रमकालीन संस्कृति को लाये। इन्होंने पत्थरों को घिसकर उनसे धारदार सौजार और हथियार बनाये, कुदास से जमीन को खोदकर खेती शुरू की, कुम्हार का चक्र भी उन्हीं के समय से भारत में चलना शुरू हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी भारत के समूचे विशाल मैदान में वे बसे हुए थे, क्योंकि नवाग्रमकालीन अवशेष उत्तरी मैदान की प्रायः सभी नदियों की घाटियों में पाए गए हैं। बाद में आने वाली जातियों द्वारा ये लोग हिमालय के दुर्गम प्रदेशों और विन्ध्य पर्वतमाला के गहन वनों में खदेड़ दिए गए। वासीन घाटी की बुरुघारकी में, मध्य हिमालय की कनौरी में तथा नेपाल की दुर्गम घाटियों में इनकी बीबी के कुछ अवशेष मिलते हैं। किन्तु इस समय आग्नेय भाषा-भाषी सन्धाल मुण्डा, भूमिज बिरहोर, असुर, अजर, कौरवा आदि जातियाँ विन्ध्य पर्वत के पूर्वी भाग में राबमहल की पहाड़ियों में बसी हुई हैं तथा मध्य भारत के कुरकु, उदोमा के चुधोग, होवर तथा गदव भी आग्नेय जातियों का प्रयोग करते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि यह जाति भारत से निकलकर समूचे दक्षिणपूर्वी एशिया, पूर्वी ओष-समूह तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार ये जातियाँ इन प्रदेशों से लौटकर भारत में बसी हैं और अपने साथ उन-उन प्रदेशों में सीपी नई बातें तथा उन प्रदेशों की अन्य विशेषताएँ इस देश में लाई हैं। उदाहरणार्थ भारत में तारियल के प्रवेश का भेष प्रशान्त महासागर के टापुओं से आने वाली इसी जाति की एक शाखा को दिया जाता है। भौतिक और धार्मिक क्षेत्र में आग्नेय जाति ने अनेक देनों से हमारी संस्कृति को समृद्ध किया है।

भौतिक क्षेत्र में इसकी प्रशस्त देन न केवल कुदाल द्वारा खेती करना ही है अपितु भाषा-विज्ञान के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि भात की खेती, केला (कदली), मारियल बेगन, पान (ताम्बूल), तोरी, नींबू, जामुन, कपास के उत्पादन का क्षेत्र भी इन्हीं की है। इन्हीं ने सम्भवतः सबसे पहले सूती कपड़ा बुना था, हाथी (गज) को पालतू बनाया। संस्कृत भाषा को घाघ, लघुट (साठी), गाल्मलि (सिम्बल) कुकषाकु (मुर्गा), मार्तण्ड, यज्ञ आदि शब्द प्रदान किए। गन्ने से खाँड़ बनाना भी इन्हीं का आविष्कार माना जाता है। पान-मुपारा का व्यवहार, विवाह आदि संस्कारों में 'मिन्दूर' और हल्दी का प्रयोग भी इनसे ग्रहण किया बताया जाता है।

धार्मिक क्षेत्र में पुनर्जन्म का विचार ब्रह्माण्ड तथा सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी धर्मक दत्त-कथार्ण, कच्छप अवतार की कल्पना, पाषाण-युग में देवता की भावना, नाग, मगर और बन्दर आदि विभिन्न प्राणियों को पूजा, सक्याभय, स्पृष्ट्यास्पृश्य तथा वर्जन (Taboo) का विचार, बुरी मज्जर को 'निष्ठावर' द्वारा पचाना आदि धर्मक बातें ग्राम्य प्रभाव का परिणाम हैं। चन्द्रमा की कला के अनुसार विधियों की गणना तथा इनके अनुसार धार्मिक पर्वों का मनाना भी सम्भवतः निपाद्यों से लिया गया है। संस्कृत में पुणिमा और समावस्या के लिए 'रक्ता' और 'कुह' शब्द प्रचलित महासागर की ग्राम्य भाषा के शब्द हैं। सत्ताईस नक्षत्रों में मातृका (कुलिका) का मूल भी इसी प्रकार का बताया जाता है। महाभारत और पुराणों में पाताल-लोस के अधिपति वामुकि आदि नामों और अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति, मत्स्यगन्धा और गरुड आदि के सम्बन्ध में जो अत्यन्त मनोरंजक कथार्ण हैं, उनका-आदि स्रोत भी इस जाति का पुराण है। गंगा हिन्दुओं की सबसे पवित्र नदी है। उसमें धबका हिमो धन्य नदी में मृत व्यक्ति की अस्थियों का प्रवाह आवश्यक धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। किन्तु विद्वानों का मत है कि नदियों की पूजा और अति-विचरित ये दोनों विचार संघात आदि जातियों से मिले गए हैं। दामोदर नदी में अस्थि डाले बिना भगवालों की गति नहीं होती। तीर्थों का महत्त्व और नदियों की पूजा वैदिक साहित्य में तो कहीं मिलती नहीं। स्पष्टतः ये ग्राम्यतर जातियों से ग्रहण की गई हैं।

द्रविड़ जाति की देन—ग्राम्य जाति के बाद हमारे देश में द्रविड़ जाति का आगमन हुआ। द्रविड़ अपने पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत और नागर सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। इस समय द्रविड़-भाषा-भाषी केवल दक्षिण भारत में पाये

१. मिन्दूर का न कोई वैदिक नाम है और न ही मिन्दूर-दान का कोई वैदिक भोग। विवाह में मिन्दूर-दान की विधि में जो मंत्र "ओ मिन्दोरुन्दासे धातन्ते" (मन्त्र = ७, ४६, ४३) पढ़ा जाता है उसमें मिन्दूर शब्द से केवल व्यनितान्त है। मिन्दूर के नाम नामगर्भ, नामसन्ध्या आदि जो शब्द भी लोगों की कानू सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वानों का यही एक कहना है कि गंगा शब्द भी सम्भवतः ग्राम्य भाषा का है, इसका मूल शब्द गन्दी-गन्ध। हिन्दुओं का क्षेत्र (सीजेग) दक्षिणी चीनों का क्षेत्र (गन्दीकंग) आदि शब्द इस कल्पना को पुष्ट करते हैं।

जाते हैं, किन्तु प्राचीन काल में उत्तरी भारत में भी इनकी खता होने के पक्के प्रमाण मिलते हैं। आजकल यह माना जाता है कि द्रविड़ भूमध्य सागर के प्रदेश से भारत में आए। लघु एशिया की एक प्राक् हिन्दयूरोपीय भूमध्य सागरीय मिश्रित जाति अपने को तिमिनी कहती थी। हिराडोटस के कामनानुसार वह वहाँ कीट टाणू से आई थी। कीट में यूनानियों से पहले के निवासियों को तिमिनाई कहा जाता था। यह शब्द तमिल, द्रमिल या द्रविड़ से सम्बन्धित बताया जाता है। खतः यह समझा जाता है कि द्रविड़ मूलकः कीट से आए और वे अपने साथ उस प्रदेश के धार्मिक विचार और विश्वास भी लाए। भारतीय संस्कृति पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा।

धार्मिक क्षेत्र में द्रविड़-प्रभाव का परिणाम नए ईश की उपासना-पद्धति का श्रीगणेश तथा नए देवताओं का आगमन था। वैदिक कर्म यह-प्रधान था। उसमें इन्द्रादि देवताओं के उद्देश से संश्लेषण पूर्वक धी, दूध आदि की आहुति दी जाती थी। देवताओं की उपासना गलों द्वारा होती थी। द्रविड़-प्रभाव से देवताओं की पूजा अर्घ्यात् पावर की मूर्ति या किसी प्रकार के देवता के प्रतीक पर पशु-पुष्प आदि चढ़ाना, उसे सिन्दूर, चन्दन लगावा, उसके सम्मुख पुष्प-दीप जलाना, पटा-पट्टियाँ बजाना, संगीत-नृत्य का आयोजन करना, भोग लगावा, प्रसाद लेना प्रचलित हुआ। ये सब अनुष्ठान सर्वथा अर्धवैदिक हैं। पूजा शब्द भी सम्भवतः द्रविड़ मूल का है। जिसका अर्थ है पुष्प कर्म अर्घ्यात् फूल चढ़ाना (पु=पुष्प, व=करना)।

न केवल इस अर्धवैदिक पूजा-विधि का ही प्रचलन हुआ अपितु इसके साथ-साथ शिव, उमा, विष्णु, श्रीकृष्ण, कुमार, हनुमान, गणेश, शीतला आदि नवीन देवता पूजे जाने लगे। इन्होंने इन्द्र, अग्नि, वरुण, पूषा आदि वैदिक देवताओं का स्थान ले लिया। दक्ष के यज्ञ में शिव नहीं बुलाए गए, इसलिए वह यज्ञ शिव के भूत-प्रेत आदि गणों के द्वारा प्लवट हो गया। इस पौराणिक आख्यान से स्पष्ट है कि शिव बहुत समय तक आर्यों द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं की पंक्ति में सम्मिलित नहीं हुए थे। वे आर्मेतर शक्ति आदियों द्वारा पूजे जाते थे। शिव की शक्ति रूप में पूजा की पद्धति के अर्धवैदिक होने का यही प्रमाण पर्याप्त है कि प्रायः सभी पुराणों में इस बात का उल्लेख है कि ऋषियों ने अपनी पत्नियों के हठ से विवश होकर इसे स्वीकार किया। वे ऋषि-पत्नियाँ प्रायः आर्मेतर कुलोत्पन्न होने के कारण अपने पितृकुल के धाम्दार को छोड़ने में असमर्थ थीं। मातृ-शक्ति की पूजा भी द्रविड़ों की देन है। उनके मूल स्थान हिन्दयूरोपीय सागर के टापुओं में, यूनान और लघु एशिया में 'मा' नामक मातृ-देवता की पूजा बहुत अधिक प्रचलित थी। 'उमा' का इसी 'मा' से सम्बन्ध बताया जाता है। उमा के दूसरे नाम 'दुर्गा' को तुलना लिखित जाति की चक्र देवी से की गई है। विष्णु धार्मिक रूप से वैदिक है, लेकिन उसका वर्तमान स्वरूप अर्धवैदिक है। लिप्ताक्षान् वैदिक भृगु ने विष्णु के वक्षस्पर्श पर चरणपात किया था। लेकिन इस प्रकार लाजिम्ह होकर भी विष्णु हमारे देश में पूजित हुए। श्री भी अंशतः वैदिक

है किन्तु उनके राज अस्सी आदि रूप सर्वथा धर्मोपदेशक हैं। कृष्ण वेद में इन्द्रविरोधी है। लेकिन पीछे तारुण्य के इस इन्द्र देवता (कृष्ण) को विष्णु के साथ एक कर दिया गया। कुमार (स्कन्द), गरुड, हनुमान्, सर्वथा धर्मोपदेशक देवता हैं। हिन्दू-धर्म का आधार निम्न धीरे-धीरे प्राप्त माने जाते हैं। आगमों में तान्त्रिक मत और योग का प्रतिपादन है। ये दोनों बाहर से धीरे-धीरे वैदिक मत के पास आ लगे हुए, शनैः-शनैः इन्होंने वैदिक मत का रूपान्तर कर डाला।

भारतीय संस्कृति पर मनीषों (किरातों) का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उनके आगमन तक भारतीय संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ निश्चित हो गया था। स्वयं ये जातिमा बहुत पिछड़ी हुई थीं और इनका विस्तार भी भारत की उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर ही रहा। फिर भी हिमालय-प्रदेश की बोलियों तथा गोरखाली, बंगाल, आसामी, भाषाओं के विकास में इसका कुछ प्रभाव पड़ा है। तेरहवीं सदी में आसाम जातने वाले ग्रहों धीरे-धीरे हिन्दुओं में धुल-मिल गए। केवल उनके मूकन, बरपा आदि नाम ही विदेशी प्रभाव के सूचक हैं।

धर्म व धर्मोपदेशक संस्कृतियों का संगम—प्रागैतिहासिक युग में इस प्रकार जो धर्म तथा धर्मोपदेशक संस्कृतियों का संगम हुआ वही हमारी भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार है। संभवतः आग्नेय और इन्द्रियों के अनेक और विरोध से धर्मों की सफलता मिली। उनकी भाषा देश के अधिकांश भाग में प्रचलित हुई। भाषा की दृष्टि से आज भारत में ७६.४% धर्म भाषा-भाषी, २०.९% इन्द्र भाषा-भाषी और ३% आग्नेय भाषा-भाषी हैं। किन्तु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से धर्मों की सहिष्णुतापूर्ण उदार वृत्ति से वैदिक और धर्मोपदेशक, धर्म और धर्मोपदेशक का जो-जो घनिष्ठ सम्बन्ध और संगम हुआ उसमें कुछ विद्वानों के मतानुसार यह अनुपात बिल्कुल उलट गया। वे वर्तमान भारतीय संस्कृति में २५% अंश की ही वैदिक मानते हैं और 'रथ' में बारह माना' इसका मूल धर्मोपदेशक मानते हैं। भारतीय धर्म, ज्ञान-ज्ञान, भाषा, सामाजिक रीति-रिवाज आदि सभी बातों में धर्मोपदेशक अंश बहुत प्रबल है, धर्म के सम्बन्ध में धर्मोपदेशक तरकों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। माता देवता कहना ही धर्मोपदेशक है कि भक्तिसिद्धान्त की उत्पत्ति पुराणों के अनुसार इन्द्र देश में हुई।^१ मुलसी, बड़, पीपल, बेल आदि वृक्षों की पूजा और पवित्रता का विचार धर्मों ने धर्मोपदेशक जातियों से ग्रहण किया क्योंकि ये सब वृक्ष धर्मोपदेशक देवताओं से सम्बद्ध हैं।

वैदिक धर्मों का प्रधान भोजन जो और मक्खन था, आज भारतीय भोजन में चावल, गेहूँ, धान, घी और तेल आदि की प्रमुखता है। वैदिक धर्मों के ऊनी वस्त्रों

^१ उपर्युक्त इन्द्र देश का कर्णाल प्रदेश माना जाता है।

जिस विष्णुमन्त्रादि धर्मोपदेशक जातियों से आता है।

(१५५ पृष्ठ) उत्तर-पृष्ठ १०-११)

का स्थान सूती वस्त्रों ने ले लिया है। भाषाशास्त्रियों के मतानुसार वर्तमान भारतीय भाष्य भाषाओं की वाक्पञ्चरचना पद्धति वैदिक या हिन्द यूरोपीय परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा इन्दि-भाषाओं में अधिक मिलती है। इन भाषाओं में ली के लगभग आन्वेष और चार सौ पञ्चास के लगभग इन्दि शब्द हैं। विवाह में निषिद्ध चीजियों का विचार, सांघनिक व्यवहारों पर नारियल का प्रयोग, वैवाहिक विधियों में श्वशुर, स्वस्तिक, रोहन, सज्जद सरसों, हल्दी और सिन्धूर का व्यवहार भी सर्वैदिक है।

किन्तु धार्मिक तथा धार्मिकतर तत्त्वों के सुन्दर समन्वय और सम्मिश्रण से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वह विशुद्ध रूप से भारतीय थी। न तो यह वैदिक और धार्मिक थी और न ही सर्वैदिक और धार्मिक। यह सबकी सभी संस्कृति थी। भारतीय संस्कृति के उषा-काल में हुए इस समन्वय ने उन सादर्यों, भावनाओं और विचारों को जन्म दिया जो जगत्पार सैकड़ों वर्षों से सभी भारतीयों को समान रूप से अनुप्राणित और प्रेरित करते आ रहे हैं। इनमें संहित्यगुण, समन्वय, कर्मवाद, पुनर्जन्म, ब्रह्म सत्ता में विश्वास, दृश्यमान जगत् की विविधता के पीछे मौलिक एकत्व का दर्शन, गहिमा, करुणा और दुःखपूर्ण जगत् से मुक्त होने की इच्छा प्रमुख हैं और वे ही भारतीय संस्कृति के मूलधार हैं। इनका जन्म और विकास धर्म-धर्म-तुष्टाई हैं। धर्म के आध्यात्मों में इनका यथा स्थान प्रतिपादन किया जाएगा।

(ख) हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो की सभ्यता

मोहेंजोदड़ो की खोज और महत्व—आज से चासीस साल पहले भारत में प्रागैतिहासिक युग के अवशेष बहुत कम मिले थे। उस समय वैदिक समाज को बहुत पुराना माना जाता था, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उसका काल अधिक-अधिक १५०० ई० पूर्व ही उद्घाटित किया गया। १९२२ ई० में सिन्ध में लखाना से २५ मील दक्षिण मोहेंजोदड़ो (मृत्तकों की ढेरी) में दूसरी-तीसरी शती ईस्वी के एक बौद्धस्तूप को खुदाई कराते हुए डॉ० रामलालदान बनर्जी ने इस स्थान के प्रागैतिहासिक महत्व की ओर पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया। इससे पहले हड़प्पा (जिला मिह्तगुमरी, पश्चिमी पंजाब) से कुछ प्रागैतिहासिक मुहरें मिल चुकी थीं। १९३१ ई० तक भारत-सरकार की ओर से वहाँ खुदाई होती रही। इसी बीच में सिन्ध और बिलोचिस्तान में ऐसे अनेक टीनों और वस्तिधों का पता लगा जहाँ हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से मिलती-जुलती, इनमें पूर्ववर्ती और परवर्ती काल की वस्तुएँ पाई गई हैं। इन स्थानों की खोज भारतीय इतिहास में भुमान्तर करने वाली थी। पहले भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ ढेड़ हजार वर्ष ईस्वी पूर्व समझा जाता था। पिछाया का प्राचीनतम ऐतिहासिक अवशेष ५०० ई० पू० का माना जाता था किन्तु इन खुदाइयों से आज से ५,००० वर्ष पुरानी सभ्यता जन्म, समृद्ध एवं समग्र तापनिक सभ्यता का ज्ञान हुआ। यह न केवल मिल और मेसोपोटामिया की पश्चिम में प्राचीनतम

समझी जाने वाली संस्कृतियों के समकालीन थी, किन्तु नगरों की सफाई, निर्वाहित प्रणाली व्यवस्था, निश्चित योजना के अनुसार राहों की बसाने आदि कई अंशों में अपनी समकालीन सभ्यताओं से भी बहुत बड़ी-बड़ी थी। इसके अन्वेषण सर्वप्रथम हड़प्पा में पाये गए थे, यतः इसे हड़प्पा-सभ्यता कहा जाता है। सिन्धु नदी की घाटी में चलने-फुलने से इसे सिन्धु-सभ्यता का भी नाम दिया गया है।

सिन्धु-सभ्यता का विस्तार और साम्राज्य—जिन वस्तुओं से इस सभ्यता के अन्वेषण मिले हैं, उनमें यह ज्ञात होता है कि वे पश्चिम में सकरान, दक्षिण में काठियावाड़ और उत्तर में हिमालय की शिवालक पर्वत-माला तक एक विभुजाकार क्षेत्र में फैली हुई हैं। इस विभुज की भुजाएँ ६५०, ७०० तथा ५५० मील हैं। इन वस्तुओं के लम्बे-चौड़े प्राचीन काल के एक विस्तृत और सुसंघटित साम्राज्य के सूचक हैं। इसके विविध भागों से पाई गई मुहरों, ईंटों, बाटों तथा अन्य सामग्रियों में इतनी सारी एकता और सादृश्य है जो मुद्रा केन्द्रों के बिना संभव नहीं प्रतीत होता। मिला, बेबिलोन और असीरिया-जैसे शक्तिशाली राज्यों की भाँति इस प्राचीन साम्राज्य की हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो—उत्तरी और दक्षिणी दो राजधानियाँ प्रतीत होती हैं, ठीक वैसे ही जैसे परवर्ती युग में कुशाणों के पेशावर और मथुरा में दो शासन-केन्द्र थे। उत्तरी भाग में हड़प्पा के प्रतिरिक्त १७ अन्य छोटे कस्बों से हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं, पूर्व में बकसर (बिहार) और पटना से तथा गाजीपुर और बनारस जिलों से। सिन्धु-सभ्यता जैसे विशाल और गुरियाँ मिली हैं। हड़प्पा से २०० मील पूर्व में रोहड़ के पास सतलुज नदी पर कोटला मिहग खान में भी वे अवशेष पाए गए हैं। मोहेंजोदड़ो के दक्षिणी भाग में इस शहर के प्रतिरिक्त १७ अन्य वस्तुओं में इसके अवशेष मिले हैं। इनमें लह्वदड़ो (मोहेंजोदड़ो से ८० मील दूर) तथा अमरी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके प्रतिरिक्त सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहेंजोदड़ो, धलीमुराद और भूकर, भंवर और गाजीशाह, उत्तरी बिलोचिस्तान में दबराकोट, बाल, मुरजगन, राना मन्दई और दक्षिणी बिलोचिस्तान में कुल्ली, मेही और शाही टम्ब भी इसी सभ्यता से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार मोहेंजोदड़ो की सभ्यता और साम्राज्य का क्षेत्र समूचा बिलोचिस्तान, सिन्धु और पंजाब तथा गंगा की घाटी का कुछ अंश था। यह प्राचीन एशिया का एक बृहत्तम साम्राज्य था।

सिन्धु सभ्यता के नगर और भवन—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में विवर्णित होने वाली सारी सभ्यता की विशेषताएँ इनकी सुदृढ़ से भली-भाँति प्रकट हुई हैं। पहले शहर के सम्बन्ध में एक वर्ग मील में पाये गए हैं। यह शहर पहले से ही सोच-विचारकर एक निश्चित योजना के अनुसार बसाया गया था। सब सड़कें बिल्कुल सीधी बनाई गई हैं। मोहेंजोदड़ो में हवा दक्षिण और पश्चिम से उत्तर तथा पूर्व की ओर बहती है। यतः सड़कों का भी यही स्वर रखा गया है। सबसे बड़ी सड़क की चौड़ाई ३३ फीट है। वे सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं और शहर की वर्गाकार तथा धातुकार खण्डों में बाँट देती हैं। छोटी गलियाँ इन खण्डों को विभक्त

करती है, प्रत्येक गली में कुआँ है। मकानों से गन्दा पानी निकालने के लिए नालियाँ भी बड़ी सुन्दर व्यवस्था है। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो से भी बड़ा शहर है। दोनों शहरों में रक्षा के लिए बनाये गए परकोटे के अवशेष भी मिले हैं।

मोहेंजोदड़ो की उल्लेखनीय इमारतें विशाल स्नानागार, बड़ा हॉल, संघीय भवन और राजमहल हैं। पहली इमारत की लम्बाई-चौड़ाई १८० × १०८ फीट है। इसमें नहाने का तालाब ३६ फीट लम्बा २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है, इसमें उतरने-बढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं। इसका सारा फर्श खड़ी ईंटों का है तथा राम बिछाकर इसकी नमी नीचे जाने से रोकी गई है। कहा जाता है—कि यह सुन्दर स्नानागार समुद्र-तटवर्ती किसी भी प्राधुनिक होटल के लिए सर्व का कारण हो सकता है। मोहेंजोदड़ो में इसका उपयोग सम्भवतः धार्मिक कार्य के लिए होता था। उसके दक्षिण-पश्चिम में एक अन्य इमारत में पानी को गर्म करके नहाने की व्यवस्था भी थी। स्तूप वाले टीले के दक्षिण में एक क्षेत्र में ८५ फीट लम्बा और इतना ही चौड़ा एक विशाल हॉल पाया गया है। इसकी छत ईंटों से बने २० आयताकार खम्भों पर टिकी हुई थी। इस हॉल के उपयोग के सम्बन्ध में भी मार्शल का यह मत था कि यह बौद्धों के भिक्षुओं से मिलता है, इसका व्यवहार धार्मिक कार्य के लिए होता था। श्री मेने का यह विचार है कि यह उस समय की बड़ी गणरी थी और यहाँ विविध वस्तुओं की स्वामी दुकानें थी। स्तूप वाले टीले के पश्चिम में २३० फीट × ७८ फीट की एक बड़ी इमारत है। इसकी पश्चिमी और पश्चिमी दीवारें पीने शाय ११५ फीट मोटी हैं। यह किसी ऊँचे राजकर्मचारी का अथवा पुरोहित वर्ग का निवास-स्थान सम्भाव्य है। राजमहल कहा जाने वाला एक अन्य भवन २२० फीट लम्बा ११५ फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें कई स्थानों पर पाँच फीट मोटी हैं। इसमें दो विशाल अंगित, नौकरों के घर तथा सामान रखने के कमरे हैं।

हड़प्पा की सबसे प्रतिष्ठित इमारत विशाल घनागार है। यह १६६ फीट लम्बा १३३ फीट चौड़ा है। इसके पास ही अनाज पीसने का फर्श तथा मजदूरों के रहने के बहल-से मकान पाए गए हैं। इन दोनों शहरों में मकान बहुत सुविधापूर्ण थे। उन सबमें धावन, कुँआ, स्नान-गृह और नालियाँ बनी होती थीं। धावन प्रायः पक्का होता था और उसके चारों ओर गोदाम, कुँआ, रसोई तथा स्नानागार होते थे। स्नानागार प्रायः सड़क की ओर, पक्के तथा ढालदार फर्श का बना होता था। इसका सारा पानी एक पक्की नाली से बाहर की ओर सड़क की गली में गिरा दिया जाता था। घरों के दरवाजे बाजकल की भाँति प्रायः दीवार के बीच में न होकर सिरे पर होते थे। बाहर की ओर सिड़कियाँ नहीं होती थीं। मकान प्रायः दुर्गम होते थे और उनके पास पहुँचने की व्यवस्था होती थी।

प्रणाली-व्यवस्था—मोहेंजोदड़ो में गन्दा पानी निकालने के लिए प्रणाली (Drainage) की बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। प्रत्येक गली और सड़क में एक फुट

से दो फुट तक गहरी, ई. ई. से १ फुट तक चौड़ी नालियाँ होती थीं। इनमें मकानों का पानी खाता था। ऊपरली मंजिलों के पानी के निकास के लिए मिट्टी के बन्ने मकानों की दीवारों में लगाए जाते थे। नालियाँ प्रायः इंटों से ढकी होती थीं, जहाँ ने अधिक चौड़ी होती थीं वहाँ इन्हें पाथरों से ढका जाता था धरती की नालियों का पानी सड़क की नाली में से जाने के पहले एक गड्ढे में भरता रहता था। तीन चौपाई भरने पर ही यह पानी सड़क की नाली में पड़ता था। इस व्यवस्था का यह लाभ था कि पानी कभी उनसे बाहर नहीं बहता था। बड़ी नालियों में बोड़ी दूर दूर इंटों के पक्के बहबन्धे बने रहते थे, इनमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं, वे सामान्य रूप से लफ्फों के लफ्फों से ढके रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नियमित रूप से इनकी सफाई होती थी, क्योंकि इनके पास रेत के ढेर पाए गए हैं। जहाँ एक-साड़ी ऊँचाई ने दूसरी नाली में मिलती थी वहाँ ईंट का छोटा गड्ढा पानी को बाहर बहने से रोकने के लिए बनाया जाता था और इसके लिए पच्चराकार ईंटें लगाई जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ इमारतें बनाने की छोटी प्रणाली-निर्माण की घोर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस दृष्टि में कोई प्राचीन सभ्यता इसका मुकाबला नहीं कर सकती।

इस प्रकार की प्रणाली-व्यवस्था तथा योजनापूर्वक नगर-निर्माण इस बात को सूचित करते हैं कि यहाँ का नगर-प्रबन्ध बहुत सुव्यवस्थित और उन्नत था। कुछ अन्य बातें भी इसका पोषण करती हैं। मोहेंजोदड़ो में एक दूसरे के ऊपर भात स्तर पाये गए हैं। इनकी निचली तहों में कहीं भी मकान, बागों ने सड़क का सांस्कृतिक हिस्सा नहीं दबाया, रसों के समूह यह सूचित करते हैं कि यहाँ राज्य की घोर से सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था थी। यद्यपि अन्तिम काल में नगर-प्रबन्ध में कुछ शिथिलता या गई थी, किन्तु कई शतियों तक यह पूर्ण अमता से कार्य करता गया। पहले यह माना जाता था कि यह प्रजातन्त्रीय प्रबन्ध था किन्तु अब इसे सुसूत्र राजतन्त्र का परिणाम समझा जाता है।

धर्म—धर्मी तक सिन्धु घाटी की खुदाई में कोई मन्दिर या पूजा-स्थान नहीं मिला, अतः इस सभ्यता के धार्मिक जीवन का एक-मात्र स्रोत यहाँ पाई गई मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरें हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ मातृदेवी की, पशुपति शिव तथा उसके विषय की पूजा और पीपल, नीम आदि पेड़ों एवं सामाजिक जीवन-जन्तुओं की उपासना प्रचलित थी।

मातृदेवी—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में लड़ी हुई अर्धमन्य नारी की बहुत मृणमय-मूर्तियाँ मिली हैं। इनके शरीर पर छोटा-सा लहंगा है, जिसे कटि-प्रदेश पर मेखला से बांधा गया है, गले में हार पड़ा हुआ है तथा मस्तक पर पत्ते के आकार की विभिन्न शिरोभूषा है। इसके दोनों ओर प्याल-जैसा पदार्थ है जिसमें लगे धुएँ के निधान से यह ज्ञात होता है कि इनमें भक्तों द्वारा देवी को प्रसन्न करने के लिए तेल

या भूप जलामा जाता था। इस प्रकार की मूर्तियाँ पवित्रभी एशिया में भी मिली हैं। ये उस समय की मातृदेवी की उपासना की व्यापकता सुचित करती हैं, प्रायः ही भारत की साधारण जनता में देवी की उपासना बहुत प्रचलित है। इन मूर्तियों बहुत अधिक संख्या में पाये जाने में यह कल्पना की गई है कि वर्तमान कुल-देवताओं की भाँति प्रत्येक घर में इनकी प्रतिष्ठा और पूजा की जाती थी।

पशुपति—पुरुष देवताओं में पशुपति प्रधान प्रतीत होता है। एक मुहर में तीन मुँह वाला एक मनुष्य-व्यक्ति चौकी पर पद्यासन लगाकर बैठा हुआ है। इसके चारों ओर हाथी, तथा बैल हैं, चौकी के नीचे हिरण है, इसके चारों ओर विभिन्न चित्तोत्पत्ता है। इसमें हाथों में बुझियाँ और गले में हार पहन रखा है। यह मूर्ति शिव के पशुपति रूप की समझी जाती है। पद्यासन में व्याप्तस्थित मुद्रा में इसकी नासाग्र दृष्टि शिव के योगीश्वर या महाभोगी रूप की सूचित करती है। तीन अन्य मुहरें पशुपति के इस रूप पर प्रकाश डालती हैं। अनेक विद्वानों ने मोहेंजोदड़ो की अति प्रसिद्ध शालभारिणी मूर्ति का भी योग से सम्बन्ध जोड़ा है। संकु तथा बेसन के आकार के अनेक पत्थरों से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव की मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त लिंग-पूजा भी प्रचलित थी।

मुहरों पर उत्कीर्ण विभिन्न प्रकार के पेशों की तथा पशुओं की आकृति से यह ज्ञात होता है कि उस समय पीपल और नीम की पूजा जाता था। पशुओं में हाथी, बैल, बाघ, भेड़, गेडे और घड़ियाल के चित्र अधिक मिले हैं। शायदकाल इसमें से अनेक पशु देवताओं के वाहन रूप में युजित हैं। यह कहना कठिन है कि उस समय इनकी वाहनों के रूप में प्रतिष्ठा थी या स्वतन्त्र रूप में। साँपों को दूध पिलाते तथा पूजा करने का विचार भी इस सभ्यता में था। और पुरुषों की पूजा करने का विचार भी सम्भवतः प्रचलित था। दो बाघों के साथ लड़ते हुए एक पुरुष की मुहर के प्रसिद्ध और मिलगमेश के साथ तुलना की गई है। सूर्य पूजा तथा स्वास्तिक के भी कुछ चिह्न यहाँ पाए गए हैं।

उपयुक्त उपासना देवताओं के अतिरिक्त इनकी पूजा-विधि के सम्बन्ध में भी कुछ मनोरञ्जक कल्पनाएँ की गई हैं। मिट्टी के एक ताबीज पर एक व्यक्ति को दोल पीटता हुआ तथा दूसरे व्यक्ति को नाचता हुआ दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल की भाँति उस समय संघीत और नृत्य पूजा के अंग थे। मोहेंजोदड़ो की मूर्तियों की प्रसिद्ध कांस्य-मूर्ति सम्भवतः उस समय देवता के सम्मुख नाचने वाली किसी देवदासी की प्रतिमा है।

शाल-पान—मोहेंजोदड़ो से गेहूँ और जौ के कुछ समूने मिले हैं। हड़प्पा में मटर और तिल भी पाए गए हैं। इनके साथ ही खजूर भी उस समय का प्रिय खाद्य था। मनु के अतिरिक्त बैल, भेड़, सूअर, मुर्गी, घड़ियाल तथा कड़ूएँ का मांस और

मछलियों भी उनके भोजन का पसंद प्रतीत होती हैं, क्योंकि इन जानवरों की हड्डियाँ बरों और गलियों में प्रचुरता से मिली हैं।

खाना खाने के लिए संभवतः नीचे घासन पर बैठ जाया था, किन्तु विशेष अवसरों पर धनी लोग कुर्सी-मेज का उपयोग करते थे। खाने-पीने के बर्तन, मिट्टी व लकड़ी के होने के कारण नष्ट हो चुके हैं। कर्कर (Shell) का बना एक चम्मच अवश्य मिला है। उन्हें नाना प्रकार के स्वादु व्यंजन और भोजन खाने का शौक था, क्योंकि मसाने पिलने के बहुत-से सिल-बट्टे यहाँ पाए गए हैं। छोटे-छोटे बेलन और रोटी बनाने के अनेक सचि नाना प्रकार के, स्वादिष्ट भोजनों की सत्ता सूचित करते हैं। सति भाषा में इनके खेवन से जो पाचन-विकास और दुष्परिणाम होते होंगे उनकी सामान्य चिकित्सा तो अनुभवी पृष्ठ और गृहिणियाँ स्वयमेव कर लेती होंगी, किन्तु विशेष रोगों में कुदृढ़ भ्रूय और किलाजीत का प्रयोग होता था। ये दोनों कमर-कायमोर और हिमालय से मँगाए जाते थे। बाजकल भी घासुर्वेद में सिताजीत अय-वन, बिगर तथा सिल्ली की बीमारियों में दिया जाता है।

घामोद-प्रमोद—सामु-घाटी के बालक जिलोनों के बड़े शौकीन थे। सुदाई में वे बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं और मिट्टी, कर्कर (Shell) तथा हाथी-दाँत के बने हुए हैं। बच्चों का सबसे प्रिय जिलोना मिट्टी की बेलगाड़ी थी। मिट्टी के भुल-भुले और पथी (संभवतः भुलभुल) भी मिले हैं। अन्य जिलोनों में बाँस पर चढ़ने वाला जानवर, रस्सी से सिर हिलाने वाला बेल, रस्सी पर ऊपर नीचे चढ़ने वाली घाहियाँ तथा पथी के आकार की सोटियाँ उल्लेखनीय हैं। पुरुषों के प्रधान घामोद-प्रमोद पासे से खेल जाने वाले जुधा आदि खेल, मंभीत, सिकार और पथी लड़ाना था। पासे बनाकार तथा चाटे दोनों प्रकार के मिले हैं। चाटे पासे हाथी दाँत के बने हुए हैं। इनके सब पाश्यों पर विभिन्न संख्याएँ प्रकित हैं। यह निश्चित रूप से पता नहीं लगा कि पासे फेंकना अपने आप में भी कोई खेल था। यह सम्भव है कि इससे चौपड़-बैंगे अन्य खेल खेले जाते थे, क्योंकि एक ईंट पर बिसात के निशान पाये गये हैं। इसमें ११ घर बने हुए हैं, ऐसा समझा जाता है कि किसी बड़े घर के नौकरों में समय काटने के लिये घर के फर्श पर ही बिसात के निशान बना दिये थे और यह ईंट उसी का एक घंसे है। एक अन्य ईंट पर कफड़ियों या दानों से खेले जाने वाले खेल के निशान बने हुए हैं। मृथ के साथ डोल का पहले उल्लेख हो चुका है। उफ और लड़तान भी उस समय संगीत के प्रधान वाद्य प्रतीत होते हैं। मासाहारी होने से इन लोगों में मृगया का व्यसन होना स्वाभाविक था। कुछ मुहरों पर तीर-कमान से जगती बकरी और हिरण के सिकार का दृश्य दिखाया गया है। बड़ी संख्या में पाये गए माहली के कटि माहीपीरी का व्यसन सूचित करते हैं। सम्भवतः सीतर लड़ाने का भी उन्हें शौक था।

पस्त्र और वेला-भूषा—विश्व में कपास की बेटी संभवतः सबसे पहले भारत में हुई। सूती वस्त्रों का व्यापक प्रयोग मोहेंजोदड़ो की विशेषता है, जिस और मेसोपोटामिया में इनका व्यवहार नहीं था। आज से पाँच हजार वर्ष पहले हड़प्पा के भास-पास पंजाब में बाजकल बोंद जाने वाली कपास की बेटी होती थी। यद्यपि इसकी पुनर्जाई के उपकरण लकड़ों के बने होने से वहीं मिले, किन्तु कताई के लिए व्यवहार में आने वाली चकतियाँ (Spindle whorls) प्रचुर मात्रा में मिली हैं। इनके खेदों में लकड़ी या शानु की सीक डालकर इन पर सूत काता और लपेटा जाता है। ये चकतियाँ पकाई मिट्टी, शल और फयान्स की बनी हुई हैं, ऐसा जान पड़ता है कि पहली तकतियाँ निर्धनों की होंगी और बाकी धनियों की। धमीर-नरीक सभी घरों में स्त्रियों सूत की कताई में व्यस्त रहती होंगी। मोहेंजोदड़ो की अधिकांश मूर्तियाँ कौपीन या छोटा लहंगा धारण किए हैं। पुरुषों की वेला-भूषा पर व्याम-मल योधी की शाल-धारिणी मूर्ति से सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उस समय कड़ाई किये हुए शाल की छोड़ने का रिवाज था और इसे दाईं मुड़ा के मोने से बाँधे कन्धे के ऊपर लक डाला जाता था। एक अन्य मूर्ति में यह शाल घुटने तक दिखाया गया है। हड़प्पा के एक टीकरे पर बिरजिस पहने प्रथवा कुब कसकर सीती पहने एक व्यक्ति चित्रित है। स्त्रियों की अधिकांश मूर्तियों में कमर तक कोई वस्त्र नहीं पहनाया गया। कटि-प्रदेश में नारपत्नी से बँधा घुटनों तक एक छोटा लहंगा होता था। कुछ मूर्तियों में पूरी आस्तीन का संस्कार है, परन्तु इनमें कदाचित्त अनाद्युत है। कुछ वस्त्र मिले होते थे, परन्तु बिना मिले वस्त्रों का रिवाज अधिक था।

केश-विन्यास—पुरुष लम्बे बाल रखते थे, माँग बीच में निकाली जाती थी। बालों को एक पीते में बाँधकर रखा जाता था प्रथवा बालों का जुड़ा बनाया जाता था। पुरुष छोटी या छोटवाई हुई दाढ़ी रखते थे। स्त्रियाँ प्रायः बेनी बाँधती थीं और पूँछे का भी रिवाज था जैसा कि नर्तकी की मूर्ति से स्पष्ट होता है।

घरों के काम होने पर भी मोहेंजोदड़ो में धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष सभी को आभूषणों का बड़ा शौक था और भूगार में बड़ी अनिच्छा थी। स्त्रियों की शिरोभूषा मंसे के छातार की थी और ये सिर पर बाने, चांदी, ताम्र, पीले के शङ्ख-आकार के जेवर पहनती थीं। माथे पर एक चौड़ीजन्व या पीता होता था। कानों की बालियाँ और नथों का काफी रिवाज था। लुदाई में कण्ठहारों के कई सुन्दर नमूने मिले हैं। ये लाजवर्द, धकीक, मोमेद, संमसुदेवानी, फिरोजा, मगन, चादि विविध प्रकार की मणियों की गुरियों की लड़ियों के बने होते थे। मोहेंजोदड़ो में चुड़ियाँ और कंगन बहुत अधिक पसन्द किये जाने वाले आभूषण थे। न केवल नर्तकियों की किन्तु देवताओं की बाहें भी चुड़ियों से ढकी होती थी। स्त्रियों की दो मणि-जटिल करबनियाँ भी मिली हैं। पुरुष हार, धमद और धमदियाँ पहनते थे और जान बाँधने के लिए सोने-चाँदी के पतले तारों का व्यवहार करते थे।

स्त्रियों की शृङ्गार-प्रियता खुदाई में पाये गए मिगारदानों से सूचित होती है। ये हाथी-दाँत, धातु और मिट्टी के बने हुए हैं। चमकीली मिट्टी के अनेक छोटे-छोटे मिगारदानों, इन तथा विविध प्रकार की छोटी शिखियों में बने सिन्दूर, महावर, काजल आदि के धर्मों से यह ज्ञात होता है कि पीछे हजार वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत की तराईयाँ अपनी रूप-सज्जा आधुनिक स्त्रियों की भाँति किया करती थीं, यद्यपि उस समय-वर्तमानकाल के बीच के वर्षण नहीं थे और उन्हें सूख भिन्न कर चमकाये हुए कमि के आइनों से सज्जित करना पड़ता था। स्त्री-युग्म दोनों बालों की सफाई के लिए कसि के छोटे उत्सवों का प्रयोग करते थे, क्योंकि ये खुदाई में बहुत अधिक संख्या में पाये गए हैं।

कला-कौशल—सिन्धु-सभ्यता की प्रधान कलाएँ मिट्टी के बर्तन, प्रस्तर-भूतियाँ मुहरें तथा जेवर बनाना है। मिट्टी के बर्तन चाक पर बनाये जाते थे और उन्हें धान के बजाय परती पर कानों के ऊपर ईंधन जलाकर पकाया जाता था। पकाने से पहले हारमुख (ईरान की खाड़ी) से आने वाले गेरु के इन पर एक लाल धब्बों देकर उस पर काने पेंट से नाना प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। परस्पर काटने वाले मुक्तों के विजाइन (तरह या भाँति) इस सभ्यता की विशेषता है, जो अन्धधुंध कहीं नहीं मिलते। इसके प्रतिरिक्त विभूज आदि अनेक ज्यामितिक रूप भी मिलते हैं। पेटों तथा पशु-पक्षियों के रूप को भी चित्रित किया जाता था। मोहेंजोदड़ो के आधिकार्य बर्तन बिलकुल सादे हैं। जो चित्रित हैं, वे प्रायः एक ही रंग के हैं। अनेक रंगों से चित्रण के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। बहुवर्णीय मृत्पात्र मोहेंजोदड़ो से ८० मील दक्षिण अमरी तथा १३० मील उत्तर-पश्चिम नाल में पाये गए हैं और ये हड़प्पा-सभ्यता के पुराने चिह्न समझे जाते हैं। मिट्टी के बर्तनों पर चमकीला लेप (Glaze) खाने की भी रखाव था, बिल्ली के पीस कर तथा उसमें श्लेषक द्रव्य मिलाकर मिट्टी के बहुत सुन्दर चिकने बर्तन भी बनाये जाते थे।

कला की दृष्टि से हड़प्पा की दो प्रस्तर-भूतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्रारम्भिक भारतीय कला-सम्बन्धी विचारों में आग्नि उत्पन्न की है। मर्दान को इनके निवासन पर कुछ समय तक यह समझ बना रहा कि ये प्रागैतिहासिक नहीं हो सकतीं। इनमें एक तो तात पत्थर का पथ है और दूसरी हार्ड टॉग उठाने एक नर्तक की मूर्ति है, जो सनवतः नटराज चित्र है। दोनों मूर्तियों की सरलता, सजीवता और यथार्थता घुतानी-कला के आदिमभाव से पहले अन्धधुंध कहीं नहीं मिलती।

मुहरों पर सिन्धु-कला अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है। ये प्रायः गोलगोली के पावर की बनी हैं। इन पर अंकित बैल, बाघ, भैंस आदि जानवरों के चित्र बड़े सजीव और यथार्थ हैं। इन पर कुछ लिपि-चिह्न भी बने हुए हैं, किन्तु ये अभी तक पढ़े नहीं जा सके। लौह तथा दाम में पाया जाने वाला स्वास्तिक चिह्न भी इन पर बना हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि ये मुहरें धार्मिक महत्त्व रखती हैं। यह

कल्पना भी की गई है कि इन्हें मोहेंजोदड़ो-निवासी अपने घरीर पर ताबीजों की भाँति धारण करते थे। नाना प्रकार की मणियों तथा सोने-चाँदी से बनाये जाने वाले आभूषणों की वर्षा पहले की जा चुकी है। कर्पूर और हाथी-दाँत की कारीगरी भी उस समय काफी उन्नत थी।

उद्योग-धन्ये तथा व्यापार—सिन्धु-सभ्यता का सबसे बड़ा उद्योग कृषि था। हड़प्पा के विशाल अन्नागार से स्पष्ट है कि यौव हजार वर्ष पूर्व भी पंजाब में ही के उत्पादन का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस अन्नागार के साथ ही आटा पीसने वाले मजदूरों की उल्लसनुमा चककियाँ और निवास-गृह मिले हैं। दुनिया में संघटित उद्योग का यह प्राचीनतम उदाहरण है। कलाई-बुनाई भी वहाँ का एक लोकप्रिय उद्योग था, किन्तु यहाँ का सबसे बड़ा धन्ये व्यापार था। यही इसकी समृद्धि का प्रधान कारण था। मोहेंजोदड़ो में पाई गई वस्तुओं से यह ज्ञात होता है कि यहाँ के व्यापारी भारत के विभिन्न प्रांतों तथा विदेशों में अनेक प्रकार की वस्तुएँ मँगाने में। मकानों की छतों में हिमालय के ऊँचे वालों पर उगने वाले देवदारों के पेड़ों की कड़ियाँ पड़ती थीं। इवाइयों के लिये काश्मीर से कुरंग शृङ्ग तथा हिमालय के प्रदेशों से शिलाशीत मँगवाया जाता था, वहाँ का ताँबा, गेहूँ तथा जामनी स्फटिक बिहार से आता था, जेदाइट का स्रोत बर्मा और चीन कहे जाते हैं। सलवर और जयपुर का ताँबा, अजमेर का गीसा, राजपूताने की सेलजडो और हरसोठ मोहेंजोदड़ो में काफी वरता जाता था। सोना और कस्साइट सैमूर तथा दक्षिण भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध का सूचक है। मोहेंजोदड़ो में राज लम्मात, पाक तथा मनार की खादियों से लाये जाते थे। अतः मोहेंजोदड़ो के व्यापारी उत्तर में हिमालय और दक्षिण में रामेश्वरम् तक स्वयं पहुँचते थे अथवा अन्य मध्यवर्ती व्यापारियों से इन प्रदेशों का सामान मँगाने में।

वैद्यवाहियों और मधे उस समय व्यापारिक मान की हुलाई के प्रधान साधन थे, इनके भी कुछ विज्ञ मिले हैं। नौकाओं का प्रयोग होता था। मोहेंजोदड़ो का विदेशी व्यापार प्रधान रूप से अफगानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया के साथ होता था। व्यापार की उन्नति बहुत अधिक संख्या में पाये गए बाटों तथा घटखरों से विदित होती है। इतनी अधिक संख्या में बाट अब तक किसी दूसरे स्थान से नहीं मिले। इन बाटों में एक निश्चित अनुपात है। ये चर्ट (Chert) नामक सख्त पत्थर से बनी सावधानी से बनाये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राज्याधिकारियों के कड़े निरीक्षण में बनते थे।

सिन्धु-सभ्यता का काल—मोहेंजोदड़ो से पाई गई वस्तुओं का मेसोपोटामिया (ईराक) के प्राचीन उर आदि शहरों के उत्खनन से निकले सुमेरी-सभ्यता के पदार्थों के साथ महार सादृश्य पाया गया है। कुछ भारतीय मुहरें भी वहाँ पाई गई हैं। अतः मोहेंजोदड़ो की सभ्यता का काल-निर्धारण सुमेरी-सभ्यता के आधार पर किया गया है। पहले इस सभ्यता की सबसे उपरली बस्ती का काल २७५० ई० पू० समझा

जाता था। मोहेंजोदड़ो में बस्तियों के सात स्तर मिले हैं। इम आदि में ऐसे प्रत्येक स्तर को १०० वर्ष का समय दिया जाता है। मोहेंजोदड़ो में बाढ़ आदि के कारण नई बस्तियाँ जल्दी बसती नहीं हैं। अतः वहाँ के सात स्तरों के विकसित होने का समय ५०० वर्ष ही माना गया है, अतः पहले इसके सात स्तरों का काल २२५०—२०५० ई० पू० माना जाता था, किन्तु बाद में मेतोपोडामिया के लिपि-कम में परिवर्तन होने तथा सुमेर, एलम व मिस्र के खिन्नित मृत्पात्रों की समानता के आधार पर इस सम्पत्ता का आधिकाल लगभग २५०० ई० पू० समझा गया। इस सम्बन्ध में मोहेंजोदड़ो की कुछ विशेषताएँ स्मरणीय हैं। यहाँ की सबसे निचली तह के बाढ़ पानी निकल जाने से इस सम्पत्ता की आरम्भिक दशा का कुछ परिचय नहीं मिलता। सातों तहों के सहरों में इतना अधिक साम्य है कि ऐसा प्रतीत होता है कि चिरकाल तक दक्षिणी घमरीका की सम्पत्ता की भाँति यह भी एक ही अवस्था में सर्वथा अपरिवर्तित बनी रही। यह सम्पत्ता इतने उन्नत रूप में है कि इसके विकसित होने में काफी समय लगा होगा। सीमान्तरण कुछ अन्य स्थानों से मोहेंजोदड़ो से पहली और पिछली सम्पत्ताओं का पता लगा है। घमरी (सिन्ध) की पुरानी सम्पत्ता ३००० हजार ई० पू० की है। इसके बाद मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की सम्पत्ताओं का विकास हुआ और इनके बाद भूकर और ऋगर सम्पत्ताएँ फली-फूली।

सिन्धु-सम्पत्ता के निर्माता—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में भूत आग्नेयाम, भूमध्यसागरीय, आल्पाइन और भगील नामक चार नस्लों के अस्तित्व-पञ्जर पाये गए हैं, किन्तु इनमें प्रधानता भूमध्यसागरीय नस्ल की है। यह स्पष्ट है कि इस सम्पत्ता में काफी अन्तर्मिश्रण था। महान् व्यापारिक केन्द्र होने से इन सहरों में विभिन्न देशों और जातिपों के व्यापारी आते थे। इस सम्पत्ता के निर्माताओं के द्रविड़, बाहुई, सुमेरियन, पणि, घसुर, ब्राह्म, दास, नाग अथवा आर्य होने की घनेक कल्पनाएँ की गई हैं। इस समय इन्हें द्रविड़ मानने वालों का बहुमत है, किन्तु इसमें कई दोष हैं। दोनों की आन्तर्गोष्ठ-व्यति में बहुत बड़ा अन्तर है। यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि द्रविड़ों की सम्पत्ता होते हुए भी वर्तमान द्रविड़-व्यपान दक्षिणी भारत में इसके कोई अवशेष नहीं मिले, अतः इस सम्पत्ता के द्रविड़ों द्वारा निर्माण होने में पर्याप्त संशय है। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिन्धु-सम्पत्ता एक ठोका तारे की तरह प्रतीत होता है जो संहता घञ्जाट प्रदेश से प्रकट होकर कुछ समय के लिए खूब चमकता है। इसका उद्गम अनिश्चित है और अन्त के सम्बन्ध में भी यही कल्पना है कि बाढ़ और आकस्मिक इसका आकस्मिक अन्तगान के प्रधान कारण थे। यह निश्चित नहीं कि ये आकस्मिकारी आर्य थे या अन्य कोई जाति। वैदिक आर्यों से इनका क्या सम्बन्ध था यह भी बड़ा जटिल प्रश्न है। मोहेंजोदड़ो की लिपि पढ़े जाने के बाद ही इन समस्याओं का समाधान होगा।

अभी तक मोहेंजोदड़ो की सभ्यता की समाप्ति के काल १५०० ई० पू० से छठी सदी ई० पू० तक के काल को भारतीय पुरातत्त्व का धन्य युग कहा जाता था। क्योंकि इस काल पर धन्यकार का पर्दा पड़ा हुआ था। पिछले १२ वर्षों में भारत के पुरातत्त्व विभाग ने ऐसे स्थानों की खुदाई विशेष रूप से करायी है, जो इस धन्य-युग पर प्रकाश डाल सकें। ऐसी खुदाई हस्तिनापुर (जि० मेरठ), अरिपमेडु (पांडिचेरी के निकट), सिन्धुनालक (उड़ीसा), कुम्हारहाट (प्राचीन पाटलिपुत्र), कौशाम्बी (जि० इलाहाबाद के निकट कोसम), तामलुक (जि० मिदनापुर), राजगिर (बिहार), रोपड़ (जि० धनबाद), नेवादा (अहमदनगर), महेश्वर, उज्जैन, शालिह्वंम् (बी काकुलम्-आन्ध्रप्रदेश), रंगपुर (जि० झालावाड़) तथा सोपल (जि० अहमदाबाद) में हुई है। इनमें अन्तिम स्थान की खुदाई मोहेंजोदड़ो सभ्यता की दृष्टि से असाधारण महत्व रखती है। अतः यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

सोपल की खुदाई—यह स्थान गुजरात राज्य के अहमदाबाद जिले में सम्भाव की खाड़ी के निकट है, दो मील के घेरे में फैला हुआ है तथा समीपवर्ती मैदान से १८ फुट ऊँचा उठा हुआ टीला है। पिछले कई वर्षों से यहाँ पुरातत्त्व की खुदाई हो रही है। भारत-विभाजन के पश्चात् सिन्धु-सभ्यता के प्रधान स्थान मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा पाकिस्तान में चले गये। इस पर भारतीय पुरातत्त्वज्ञों ने इस सभ्यता के धन्य ऐसे स्थानों की खोज आरम्भ की, जो सिन्धु-सभ्यता के उद्गम-विकास और ह्रास की समस्याओं पर प्रकाश डाल सकें। १९५४ से १९५९ तक पुरातत्त्विक सर्वेक्षण द्वारा कच्छ तथा गुजरात में ऐसे साठ स्थानों का पता लगा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान सोपल है। यहाँ से अब तक १७००० पुरातत्त्विक वस्तुएँ तथा अवशेष मिल चुके हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में मोहेंजोदड़ो के सांघुदिक व्यापारियों को सोपल में कई बारगों से आकृष्ट किया। यह एक नदी के मुहाने पर बड़ा सुरक्षित बन्दरगाह है, यहाँ से नदी के मार्ग द्वारा प्रचुर मात्रा में कपास तथा गेहूँ उतारने करने वाले गुजरात के वास्तव्यामल मैदान में सुगमता से पहुँचा जा सकता है। उत्खनन से यह प्रतीत होता है कि इस बन्दरगाह को बसाने वालों में तथा इसे नष्ट करने वाली नदी की बाढ़ में निरन्तर संघर्ष चलता रहा। कम से कम चार बार भीषण बाढ़ ने इस नगर को विध्वस्त किया था। तीसरी बार की बाढ़ ने नगरवासी समूची जनता को भारी क्षति उठाकर यहाँ से हटना पड़ा। बाढ़ से नगर की रक्षा के लिये बनाये गये कई बड़े बचतरे (Platform) खुदाई में मिले हैं। यहाँ २८ फुट की गहराई तक पाँच बार इसके बसने के प्रमाण मिले हैं। किन्तु संस्कृति की दृष्टि से इन पाँच संस्कारों को दो भागों में बाँटा जाता है—पहली अवस्था सोपल ए (Lothal A) कहलाती है, यह २५६० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रहने वाली वास्तविक एवं परिपक्व हड़प्पा संस्कृति वाली दशा है। दूसरी सोपल बी (Lothal B) १५०० ई० पू०

से १००० ई० पू० तक रही है, यह हड़प्पा संस्कृति की ह्रासकालीन दशा है। यद्यपि लोथल हड़प्पा से १००० मील की दूरी पर बना हुआ है, किन्तु यहाँ की पहली अवस्था हड़प्पा की संस्कृति से गहरी समानता रखती है।

अपने समूहिकाल में लोथल मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की भाँति मृनिर्गोजित (Well Planned) नगर था, पूर्व योजना के अनुसार छः आयताकार खण्डों में बसाया गया था। दक्षिणी भाग के तीन खण्ड अधिक ऊँचाई पर बसे हुए थे। बस्ती के उत्तरपूर्व में कब्रिस्तान तथा पूर्व में किश्तियों और जहाजों के ठहरने का स्थान—पत्तन या बन्दरगाह (Dockyard) था। चार सड़कों और छोटे पथ सुवाई द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं। एक सड़क के उत्तर में सीधी पंक्ति में बने हुए १२ मकान मिले हैं, इन सब में स्नानागार हैं और इनका सम्बन्ध एक सार्वजनिक नाली (Public Drain) के साथ है। यहाँ की प्रणाली व्यवस्था (Drainage System) हड़प्पा मोहेंजोदड़ो के गहरों जैसी है। नालियाँ खुली और ढकी हुई दोनों प्रकार की हैं। नालियों को साफ करने तथा कूड़ा-कचरा बालने के लिए लूँदियाँ तथा सोकता गड्ढे (Soak pits) बने हुए हैं। घरों की फर्शबन्दी ईंटों से की गई है। दक्षिणी भाग में बाड़ से रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की गई है, इससे यह प्रतीत होता है कि इस हिस्से में सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण समझे जाने वाले व्यक्ति रहते थे। 'निचली बस्ती' के केन्द्र में बाजार है। बाजार में दोनों ओर दुकानें हैं। इनमें मिले अवशेषों के कारण एक ठोरे तथा चूड़ी बालने की दुकानें पहचानी गई हैं। एक व्यापारी के घर से स्तेलाइट (Steatite) की मूहरें, ताँबे की चूड़ी, सो स्वर्णसुषण (Gold pendants) तथा हड़प्पा संस्कृति के समान विभिन्न प्रकार के मूल्यान मिले हैं। निचली बस्ती के पश्चिमी खण्ड में मुरियाँ (Beads) बनाने का कारखाना मिला है।

नगर के पूर्व में जहाजों तथा किश्तियों के ठहरने के लिए एक विशाल लोथल (Dockyard) बना हुआ है। हड़प्पा संस्कृति वालों द्वारा ईंटों द्वारा बनाई हुई यह सबसे बड़ी रचना (७२० फीट × १२० फीट) है। लोथल के निकट गोवा का बन्दरगाह है, यहाँ प्रायः तक ज्वार के समय किश्तियों को ठहराने के लिए कच्ची मिट्टी के बाँध से बना हुआ लोथल है। किन्तु लोथल का लोथल अधिक अच्छा था, इसमें बाँध बनाने के लिए भट्टों में पकाई हुई ईंटों का प्रयोग किया गया था। समुद्र के पास स्थल के भीतर जाने वाला ३२ फीट चौड़ा जलमार्ग खोदा गया था। पूर्व की ओर बनाए गये बाँध में इतना ही चौड़ा रास्ता रखा गया और ज्वार के समय समुद्र में पानी बड़ने पर इस मार्ग से लौटाये इस पत्तन में आ जाती थी। बाँध के समय में भी पत्तन में पानी बनाये रखने के लिए एक छोटी दीवार बनाई गई थी। दक्षिणी दिशा में बने बाँध में प्राचण्यकता से अधिक पानी को निकासने के लिए एक प्रणाली (Spill channel) बनी हुई थी। इस पर बने हुए लकड़ी के दरवाजों से पानी के स्तर को भी नियन्त्रित किया जाता था। पश्चिमी बाँध के पास ८०० फुट

जम्वा प्लेटफार्म किशिमो और जहाजी का भाल उतारने तथा बढ़ाने के लिये बना हुआ था। वहाँ परवर के कुछ तंगर तथा मस्तूल वाली लौका की एक मूर्ति भी मिली है। इससे प्रतिरिक्त बन्दरगाह के सामने कच्ची ईंटों से बने १२ फीट ऊँचे, १३५ फीट चौड़े तथा १४५ फीट लम्बे प्लेटफार्म पर कच्ची ईंटों से बने १२ टोल तनाकार लकड़ (Solid cubical Blocks) मिले हैं। वहाँ से सिन्धु सभ्यता के लेखवालों ७५ मुहरें और पशु मूर्तियाँ मिली हैं। इन से यह कल्पना की गयी है कि यहाँ मिट्टी की बनी हुई छोटी मूर्तियों तथा वस्तुओं को पकाया जाता था।

इस स्थान की खुदाई से हड़प्पा संस्कृति के धार्मिक विश्वासों पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ा है। वहाँ कई घरों में कच्ची ईंटों के घासताकार या गोलाकार घेरे मिले हैं, इनमें राख, उंगलियों के निशानों से अंकित गोलियाँ, पकाई मिट्टी के तिकोने टुकड़े पाये गये हैं। सम्भवतः ये हवन कुण्ड थे और वहाँ के निवासी अग्निपूजा, अग्निहोत्र आदि करते थे। दो घरों में कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले चित्रित घड़े भी मिले हैं। एक घेरे में बैल की पुरानी जली हुई हड्डी, राख, मिट्टी के टीकरे, स्वर्णोत्करण पाये गये हैं। इन वस्तुओं से यह परिणाम निकाला गया है कि सामय यहाँ पशुमेध की परिपाटी प्रचलित थी। तीन कक्षों में दो खरीरों के अवशेष पाए गये हैं। यदि आधी वैज्ञानिक अनुसंधान से यह सिद्ध हो जाता है कि ये तर-नारी के अवशेष हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि हड़प्पा संस्कृति में पति की मृत्यु पर पत्नी के सती होने की पद्धति प्रचलित थी।

पश्चिमी भारत के तट पर एक प्रचलित बन्दरगाह होने के कारण लोवल का विवेसी के साथ सम्बन्ध था। वहाँ से मिले हुए कुछ मत्स्य मसोपाटासिया में उर नामक स्थान के अलडर्वेड और उसके स्तरों (Levels) में से मिले मत्स्यों से कुछ आनुष्य रखते हैं, एक मूर्ति की दोली नाक सुमेरियन मूर्तियों का स्मरण कराती है। १५०० ई० पू० के लगभग नदी की भीषण बाढ़ से साबरमती नदी की घाटी की इस संस्कृति का अन्त हो गया। लोवल में प्राप्त वस्तुओं के सूक्ष्म अध्ययन से सिन्धु-सभ्यता की जटिल समस्याओं पर अविष्य में नया प्रकाश पड़ने की आशा है।

वैदिक साहित्य और संस्कृति

वेदों का महत्त्व—भारतीय संस्कृति का मूल वेद है। ये हमारे सबसे पुराने धर्म-ग्रन्थ हैं और हिन्दू धर्म का मुख्य आधार हैं। इसीलिए हमारे यहाँ जो-कुछ वेद-विहित है, वह धर्म समझा जाता है और उसके प्रतिकूल स्मृतियों और गुराणों में प्रतिपादन होने पर भी धर्म में है। न केवल धार्मिक किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी वेदों का असाधारण महत्त्व है। वैदिक युग के धर्मों की संस्कृति और सम्पत्ता जानने का एक-मात्र साधन यही है। विश्व के बाहु-मय में इनसे प्राचीनतम कोई पुस्तक नहीं है। मानव जाति और विशेषतः धर्म जाति ने अपने जीवन में धर्म और समाज का किस प्रकार विकास किया, इसका ज्ञान वेदों से ही मिलता है। धर्म भाषाओं का मूल स्वरूप निर्धारित करने में वैदिक भाषा बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई है।

वैदिक साहित्य—हमारी संस्कृति के प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला वैदिक साहित्य निम्न भागों में बँटा है— (१) संहिता, (२) ब्राह्मण और आरण्यक, (३) उपनिषद्, (४) वेदांग, (५) सूत्र-साहित्य।

संहिता—संहिता का धर्म है संग्रह। संहिताओं में देवताओं के स्तुतिपरक गीतों का संकलन है। संहिताएँ चार हैं : (१) ऋक्, (२) यजु, (३) साम, (४) अथर्व। इन संहिताओं के संकलन का श्रेय महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को दिया जाता है। वेदव्यास का शास्य है—वेद का वर्गीकरण करने वाला। वेद का सर्व है ज्ञान। वेदव्यास ने अपने समय के सम्पूर्ण ज्ञान का साधुनिक विश्व-कोष-निर्माताओं की भाँति वर्गीकरण किया। यह स्मरण रखना चाहिए, वह इस ज्ञान का संपादक है, निर्माता नहीं। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नहीं हुई। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने इनका प्रकाश धम्मि, ब्रह्म, आदित्य और अग्निरा नामक ऋषियों को दिया। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता और ऋषि होता है। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाय वह उस मन्त्र का देवता है और जिसने मन्त्र के शब्द का सर्वप्रथम दर्शन किया हो वह उसका ऋषि है। पाञ्चाय विद्वान् ऋषियों को ही वेदमन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक साहित्य की श्रुति भी कहा जाता है, क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ग्रहण किया था। बाद में इस ज्ञान की स्मरण करके जो मनुष्य लिखे गए, वे स्मृति कहलाएँ। श्रुति के शीर्ष-स्थान पर उपर्युक्त चार संहिताएँ हैं।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में १०,६०० मन्त्र और १,०२० सूक्त हैं, वे दस भगवतों में विभक्त हैं। मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियाँ हैं, वे बड़ी भव्य उच्चारण और काव्यमयी हैं। इनमें कल्पना की नवीनता, यशों की प्रीति और प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' धादि कई देवताओं के वर्णन बड़े हृदयवादी हैं। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद की संहिता की सबसे प्राचीन मानते हैं, उनका विचार है कि इसके अधिकांश मन्त्रों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य घक्रान्तिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेश में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद में कुमा (कावुल), मुक्तानु (देवात), तमु (कुर्रम), गोमती (गोमती), सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती तथा पंजाब की गौच नदियाँ अतल्लु (सतलुज), विपाश (स्वप्न), परुष्णी (रावी), सतिस्ली (चनाब), और विस्ती (भेनस) का उल्लेख है। इन नदियों के सिन्धुवा प्रदेश भारत में आर्य-सभ्यता का जन्म-स्थान माना जाता है।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है, इनका प्रयोग यज्ञ के समय यजुर्वेद नामक पुरोहित किया करता था। यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे ऋग्वेद से काफी समय बाद का मानते हैं। ऋग्वेद में प्राचीन काव्य-शैली प्रकाश है, इसमें कुरु-प्रधान। कुरु सतलुज यमुना का सम्मिलित भू-भाग (वर्तमान भग्नाभा विन्नी-जन) है और प्राचात गंगा-यमुना का गोदाव। इसी समय से गंगा-यमुना का प्रदेश आर्य सभ्यता का केन्द्र हो गया। ऋग्वेद का धर्म उपनिषद्-प्रधान था, किन्तु यजुर्वेद का यज्ञ-प्रधान। यज्ञों का प्राधान्य होने से ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ने लगा। यजुर्वेद के दो भेद हैं—इण्य यजुः और शुक्ल यजुः। दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है, पहले में केवल मन्त्रों का संग्रह है और दूसरे में छन्दोबद्ध मन्त्रों के साथ पद्यारम्भ-भाग भी है।

सामवेद—इसमें गेय मन्त्रों का संग्रह है। यज्ञ के अन्तर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। इस गायन को 'साम' कहते थे। प्रायः ऋचाएँ ही गाई जाती थीं। अतः समस्त सामवेद में ऋचाएँ ही हैं। इनकी संख्या १,५४६ है। इनमें से केवल ७५ ही नई हैं, बाकी सब ऋग्वेद से ली गई हैं। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद—इसका यज्ञों से बहुत कम सम्बन्ध है। इसमें जादुई-सम्बन्धी सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की औषधियाँ, ज्वर, पीसिया, सर्पदंश, विष के प्रभाव को दूर करने के मन्त्र, सूर्य की स्वास्थ्यवर्धक, रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा विभिन्न बीमारियों को नष्ट करने के उपाय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे जादु टोने और धर्म-विश्वास का भण्डार मानते हैं। वे इसमें आर्य और अनार्य धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते हैं, किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति तथा समाज-शास्त्र के घने ऊँचे सिद्धान्त हैं। इसमें २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १३१ अनुवाक,

१३३१ सूक्त तथा ५,८३६ मन्त्र हैं। इनमें १,२०० के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं।

शाखाएँ—प्राचीन काल में वेदों को रक्षा मुन-सिष्य-परम्परा द्वारा होती थी। इनका लिखित रूप निश्चित स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद माने गए और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थीं :—शाकल, वाष्कल, धात्यलान्त, शाखायन व माण्डूकेय। इनमें अब पहली शाखा ही उपलब्ध होती है। मुक्त यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएँ हैं—मान्यदिन और काण्व। पहली उत्तरी भारत में मिलती है और दूसरी महाराष्ट्र में। इनमें अधिक भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएँ चार शाखाएँ मिलती हैं—तैत्तिरीय मैत्रायणी, काठक, कठ तथा कापिष्ठल संहिता। इनमें दूसरी-तीसरी पहली से मिलती हैं, कम में ही बड़ा अन्तर है, चौथी संहिता काफी ही मिली है। सामवेद की शाखाएँ थीं :—कौथुम और राजाप्रसीय। इनमें कौथुम का केवल सातवाँ प्रपाठक मिलता है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—ऐपलाद और शौनक।

ब्राह्मण ग्रन्थ—संहिताओं के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनमें यज्ञों के कर्म-काण्ड का विस्तृत वर्णन है, साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएँ तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचार हैं। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—(१) ऐतरेय और (२) कौषीतकी। ऐतरेय में ४० अध्याय और छठ पंचिकाएँ हैं, इसमें अग्निष्टोम, नवाममन, द्वादशाह आदि सोमयागों, अग्निहोत तथा राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन है। कौषीतकी (शाखायन) में ३० अध्याय हैं परन्तु विषय ऐतरेय ब्राह्मण जैसा ही है। इनसे उपरकाशीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय में बुनःशेष की प्रसिद्ध कथा है। कौषीतकी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। मुक्त यजुर्वेद का ब्राह्मण अतपस के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें १०० अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यातियाँ, व्युत्पत्तियाँ तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पांचाल यार्म संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, अश्विन ऋषि तथा महाप्रसन्न का आख्यात, जनमेजय, शकुन्तला और भरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविश या ताण्ड्य ही महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपय' के नाम से प्रसिद्ध है।

धारण्यक—ब्राह्मणों के अन्त में कुछ ऐसे अध्याय भी मिलते हैं जो गाँवों या नगरों में नहीं पढ़े जाते थे। उनका अध्ययन-अध्यापन गाँवों से दूर परम्पों (वनो) में होता था। अतः इन्हें धारण्यक कहते हैं। पृष्ठस्थावम में वन-विधि का निर्देश करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ उपयोगी हैं और उनके बाद वातप्रस्थ आधम में वनवासी धर्म

यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करने वाले धारण्यों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं धारण्यों से विकास हुआ।

उपनिषद्—उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के सूक्ष्म प्रणों की सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देवीधर्माल रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अंत में होने से ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक उड़ान ली गई है। भारतीय ऋषियों ने मंदीर-तम चिन्तन से जिन अध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद् उनका समुच्च कोष है। इनमें अनेक शक्तियों की तत्त्व-चिन्ता का परिचय है। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों से सम्बद्ध १०२ उपनिषद् गिनाये गए हैं, किन्तु ११ उपनिषद् ही अधिक प्रसिद्ध हैं :—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और इवेतावतार। इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

सूच-साहित्य—वैदिक साहित्य के विद्याल एवं बँटित होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विद्यालयों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम धर्मों में अधिक-से-अधिक धर्म-प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाने लगे। इन सार समित वाक्यों को सूच कहा जाता था। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूच-साहित्य को चार भागों में बाँटा गया—(१) श्रौत सूच, (२) गृह्य सूच, (३) धर्मसूच, और (४) शुल्ब सूच। पहले में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है। दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का, तीसरे में सामाजिक नियमों का और चौथे में यज्ञ-वेदियों के निर्माण का। श्रौत का धर्म है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याम। अतः श्रौत सूचों में तीन प्रकार की धर्मियों के आधान, अग्निहोत्र, दश-योर्योनात, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयामों का वर्णन है। वे भारत की प्राचीन यज्ञ-व्यवस्था पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूच हैं—शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक—कारपायन, कृष्ण यजुर्वेद के छः सूच हैं :—शापस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बीषाघन, भारद्वाज, मानव, वैशानस। सामवेद के नाट्यायन, ब्राह्मयण और आप्ये नामक तीन सूच हैं। अथर्ववेद का एक ही श्रौत सूच है।

गृह्य सूच—इसमें उन आचारों तथा क्रम से भरण पचन किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है जिनका अनुष्ठान अत्यंत हिन्दू-गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार का विस्तार से वर्णन है। इन कर्मों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का तथा विभिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। ऋग्वेद के गृह्य सूच शांखायन और आश्वलायन हैं। शुक्ल यजुर्वेद का वारस्कर, कृष्ण यजुर्वेद के शापस्तम्ब, हिरण्य-

वेदाङ्गी, बौधायन, मानव, शाठक, वैश्वानर, सामवेद के गोभिल तथा सादिर और अथर्ववेद का कौशिक । इनमें गोभिल प्राचीनतम है ।

धर्म सूत्र—धर्म सूत्रों में सामाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से प्रतिपादन है । वर्णाश्रम-धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्तव्यों, विवाह के भेदों, दान की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, प्रामादिक आदि का विशेष वर्णन है । इन्हीं धर्म सूत्रों से आगे चलकर स्मृतिपत्रों की उत्पत्ति हुई, जिनकी व्यवस्थाएँ हिन्दू-समाज में आज तक माननीय समझी जाती हैं । वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्म सूत्र ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं—आपस्तम्ब, त्रिष्वकेयी व बौधायन । ये यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं । अन्य धर्म सूत्रों में गौतम और बलिष्ठ उत्तरेतनीय हैं ।

धुल्ल सूत्र—इनका सम्बन्ध थोड़े सूत्रों से है । धुल्ल का अर्थ है मापने का डोरा । धरने नाम के अनुसार धुल्ल सूत्रों में यज्ञ-वेदियों को मापना, उनके लिए स्थान का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है । ये भारतीय व्याभिक्ति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं ।

वेदांग—काशी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य षट्ठिन एवं षट्ठिन प्रतीत होने लगा । उस समय वेद के धर्म तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थ लिखे जाने लगे । इसलिए इन्हें वेदांग कहा गया । वेदांग छः हैं—विज्ञा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष । पहले बार वेद ग्रन्थों के कुछ उच्चारण और धर्म समझने के लिए तथा अन्तिम दो धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक हैं । व्याकरण को वेद का मूल कहा जाता है; ज्योतिष को मेष, निरुक्त को भोज, कल्प को शाप, मिथ्या को साधिका तथा छन्द को दोनों पैर ।

विज्ञा—उन ग्रन्थों को विज्ञा कहते हैं, जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता था । वेद-पाठ में स्वरों का विशेष महत्त्व था । इनकी शिक्षा के लिए दृष्टक वेदांग बताया गया । इसमें वर्णों के उच्चारण के अनेक नियम दिये गए हैं । संसार में उच्चारण-शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही हैं । वे वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्राविशाल्य कहलाते हैं । आपस्तम्ब, अथर्ववेद, मानवसमी व तैत्तिरीय संहिता के प्राविशाल्य मिलते हैं । बाद में इनके आधार पर विशा-ग्रन्थ लिखे गए । इनमें यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-विज्ञा, सामवेद की तारक-विज्ञा और पार्थिव की पार्थिवीय-विज्ञा मुख्य हैं ।

छन्द—वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध हैं । छन्दों का ठीक ज्ञान प्राप्त किए बिना, वेद-ग्रन्थों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता । अतः छन्दों की विस्तृत विवेचना आवश्यक समझी गई । सौतक पुनि के ऋग्व्याख्या में, शांखायन श्रौतसूत्र में तथा सामवेद से सम्बद्ध निदान सूत्र में इस शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है । किन्तु इस वेदांग का

एक-मात्र स्वतन्त्र ग्रंथ विमलाचार्य-प्रणीत छन्दःसूत्र है। इसमें वैदिक, और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

व्याकरण—इस वेदांग का उद्देश्य सन्धि, शब्द-रूप, धातु-रूप तथा इनकी निर्माण-प्रकृति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ पाणिनि की अष्टाध्यायी है। किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से शुरू हो गया था। पाणिनि से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान् धारणाएँ हो चुके थे। इन सबके ग्रन्थ अब लुप्त हो चुके हैं।

निरुक्त—इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताई जाती थी, प्राचीन काल में वेद के कठिन शब्दों की अमबद्ध तालिका और कोश निर्भर कहलाते थे और इनकी व्याख्या निरुक्त में होती थी। आजकल केवल वात्स्यायन का निरुक्त ही उपलब्ध होता है। इसका समय ७०० ई० पू० के लगभग है।

ज्योतिष—वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य मर्जों का प्रति-पादन करना है। यह उचित काल और मुहूर्त में किये जाने से ही फलदायक होते हैं। अतः काल-ज्ञान के लिए ज्योतिष का विकास हुआ, यह वेद का अंग समझा जाने लगा। इनका प्राचीनतम ग्रन्थ लगभग मुनिर्वाचन वेदांग-ज्योतिष है।

श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों को ही कल्प सूत्र कहते हैं इनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

वैदिक साहित्य का काल—इस विषय में विद्वानों में तर्कात् मतभेद है कि वेदों की रचना कब हुई और उसमें किस काल की सम्प्रदाय का वर्णन मिलता है। भारतीय वेदों को अतीत्य (किसी पुरुष द्वारा न बताया हुआ) मानते हैं अतः निरर्थक होने से उनके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पश्चिमी विद्वान् इन्हें ऋषिद्वारा रचना मानते हैं और इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उनमें पहली कल्पना 'मैक्समूलर' की है उन्होंने वैदिक साहित्य को चार भागों में बाँटा है—छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र साहित्य। सूत्र साहित्य का काल ६०० ई० पू०-२०० ई० पू० है, ब्राह्मणों का ८००-६०० ई० पू०, मन्त्र समस्त ऋग्वेद के पिछले हिस्सों का १०००-८०० ई० पू० और छन्द समस्त ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं का १२००-१००० ई० पू०। बोगोवकोई (टर्की) ने से उपलब्ध १४०० ई० पू० के कुछ प्राचीन तेलों में वैदिक देवताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलने से पश्चिमी विद्वानों को मैक्समूलर का मत अस्वीकार प्रतीत हुआ। वे वेदों को अधिक पुराना समझने लगे। जर्मन विद्वान् विष्टर निट्ज^१ ने वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का काल २५००-२००० ई० तक माना। लिन्क और गार्कोबी^२ ने वैदिक साहित्य में वर्णित

१. मैक्समूलर का मत १२०० ई० पू० २०० ई० पू०।

२. विष्टर लिन्क की कल्पना २५०० ई० पू०।

३. लिन्क और गार्कोबी २५०० ई० पू०।

नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल ४२०० ई० पू० माना । श्री अजितानन्ददास दास तथा पावगी ने ऋग्वेद में वर्णित भूमि-विभाग का भी द्वारा ऋग्वेद को कई लाख वर्ष पूर्व का ठहराया । अभी तक इस पक्ष का प्रामाणिक रूप से प्रमाण निर्माण नहीं हो सका । वैदिक साहित्य का अध्यापन करने से उसमें दो काल-विभाग स्पष्ट दृष्टिमेव होते हैं—(१) प्राचीन वैदिक युग : इसे ऋग्वेद का युग भी कहते हैं । इस काल की संस्कृति के ज्ञान का मुख्य आधार ऋग्वेद है । (२) उत्तरवैदिक युग । यहाँ इन कालों की वैदिक संस्कृति का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा ।

वैदिक संस्कृति

धर्म—वैदिकयुगीन धार्मिक विकास के तीन स्पष्ट रूप प्रतीत होते हैं । प्राचीनतम वैदिक धर्म उपनिषद्-प्रधान एवं सरल था, ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय यह कर्मकाण्ड-प्रधान एवं जटिल हो गया और धर्म में उपनिषदों के समय ज्ञान पर बल दिया जाने लगा । प्राचीनतम वैदिक धर्म अत्यन्त सुविकसित, परिष्कृत और सरल है । पिछली शती में कुछ यूरोपियन विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि यह अत्यन्त प्रारम्भिक और जंगली धर्म है । धार्मिक जंगलों में रहते थे । वर्षा, विष्णु, सूर्य आदि माना शक्तियों से भयभीत होकर उनकी स्तुति के लिए मन्द पड़ते थे, किन्तु वेद के सम्भीर अन्वयन से शीघ्र ही उन्हें ज्ञान हो गया कि यह बड़ा मूर्खान्त, कलारमक, परिष्कृत और प्रौढ़ धर्म है ।

वैदिक देवता—ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुतियाँ हैं । देव का धर्म है शोचनशील या शीघ्रिभय । एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में वसक रहा है । धार्मिक इन रूपों की समुल पूजा करते थे । उनके प्रधान देवता निम्नलिखित थे—

वरुण—अत्यन्त प्राचीन काल में यह उच्चतम एवं उदात्ततम देवता था । बाद में इसका स्थान इन्द्र ने ले लिया । यह धर्म का अधिपति है, सत्य (ऋत) पुण्य और भलाई का देवता है । इसका प्रधान कार्य धर्म की रक्षा करना है । ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में बड़े भयान शब्दों में इसकी स्तुति है । वरुण सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है, मनुष्यों का सत्य, धर्म तथा सदा देखते रहते हैं, रात्रि से सर्वत्र घन्टकार छा जाने पर भी वे जागते रहते हैं, सर्वत्र उनके दूत फिरते रहते हैं, मनुष्यों की सुत-से-पुत मन्त्रणा और पाप उन्हें ज्ञात होता रहता है, जो ब्राह्मण युक्तान्त में बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं उसे वह ज्ञान लेते हैं, वे प्रकृति के अदृश नियमों की रक्षा करने वाले हैं, पापियों को पाप में बाँधकर दण्ड देते हैं । अनेक सूक्तों में भक्तों ने इनसे उसी प्रकार क्षमा की सम्प्रार्थना की है जैसे बाद में विष्णु आदि देवताओं से की जाती थी । भक्ति-सम्प्रदाय का वैदिक मूल यही है । वरुण की उपासना तपु एषिया (सूची) के मिदानी राजा भी करते थे ।

इन्द्र—यह वैदिक युग का सबसे महत्वपूर्ण देवता है। इसकी प्रधानता इस बात से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद के चौथे हिस्से में अधिक २५० सूक्तों में इसकी स्तुति है। यह देवों का अग्रणी तथा अपरिमित शक्तियाली है। इसके बल से धुलोक और भूलोक कांपते हैं। उसके हाथ में शक्तिशाली वज्र है। उसने गीलों का लुहना, वृष का वध, पर्वतों का भेदन, दासों का दमन आदि अनेक वीरतापूर्ण कर्म किये हैं। किन्तु उसका प्रधान कार्य वृष का संहार है। इन्द्र को सामान्य रूप से युष्टि देवता का प्रतीक माना जाता है। वह अपने मित्रों की वज्र से घनावृष्टि के दैत्य—वृष का संहार करता है। इन्द्र युद्ध का देवता है। वज्र से मनुष्यों का दमन करता है। मनुष्य युद्ध में विजय पाने के लिए इन्द्र का साहाय्य करते हैं।

अग्नि—ऋग्वेद में इन्द्र के बाद अग्नि की ही सबसे अधिक स्तुति है। वो सो से अधिक सूक्त इसका प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद के पहले सूक्त का यही देवता है। इसकी लघु श्रुति "समुद्र की तरंगों की तरह ऊँची उठती है, इसके उबलने से चट-चट की ऊँची आवाज होती है। आकाश में इसके स्फुल्लित उड़ते हैं और पर्वों उसने भवभीत होकर भागते हैं"। अग्नि के असाधारण महत्त्व का यह कारण था कि वह मनुष्यों की हवि देवताओं तक पहुँच करता था, प्रतिदिन वह अग्निहोत्र के लिए प्रवर्णित किया जाता था।

सूर्य—सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले पाँच देवताओं की स्तुति की जाती थी—सविता, सूर्य, मित्र, पूषा, विष्णु। सविता सूर्य के ग्रेक और प्रातःकालीन रूप का नाम था। सूर्य इन पाँचों में प्रधान, धुलोक और अद्विती का पुत्र माना जाता था, उसकी पत्नी ऊषा थी। वह सात घोड़ों के रथ पर प्रतिदिन आकाश की यात्रा करता था। मित्र को वरुण का साथी और सूर्य के उपकारक रूप का प्रतिनिधि समझा जाता था। 'पूषा' पशु-पालकों का देवता था। विष्णु उस समय सबसे कम महत्त्व रखता था, किन्तु बाद में बहुत अधिक पूजा जाने लगा। वेद में विष्णु के तीन पदों का बार-बार संकेत है। एक प्राचीन आचार्य श्रीसुंवाभ ने इन तीन पदों को उद्घृत होते वाले, मध्याह्न में उच्चतम शिखर पर पहुँचने वाले तथा अस्त होने वाले सूर्य के तीन रूपों का सूचक माना है। इन्हीं पदों से बाद में वामन और बलि की कथा का विकास हुआ।

उषा—प्रजात वेला की मनोरम छटा को देवी का रूप देना सम्भवतः धार्यों की सुन्दरतम कल्पना है। विश्व के समुचे धार्मिक साहित्य में इस देवी कोई मनोहारिणी रचना नहीं है। ऋग्वेद में उषा का अत्यन्त सरस वर्णन है। इनके अतिरिक्त, इसमें अश्विनो, वायु, वात सोम, सरस्वती, पर्जन्य (बादल), धाप (जल) आदि अनेक देवताओं की स्तुतियाँ पाई जाती हैं। इन देवताओं की पूजा यज्ञ में साहुति देकर की जाती थी।

ईश्वर-सम्बन्धी विचार—ऋग्वेद में देवताओं की स्तुतिओं का विशेष डंग है। इसे सर्वोत्कर्षवाद (Henotheism) कहते हैं। इसका धर्म यह है कि भक्त जिस देवता से प्रार्थना करता है, उसे सबसे बड़ा बताता है। इन्द्र की धाराधना करते हुए उसकी सर्वोच्च कहता है और अग्नि की स्तुति में अग्नि की। ऋग्वेद में नाना देवताओं की स्तुतियाँ हैं, इससे धार्यः यह कल्पना की जाती है कि उस समय बहुदेववाद प्रचलित था। किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि धार्यः प्रकृति की सब शक्तियों को एक ही सत्ता के विभिन्न स्वरूप मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद की घोषणा करते हुए कहा था :—'एक ही सत्ता को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।' इस सत्ता को वे अग्नि, हिरण्यगर्भ, पुण्य आदि नामों से सूचित करते थे। वह आवरण होने से अग्नि था, यह मारा विश्व उस तेजस्वी (हिरण्य) ईश्वर के गर्भ से निकला है। अतः वह हिरण्यगर्भ कहलाता था। वही एक सत्ता इस समूची ब्रह्माण्डपुरी में फैली हुई है, अतः वह पुरुष कहलाता था। हिरण्यगर्भ सूक्त एकेश्वरवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

वैदिक और वर्तमान हिन्दू धर्म में भेद—वैदिक धर्म वर्तमान पौराणिक धर्म से निम्न बातों में मौलिक रूप से भिन्न था। (१) वैदिक धर्म में मूर्ति-पूजा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में केवल एक ही स्थान पर इन्द्र की मूर्ति का उल्लेख है। देवताओं की धाराधना माघ द्वारा आहुति देकर की जाती थी, वह यज्ञ-प्रधान धर्म था। मातृकस की भक्ति-प्रधान उपासना उस समय बहुत अधिक प्रचलित नहीं थी।

(२) वैदिक देवताओं तथा वर्तमान हिन्दू देवताओं में कई प्रकार का भेद है। वैदिक काल का प्रधान देवता इन्द्र है। बाद में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को प्रमुख प्राप्ति हुई। वैदिक काल का महत्त्व जुप्त हो गया। वर्तमानकाल में प्राधान्य पाने वाली त्रिमूर्ति में से वेद में केवल विष्णु और रुद्र का उल्लेख है। किन्तु ये उस समय मौल्य देवता थे। अनेक वैदिक देवताओं उषस्, पर्जन्य, भग, अर्यमा का बाद में सोन हो गया। अनेक पौराणिक देवी-देवताओं—पार्वती, कुबेर, दत्तात्रेय आदि का वेदों में कोई उल्लेख नहीं है।

(३) वर्तमान हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती का पूजन होता है। सभी देवताओं की शक्तियाँ स्त्री रूप में पूजी जाती हैं। वैदिक युग के अधिकांश देवता पुरुष थे। नारी तत्त्व को वर्तमान प्रधानता नहीं मिली थी।

(४) वैदिक धर्म आणावादी और भोजस्वी है। उसमें वारसीकिक जीवन के प्रति यह चिन्ता नहीं जो वर्तमान हिन्दू धर्म में है। वैदिक धार्यः संसार से भागना नहीं चाहता, उसका पूरा भोग करना चाहता है। धार्यः उपासक अपने देवताओं से प्रधान रूप से इस लोक की वस्तुएँ प्राप्ति, पशु, पन्न, पैश और ब्राह्मचर्य मानता था। उसकी धार्यः बड़ी प्रार्थना नहीं होती थी :—मेरे शत्रुओं का वध करो। उसका

जीवन सह और लोहे का, सोन और विचार का, विषय और स्वतन्त्रता का, कविता और कल्पना का, मौन और मस्ती का था, उसका धर्म भी उसके अनुकूल था।

उत्तर वैदिक युग का धर्म

(क) नये देवता—उत्तर वैदिक युग तक पहुँचते हुए वैदिक धर्म में काफी अन्तर आ गया था। यद्यपि अथर्ववेद में वरुण के कई सुन्दर सुक्त हैं। किन्तु उसकी महिमा घटने लगी थी। ऐश्वर्यवादी प्रवृत्ति पुष्ट हो रही थी। ब्राह्मण युग में प्रजापति की महिमा बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसने इन्द्र का स्थान ले लिया। प्रजापति द्वारा बराह रूप में पृथ्वी-आरण की तथा कुर्म बनने की कथाएँ इसी युग में चलीं, जो बाद में सप्ततारों का मूल बनीं। इस युग में एक अन्य देवता—इन्द्र—की भी महिमा बढ़ चली। पहले यह सिद्ध था, अब महादेव और पशुपति हो गया। पारंपारिक विद्वानों की यह कल्पना है कि यह अनाम देवता था। विष्णु के तीन पदों की कल्पना का विकास भी इसी काल में हुआ।

(ख) कर्मकाण्ड की जटिलता—ब्राह्मण युग के धर्म की दूसरी विशेषता याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता का बढ़ना था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन यज्ञों की विस्तृत विधियाँ दी गई हैं। इनसे सात होता है कि यज्ञों का आशम्बर बहुत बड़ बना था। बड़े-बड़े यज्ञ राजाओं तथा धनियों द्वारा होते थे। राजाओं के यज्ञों में राजगृह, जाजोय और अथर्ववेद प्रधान। यज्ञों में पशु-बलि की प्रथा बढ़ रही थी।

(ग) पशु-बलि के विरुद्ध आंदोलन—उत्तर वैदिक युग में पशु-बलि देने के विरुद्ध एक लहर चली। ऐसी अनुभूति है कि राजा वसु बंधों परिचर के समय इस विषय पर बड़ा विवाद उठा। ऋषि जिने धन्य की बाहुति देना चाहते थे, देवता बकरे की माँगते थे। वसु से फैतला माँगा गया, उसने देवताओं के पक्ष में फैतला दिया, क्योंकि वही पद्धति पुरानी थी। किन्तु वह सुधार का पक्षपाती था, उसने अपने एक अथर्ववेद में मुनियों के कथनानुसार अन्न की बाहुति दी। वसु द्वारा प्रवर्तित वह लहर कर्मकाण्ड और तप के बजाय भक्ति पर चल देती थी। यह आन्दोलन हमारे साहित्य में 'एकान्तिक' कहा जाता है, क्योंकि इसमें एकमात्र हरि की एकाग्रता से भक्ति करने का साध मुख्य था। भावी भक्ति-आन्दोलन का एक बीज यह भी था।

यज्ञ-विरोधी आंदोलन—यह उपनिषदों के समय शुरू हुआ। इनसे बाबा पर चल देते हुए ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके यज्ञों का विरोध किया। शान्दीय उपनिषद (३।१७।४।६) में देवकी-पुत्र कृष्ण की ओर आग्रह ने यज्ञ की एक सरल रीति बताई। इस यज्ञ की दक्षिणा थी—तृणकर्म, दान, धर्म, धर्मिता और सत्य। मुण्डकोपनिषद (१।२।७) ने योन्मा की कि यज्ञ लूटि नाव की तरह है। कर्मकाण्ड-विरोधियों ने यज्ञ द्वारा पुत्रा-विधि के स्थापन पर नये मार्ग का निर्देश किया। दुष्प्रतिष्ठ से विराम, इन्द्रियों का वशीकरण, मन के संकल्प की दृढ़ता, शुचिता, योगी और मन का संयम, तप, ब्रह्मकर्म, श्रद्धा, धर्मिता, सत्य, सम्पद् ज्ञान और

विज्ञान—इन सब उपायों से समाहित होने, आत्मा या ब्रह्म में ध्यान लगाने से धीरे-धीरे उसकी भक्तिपूर्वक उपासना करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है। उपनिषदों के समय में धर्मतत्व-प्राप्ति, मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म के विचार, जो इस समय हिन्दू धर्म की प्रधान विशेषता है, स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन वैदिक युग के धर्मों में अपने आनन्दमय जीवन में मुक्ति की चिन्ता नहीं थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने सभी द्वारा स्वर्ग का विश्वास दिलाया, किन्तु उपनिषदों के समय का धर्म ऐसी किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं हो सकता जो धर्मतत्व न प्राप्त कराये। मीमेयी के समस्त शब्द 'किमहं तेन कुर्याम् येनाहं सामृता स्याम्' इस युग की भावना पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। भारतीय दर्शन में संसार का दुःखमय होना, आत्मा की क्षमरता, मुक्ति की अनपेक्षी आकांक्षा का प्राधान्य इसी युग से हुआ।

सामाजिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

विवाह-पद्धति—वैदिक समाज का आधार कूटम्ब था। उस समय विवाह-संस्कार तो लगभग वैसा ही होता था जैसा आजकल होता है, किन्तु साधियों के चुनाव, विवाह-सम्बन्धी आदतों और स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अन्तर था। वैदिक काल में युवक-युवतियों के विवाह परिपक्व आयु में होते थे। बाल-विवाह की दृष्टि पद्धति का तत्कालीन साहित्य में कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। युवक-युवतियों की अपना जीवन-संगी चुनने की काफी स्वतन्त्रता थी। विवाह पवित्र और स्थायी सम्बन्ध मिला जाता था। एक-पत्नीयता उस समय का साधारण नियम था, किन्तु राज-कुलों में बहुव्रतीत्व भी प्रचलित था। फिर भी उसे सच्चा नहीं समझा जाता था। परवर्ती युगों की भाँति उस समय विधवा के लिए सती हो जाने का विधान नहीं था, उसे पुनर्विवाह का अधिकार था और पुनर्विवाह प्रायः देवर से किया जाता था। देहेव की प्रथा भी थी और अन्य लेकर लड़की देने की भी। इस युग में स्वयंवर की परिपाटी भी प्रचलित थी।

स्त्रियों की स्थिति—वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी ऊँची थी उतनी बाद में नहीं रही। अग्न्यजातियों के इतिहास में हम जितना पीछे की ओर जाते हैं, स्त्रियों की स्थिति उतनी ही गिरी हुई दिखाई देती है। यह बड़ी बिलक्षण बात है कि भारत में वस्तु-स्थिति सर्वथा विपरीत है। वैदिक युग में स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह ही ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं। कुछ महिलाओं ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। योषा, मित्तवारा और सोतामुद्रा को ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का रचयिता होने का गौरव प्राप्त है। परिवार में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। विवाह के समय पक्षु को आशीर्वाद दिया जाता था कि तुम नये घर की सम्पत्ती बनो। परन्तु तथा धार्मिक कार्यों में पति और पत्नी का दर्जा बराबर का था। कोई यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। धार्मिक कार्य पति-पत्नी

मिलकर ही पुरा करते थे। स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में पुरा भाग लेती थीं। उस समय यद्यपि भी और स्त्रियों को सामाजिक समारोहों से दूर रखने की प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु स्त्रियों की इसी ऊँची स्थिति होने हुए भी उस संघर्ष के युग में पुरुषों की अपेक्षा पुरुषों की श्रमिक कामना की जाती थी।

जाति-भेद—उस समय वर्तमान काल का सा जाति-भेद प्रचलित नहीं था। जाति-भेद की कड़ी विशेषताएँ—अपनी जाति में ही विवाह करना तथा भोजन करना, ऊँच-नीच और घस्सुस्पृष्टता की भावनाएँ हैं। वैदिक युग के आर्यों में न तो विवाह और भोजन-सम्बन्धी व्यवस्था से और न ही ऊँच-नीच के भाव। क्या भेद आर्यों और दास का था। दास आर्यों से बाहर के समाज के तथा दूसरे रंग (वर्ण) और मूल के धनार्थ थे। जहाँ वास्तव में आर्यों और दानवों दो ही थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सत्ता अचर्य थी, किन्तु यह विभिन्न पेसे वालों की श्रेणियाँ-भाव थीं। सामान्य जनता विद्या कहलाती थी। मोड़ा और रबी अन्न कहलाते थे और पुरोहित ब्राह्मण। पीछे वज्र का किया-मलाप बहुत बड़ जाने से ब्राह्मण श्रेणी का बड़ा विकास हुआ। किन्तु इन सब श्रेणियों में परस्पर सान-यान और वैवाहिक सम्बन्ध होता था। अनेक धार्मिक समाज-कारकों यह मानते हैं कि जाति-भेद के मूल तत्त्व आर्यों से दानवों से ग्रहण किये।

पान-पान, वेश-भूषा तथा मनोचिन्तन—आर्यों का पान-पान बहुत सादा था। उनका प्रधान भोजन भी, दूध, पाचल (घी) और जौ थे। वैदिक साहित्य में मूत्र, उदक आदि अनेक दालों का उल्लेख है। किन्तु नमक का वर्णन नहीं मिलता। यज्ञों में सोमरस के पान की परिपाटी थी। आर्यों का वेश भी बहुत सादा था। शरीर के ऊपरी भाग के लिये एक उत्तरीय और निचले भाग के लिये एक अपोवस्त्र पहनने का रिवाज था। उष्णीष या पगड़ी भी बहुत पहनी जाती थी। कपड़े ऊँची या घाली के रेशे (सुम) के बने हुए होते थे। ब्रह्मचारी कुण्ड मृग की छान पहनते थे। पुरुष और स्त्री दोनों सोने के हार, कणच, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, नूपुर आदि धाम्भ्य धारण करते थे। जरी का काम किये हुए और रंग-बिरंगे वस्त्र भी धारण किए जाते थे। बालों का कंघी और सुगन्धित तेलों से शृङ्गार किया जाता था। स्त्रियाँ प्रायः वेणो (मृत्) धारण करती थीं। कुछ पुरुष जूड़ा बाँधते थे। प्रायः यात्री रत्नी जाती थी, लेकिन हजामत का भी थोड़ा-बहुत प्रचलन था।

आर्यों का सबसे अधिक प्रिय मनोरञ्जन, पुरुषों और स्त्रियों की दौड़ था। जुए की जुलाई भी प्रचलित थी। जुआ बहेड़े के हासों से खेला जाता था। श्रुवेद के एक सूक्त (१०।३४) में जुआरी की दुर्दशा का बहुत सुन्दर वर्णन है। तीसरा मनोचिन्तन मूल था। स्त्री-पुरुष दोनों इसमें भाग लेते थे। संगीत की भी काफी उन्नति हो चुकी थी। शायतन, शुक और तार से बजने वाले दुन्दुभी, शृङ्ग, पणव, त्र्यं और वीणा आदि वाद्य होते थे। दुन्दुभी का प्रयोग दुरमन्तों का दिल बहलाने के लिए होता था। वह आर्यों का मारु बाजा था।

उत्तर वैदिक युग

उत्तर वैदिक युग का महत्त्व—इस युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विचार परिपक्व हुआ। 'वास्तव में भारतीय संस्कृति और सम्पत्ता की मूल स्थापना इसी काल में होती है।' भारतीय जाति में, उसकी संस्कृति में, विचार और व्यवहार-व्यवस्था में और दृष्टिकोण में जो विशिष्ट भारतीयता है, वह इसी काल में प्रकट होती है। यों तो भारतीय संस्कृति का मूल प्राग्वैदिक और वैदिक कालों में है। लेकिन उन युगों में वह अभी तरल द्रव के रूप में बहती है। इस युग में ही उसकी ठोस बुनियाद पड़ती है। उसका व्यवस्थित मूर्त रूप धारण करता है। भगवान् मोक्षम बुद्ध के समय तक हम भारतीय जाति के जीवन में अनेक प्रथाओं, संस्थाओं, व्यवस्थाओं, पद्धतियों और परिणामों को स्थापित और बढसूल हुआ पाते हैं। इस सबसे वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रधान है।

वर्ण-व्यवस्था—वैदिक युग में दो ही वर्ण थे—धार्य और दास। दासों से बूना होना स्वाभाविक था। उनसे वैवाहिक सम्बन्ध बुरे समझे जाते थे। यह पहले उल्लेख हो चुका है कि धार्यों में भी काम और पैसे की दृष्टि से कई श्रेणियाँ बन रही थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इसी प्रकार के वर्ण थे। प्रत्येक वर्ण में कुछ ऊँच-नीच भी थी। दासक क्षत्रिय (राज्य) योद्धाओं और रथियों से ऊँचे थे और रथी पदाति सैनिकों से। वे तीनों वैश्यों से ऊपर थे। यज्ञों का विकास होने से जो पुरोहित श्रेणी बनी, वह अपने ज्ञान, तपस्या और त्याग के कारण अन्य श्रेणियों से ऊँची समझी गई। दास शूद्र वर्ण में डाल दिये गए। उत्तर वैदिक युग के शासकगणों ने पहली बार चारों वर्णों के कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया और उनके लिए धृक्-पृक्-नियम बनाए। यह वाद रखना चाहिए कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में शान्त-पान और वादी-व्याह के बन्धन कठोर नहीं हुए थे। छपनी-छपनी श्रेणी तथा वर्ण में रोटी-बेटी का सम्बन्ध हो ऐसी प्रवृत्ति तो स्वाभाविक होती ही है, वह उस समय भी रही होगी। लेकिन उस समय के वर्ण धातुकल की तरह जाल-पात के तंग बांधे में न बंधे थे। धीरे-धीरे इन बन्धनों में कठोरता आई। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि धार्यतर जातियों (विशेषकर ब्राह्मणिक और क्षत्रिय) ने इस तरह के शान्त-पान और वादी-व्याह के अनेक प्रतिबन्ध थे। उनके मण्डलों में जाने पर धार्यों ने उनके प्रतिबन्ध पहले से ही विकसित विभिन्न श्रेणियों पर लागू कर दिए।

ऊँच-नीच तथा असंप्रत्यता का विकास—इसी युग में विभिन्न वर्णों के ऊँच-नीचे होने तथा श्रेणियों की शूद्रों के समकक्ष मानने की कुप्रथा का भीमगोचर हुआ। ब्राह्मणों ने अपने ऊँचे होने का दावा किया। पहले यह बताया जा चुका है कि अपने ज्ञान, त्याग और तपस्या के कारण वे कुछ वर्णों में उनके अधिकारी भी थे। मित्र-कारों की नीच समझने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यही से होता है, इसका प्रधान कारण वर्णों में बढ़ता हुआ पवित्रता का भाव तथा सम्भवतः समाधों द्वारा शिल्पी का ग्रहण किया जाना था। एक ब्राह्मण-वर्ण में स्वर्ण (वर्द्ध) का स्पर्श राज को अपवित्र करने

वाला कहा गया है। दूधों को भी यज्ञों के अयोग्य समझकर उन्हें अस्पृश्य माना जाने लगा। अग्नि देवता को ही जाने वाली दूध को हवि दूध के स्पर्श से अपवित्र समझी जाने लगी। किन्तु फिर भी अभी उस परबली युगों की नीति दूध को अप्रतिष्ठा नहीं हुई थी। उसकी समृद्धि के लिए प्रार्थनाएँ की जाती थीं।

आश्रम-व्यवस्था—इस काल में सामान्य मनुष्य के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चार आश्रमों में बाँटा गया था। भारतीय विचारकों का यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति चार प्रकार के ऋण लेकर पैदा होता है—मनुष्यों, देवताओं, ऋषियों और पितरों का। मनुष्यों का ऋण अपने पड़ोसियों की सेवा और आतिथ्य से चुक जाता है, देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा उतारा जा सकता है। पितरों का ऋण सन्तानोत्पादन और ऋषियों के ज्ञान का ऋण अध्ययन और व्यापन से चुकता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने ऋण उतारे। इसीलिए आश्रमों की व्यवस्था की गई है। पहले आश्रम में मनुष्य ब्रह्मचारी रहते हुए अपनी शारीरिक तथा बौद्धिक शक्तियों का पूर्ण विकास करता था। दूसरे में गृहस्थ होकर पितरों और मनुष्यों का ऋण उतारता था। वानप्रस्थ और संन्यास में वह ऋषियों के ऋणों से मुक्त होता था। वानप्रस्थों के आश्रम परिपक्व अनुभव, स्पष्ट, निर्भीक और निष्पक्ष विचारों के केंद्र होते थे। इन वानप्रस्थियों और संन्यासियों ने राष्ट्र को अपरिमित लाभ पहुँचाया था। किसी अन्य देश में इस प्रकार के आदर्श तथा उपयोगी सामाजिक संगठन का विकास नहीं हुआ।

स्त्रियों की स्थिति—पूर्व वैदिक युग से इस काल की स्त्रियों की स्थिति में अन्तर आने लगा था। इस युग के अन्त तक उनकी अवस्था काफी गिर चुकी थी। इसका बड़ा कारण स्त्रियों का दूधों के तुल्य समझा जाना था। इस युग में गर्भ-काण्ड की जटिलता बढ़ने के कारण अब स्त्रियाँ पतिव्रतों के साथ बैठकर सगूँची यज्ञ-नीक्या नहीं कर सकती थीं। उनकी कुछ क्लियाएँ पुरोहित करने लगे। पवित्रता के विचार से भी कुछ कट्टरपन्थी ऋतुधर्म के कारण उन्हें अपवित्र मानने लगे थे। इस समय में धार्य अनायें स्त्रियों से काफी विवाह करने लगे थे, अनायें स्त्रियाँ यज्ञ-कार्य को ठीक तरह सम्पादित नहीं कर सकती थीं। शास्त्रकारों ने उन्हे यह अधिकार छीनने के लिए उन्हें दूध के समान वेदों का अनाधिकारी बताया। इससे स्त्रियों का वैदिक अध्ययन बन्द हो गया और अध्ययन के अभाव में उनका बाल-विवाह भी होने लगा। इस युग में हम सर्वप्रथम गौतम धर्म-सूत्र में यह विचार पाते हैं कि स्त्री का विवाह उसके वचन में ही (धर्मात् ऋतुमती होने से पहले ही) कर देना चाहिए (प्रदानं प्रायुतोः)। मुनिगणों का जन्म इस समय से एक मुसीबत समझा जाने लगा। स्त्रियों से दाय का अधिकार भी छीन लिया गया। फिर भी ये व्यवस्थाएँ अभी सर्वमान्य नहीं हुई थीं। मैत्रेयी, वार्गी-वैगी कुछ स्त्रियाँ इस युग में भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं और बड़े-से-बड़े विद्वानों के साथ विवाह करने की योग्यता रखती थीं।

मनोविमोद—इस युग में कई नये मनोविनोदों का विकास हुआ। वीरूपों (मूर्तियों) ने अभिनय प्रारम्भ किये। प्रौढांगों की अनेक बालों के साथ भाषाएँ या गीत गाये थे। इस समय के बालों में भी तार घाले (घात-तन्तु) एक बाँध का भी उल्लेख है। इस समय की भाषाओं ने बाद में महाकाव्यों का रूप धारण किया है।

राजनैतिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

नियन्त्रित राजसत्ता धरण—वैदिक धर्म जाति कई जन-समूहों में बँटी हुई थी। इन 'जनों' का मुखिया तथा शासक 'राजा' होता था। राजा प्रायः वशकमानव होता था। किन्तु उसे स्वेच्छाचार करने का निरंकुश अधिकार नहीं था। वह कुछ शक्तों से नियन्त्रित होता था, प्रजा राजा का धरण करती थी। धरण का अर्थ यह है कि उत्तराधिकारी के अभाव में वह नया अधिकारी चुनती थी और उत्तराधिकारी को राजा होने की स्वीकृति देती थी। उस स्वीकृति से ही राजा का अभिषेक होता था और वह राज-यज्ञ का अधिकारी समझा जाता था। धरण द्वारा प्रजा के साथ राजा का एक प्रकार की प्रतिज्ञा या ठहराव हो जाता था। अभिषेक के समय राजा से यह वादा रखा जाता था कि वह इस प्रतिज्ञा को पूरा करेगा। यदि वह इस प्रतिज्ञा को भंग करता था तो प्रजा उसे पदच्युत और निर्वासित कर देती थी।

समिति—प्रजा (विशः) अपने अधिकारों का प्रयोग समिति द्वारा करती थी। समिति सम्पूर्ण प्रजा की संस्था होती थी और राज्य की बागडोर उसके हाथ में थी। उसका एक प्रति या ईशान होता था। राजा भी समिति में जाता था। राजा का चुनाव, पदच्युति, पुनर्धरण आदि राजकीय प्रश्नों का विचार और निर्णय उसके प्रधान कार्य होते थे। उसके सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसमें आमणी, सूत, रथकार और कर्मर (लोहे तथा लौहे के हथियार बनाने वाले) अवश्य सम्मिलित होते थे। इस प्रकार यह एक प्रतिनिधि संस्था प्रतीत होती है।

सभा—समिति के अलावा एक अन्य संस्था सभा होती थी। यह समिति से छोटी थी तथा राष्ट्र के प्रधान ग्यायालय का काम देती थी। अत्येक साम भी अपनी सभा होती थी। इसमें आवश्यक कार्यों के बाद विमोद की बातें भी होती थी और तब वह मोष्टी का काम देती थी।

अधिकारी तथा रत्ने—राज्य के प्रमुख अधिकारी पुरोहित, सेनापति और ग्रामणी (ग्राम का नेता) थे। राज्यअभिषेक के समय ये तथा सूत, रथकार, कर्मर राजा की राज्य का सांकेतिक चिह्न पलाश-वृक्ष की डाल—पर्श (मणि) या रत्न देते थे। अतएव इन्हें 'रत्नी' कहते थे। राजा अभिषेक से पूर्व इनकी पूजा करता था। प्रजा की रक्षा शत्रुओं से सड़ना, शान्ति के समय यज्ञ आदि करना राजा के

मुख्य कर्तव्य थे। राजा अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा से वृत्ति या भाग (कर) लेने का अधिकारी था।

गण-सन्ध—कुछ राज्यों में राजा नहीं होता था, समिति ही देश का शासन करती थी। इस प्रकार के राज्य बराजक जन कहलाते थे। बादलों का पैतृहृष्य या वीतिहोष इसी प्रकार का राज्य था।

उत्तर वैदिक युग

राजाओं की शक्ति में वृद्धि—इस युग में पुराने राजा नये-नये प्रदेशों की विजय से अपना राज्य-विस्तार कर रहे थे तथा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। इस समय राजाओं में सामंती होने प्रथम समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के एक राष्ट्र होने की होश सज रही थी। सभी 'पारमेष्ठ्य, माहारान्य आतिपत्य' के लिए आत्मागत थे। धान में मगध, विदेह, कंसिग के राजा सम्राट की पदवी धारण करते थे। इसी युग में राजा राजसूय, अश्वमेध और बाजपेय आदि यज्ञ करने लगे थे।

राजा का नियन्त्रण—कित्नु शक्ति बड़ जाने पर भी राजा पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं हो पाये थे। राज्याभिषेक के समय उन्हें गद्दी से उतरकर ब्राह्मणों की प्रणाम करना पड़ता था तथा उनके रक्षण की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। उनके प्रधानस्थ अधिकारी सूत और ग्रामणी इतने अधिक महत्त्वपूर्ण थे कि उन्हें 'राजा की बताने वाला (राजहृतः)' कहा जाता था। राजा के नियमन के लिए सभा और समिति नामक संस्थाएँ इस युग में भी थीं। राजा की समृद्धि के लिए राजा और समिति का सामंजस्य (एकता) आवश्यक समझा जाता था। अत्याचारी राजाओं को जनता के कोप का शिकार होना पड़ता था।

शासन-प्रणाली—इस युग में शासन-प्रणाली भी सामाजिक संस्थाओं की भाँति स्थिर आधार धारण कर रही थी। इस समय राजा समेत १२ रातों या राज्याधिकारी होते थे—१. सेनानी, २. पुरोहित, ३. राजा, ४. महिषी-(पटरात्री), ५. सूत (राज्य का वृत्तान्त रखने वाला), ६. ग्रामणी (गाँव का, राजधानी का या राज्य के गाँवों का नेता), ७. क्षत्रा (राजकीय कुटुम्ब का निरीक्षक), ८. संप्रहीता (कोषाध्यक्ष), ९. सामदुम (कर एकत्र करने वाला मुख्य अधिकारी), १०. धनवत्य (हिसाब रखने वाला मुख्य अधिकारी), ११. गोविकर्ता (जंगलात का निरीक्षक), और १२. पत्तागल (सर्वेक्षक)। इसी समय से नियमित शासन-सन्ध शुरू हुआ। सी गाँवों का प्रफ़सर पति और सीमान्त का शासक स्थापित कहलाता था।

गुप्तिस के अधिकारियों की इस समय उग्र या जीवज्ज कहते थे। राजा का कार्य पूर्ववत् विदेशी शत्रुओं से रक्षा करना, शासन और न्याय का प्रबन्ध करना था। न्याय कार्य 'अध्यक्ष' तथा पूर्व वैदिक काल की सभाएँ करती थीं। गाँवों के छोटे मामलों का फैसला गाँव की सभा और 'ग्राम्यवादी' (गाँव का जज) करता था।

गण-तन्त्र—इस युग में पश्चिम के सौराष्ट्र, काठियावाड़ (कच्छ) और सौरा (प्राधुनिक सिन्ध) तथा हिमालय के उत्तर पुरुषों में गण-तन्त्र व्यवस्था प्रचलित थी। पश्चिमी राज्यों की व्यवस्था का नाम स्वराज्य था। उत्तरी प्रदेश में वैराज्य (राजा-विहीन राज्य) शासन-प्रणाली थी।

आर्थिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

घासों की प्रधान आजीविका पशु-पालन थी। पशुओं में गो-पालन पर सबसे अधिक बल था। वैदिक प्राचीनताओं में गोधन की सबसे अधिक मांगा मया है। गौधों को दिन में तीन बार दुहा जाता था। बेल खेती और माछी मीचने में प्रयुक्त होते थे। घोड़े लड़ाई तथा रथों की दौड़ के लिए पाले जाते थे। भ्रम पालतु पशु भेड़, बकरी और कुत्ते थे। कुत्ते पशुओं की रखवाली और शिकार के लिए रखे जाते थे। बिल्लों को उस समय तक नहीं पाला गया था।

दूसरी प्रधान आजीविका कृषि थी। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर नहीं थी, नहरी (कुल्पाधों) द्वारा भी सिंचाई होती थी। प्रधान रूप से मंत्र की फसलें बोई जाती थीं। मृगया तृतीय आजीविका थी। तीर-कमान, पाश से और गड़े खींचकर शिकार किया जाता था। डेर और हिरन का शाल्वेट प्राप्त होता था।

शिल्प—इस युग में शिल्प की पर्याप्त उन्नति हुई। प्रधान शिल्प रथकार या बड़ई का था। वह युद्ध के लिए रथ और कृषि के लिए हल और गाड़ियाँ बनाता था। दूसरा काम धातु का काम करने वाले कर्मार (सुहार) का था। वह धातु के सरतल बनाता था। धातु को कुछ विद्वान् ताँबा समझते हैं और कुछ लोहा या काँसा। इसके अतिरिक्त जमड़ा कमाने का शिल्प भी प्रचलित था। शिपों चलाई की कुतर्क का तथा कतर्क का काम करती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछले काल में शिल्प करने वालों को जैसा नीच समझा गया, वैसी स्थिति वैदिक युग में नहीं थी। सब ऐसे सम्मान्य सम्झे जाते थे और यह पहले बतलाया जा चुका है कि रथकार और कर्मार राजा के अधिकारियों में गिने जाते थे।

सम्पत्ति तथा वित्तिय—घासों की अचल सम्पत्ति भूमि और चल सम्पत्ति प्रवाल रूप से पशु थे। जमीन खरीदने-बेचने की प्रथा नहीं थी, उसकी धारणकर्ता भी नहीं थी, क्योंकि जंगल साफ करके नई जमीन बनाई जा सकती थी, लेकिन, अचल सम्पत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा का प्रचलन नहीं के बराबर था, वस्तु-वित्तिय ही चलता था, भाव-लाभ में काफी हलचल होती थी, वित्तिय में माय शिल्प का काम होती थी। निष्क नाम का सोने का सिक्का चलता था, पहले यह धातु-पत्र-मात्र था। उस समय भी ऋण लेने-देने का रिवाज था। तुर में हारना प्रायः ऋण का कारण होता था। ऋण न चुकाने से दास बनना पड़ता था।

साधार—वैदिक धर्म गाँवों में रहते थे। उसमें व्यापार का विशेष विकास नहीं हुआ था। यही नामक व्यापारी जाति का उल्लेख धर्मग्रन्थ मिलता है, लेकिन वे धर्मार्थ या धर्मुर होते थे। सदियों पार करते के लिए नौकाएँ जब चलती थीं, लेकिन समुद्र में जाने-जाने वाली नौकाएँ थीं या नहीं इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वेद में सिन्धु और समुद्र शब्द का प्रयोग है, लेकिन जेरी में पतवार, पाल, लंगर और मस्तूल का वर्णन न होने से कुछ विद्वान सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी करते हैं। दूसरी ओर अन्य विचारकों की यह धारणा है कि भारतीय व्यापारियों की नौकाएँ तट के साथ-साथ ईरान की खाड़ी तक जाती थीं। दूसरे मत में अधिक सबाई मालूम पड़ती है।

उत्तर वैदिक युग

इस समय कृषि प्रधान आजीविका बन चुकी थी। एक हज़ार में २४ बैल तक जोड़े जाने लगे थे। खाद का बड़ा प्रयोग होने लगा था। किन्तु प्राकृतिक विपत्तियों से दुर्भिक्ष भी पड़ते थे। टिहो-दल द्वारा वर्णित एक ऐसे ही अन्वय का संकेत उपनिषदों में है। व्यापार बंद रहा था। शतपथ ब्राह्मण की अल-प्रत्यक्ष की कथा के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उन दिनों भारत और बेबीलोनिया का सम्बन्ध था। निष्कर्ष के प्रतिरिक्त अतमान और कुष्णत के सिक्के भी चलने-लगे थे व्यापारियों ने गणों के रूप में अपने संगठन बनाने शुरू कर दिये थे। उद्योग-धनों में अम-विभाजन बंद रहा था। अनेक नये धर्म निकल रहे थे। धर्मवेद में विभिन्न गणों की विस्तृत गणना है। इसी समय से नार्द और ज्योतिषी के पेशे शुरू होने हैं। स्त्रियों वस्त्रों की रमाई और कढ़ाई के द्वारा आर्थिक जीवन में भाग ले रही थीं।

वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ—भारतीय संस्कृति के निर्माण में वैदिक धर्मों ने सबसे अधिक भाग लिया, अतः यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह ज्ञान लेना चाहिए कि इसमें उत्तरी विशेष देने का भी। इनकी निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) सहिष्णुता और सामंजस्य का भाव, (२) शोचस्वित्ता, (३) ज्ञान-विज्ञान का विकास, (४) तपोवन-भक्ति, (५) वर्तमान-व्यवस्था, और (६) नारियों की शोचिता। अन्तिम दो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ पहली चार का ही प्रतिपादन किया जायगा।

सहिष्णुता का भाव—धर्म इस देश के विजेता थे। उन्होंने धार्ष्ट्यलिपा, उत्तरी तथा मध्य अमरीका के युरोपियन आबासकों की तरह पुरानी जातियों का लोहार नहीं किया किन्तु इज्जत पर हमला करने वाले एन्गो वीकम लोगों की भाँति वे यहाँ की मूल जातियों से घुलमिल गए। दोनों के धर्म में एक सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। धर्मों ने यद्यपि अन्तर्गत देवता और पूजा-भक्तियों स्वीकार की, किन्तु उनका परिष्कार कर दिया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो अद्वैत धर्मकाण्ड है, कोय प्रभृति युरोपियन विद्वान् उसका मूल लोक-अश्रुति-विधि-विधान समझते हैं। उपाहरणार्थ—धर्मों के

मूल धर्म में पशु-बलि की कुर प्रथा नहीं थी, यज्ञों में इसे स्वीकार किया गया। शिव, रावण आदि धनायों द्वारा पूजा जाने वाला देवता हिन्दू धर्म में भगवान् माना गया। नागों को हिन्दू धर्म में ऊँचा स्थान इसी सहिष्णुता से मिला। जंगली जातियों पत्थरी की पूजनीयों, वे साहित्यग्राम और निर्वासित बने। प्रारम्भिक धार्मिक मूर्ति बनाना या देवता के किसी प्रतीक पर फूल, पत्ते, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, फल-मूल आदि के नैवेद्य प्रथमा बलि किये पशुओं का रक्त चर्यन करना नहीं जानते थे। धर्मों ने धनहीन सहिष्णुता और उदारता से उन सभी लोक प्रचलित विश्वासों और पूजा-मन्त्रियों को ग्रहण करके उन्हें परिमार्जित किया, इनके समर्पण के लिए नये कथानक और धार्मिक व्याख्याएँ गयीं।

प्रगतिशीलता—समूचा वैदिक साहित्य प्रगतिशीलता के प्रोजेक्सी चित्रों से खोत-खोत है। उसमें पौरुष, सीमा, पराक्रम और प्रबल आघात के स्फुटिदायक चित्रों का प्राधान्य है। शत्रुओं का दमन तथा बाघाघों का पद-दलन करते हुए जीवन में सदैव विजय प्राप्त धर्मों का प्रधान लक्ष्य था। उनके जीवन का मूल मन्त्र था—'बड़े बलों, बड़े बलों' (चरैवेति, चरैवेति)। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र ने रोहित को इसका उपदेश करते हुए जो संदेश दिया है, विश्व के वाङ्मय में उससे अधिक ऊर्ध्वस्वत संदेश कहीं नहीं मिलता। 'जो परिश्रम से एकवार चकनाचुर नहीं होता, उसे नश्वरी नहीं मिलती' (नानाधान्ताय श्वोरस्ति)। भाग्य के भरोसे बैठने का कोई लाभ नहीं। 'जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो उठ खड़ा होता है, उसका भाग्य भी उठ खड़ा होता है। जो घबहरा होता है, उसका भाग्य भी घबरे जाता है।' इसलिए 'धामे बड़ो, धामे बड़ो।' अपनी निष्क्रियता या असफलता के लिए कलियुग को दोष देना व्यर्थ है क्योंकि 'सो रहने को ही कलियुग कहते हैं और निरन्तर घबहरा होने को सत्ययुग।' भगवान् धामे बड़ने वाले का साथ देते हैं। धामे बड़ने से सत्ययुग और स्वानु फल मिलता है। तूम की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह चलने में आलस्य नहीं करता। प्रतः 'धामे बड़ो, धामे बड़ो।' प्रगतिशीलता की यह भाषना धर्मों के समूचे जीवन में खोत-खोत थी। इसी से उनका तथा उनकी संस्कृति का भारत में और भारत से बाहर के देशों में प्रसार हुआ और उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विलक्षण उन्नति की।

ज्ञान-विज्ञान—धर्मों की तीसरी विशेषता ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश, विवेचन और उसे व्यवस्थित या क्रमबद्ध रूप देने की प्रवृत्ति थी। व्यवस्थित ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। उन्होंने दुनिया में सर्व प्रथम उन्धारण, भाषा और व्याकरण शास्त्र के नियमों का विवेचन किया। सूत्र शैली में विभिन्न विज्ञानों को उन्होंने बड़ी व्यवस्था से प्रतिपादित किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण पाणिनि की अष्टाध्यायी है। दर्शन, वायुवेद, राजनीति, छन्द, ज्योतिष आदि सभी शास्त्रों पर उन्होंने इस प्रकार के ग्रन्थ लिखे।

तपोवन-पद्धति—उत्तर वैदिक युग में इस पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ; रामायण, महाभारत में इसका काफी वर्णन पाया जाता है। भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में इसने बड़ा भाग लिया। पुराणों में ऋषि-मुनियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने तथा भौतिक फल पाने की अनेक कथाएँ हैं। राजकल तपस्या का धर्म आत्म-भीड़न या आरौरिक घातना समझा जाता है। किन्तु प्राचीन काल में विशेषकारी वर्गीयों और गुणों को तिलांजलि देकर किसी ऊँचे धार्मिक या उद्देश्य के लिए अनन्य निष्ठा और एकाग्रता के साथ उग्र परिश्रम करना ही तपस्या कहलाती थी। अरौरण ने यंग की धारा नियमित करने के लिए जो जनपद और उग्र परिश्रम किया, वह आज तक प्रसिद्ध है। प्राचीन ऋषियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने का धर्म यही प्रतीत होता है कि वे उन जंगलों में ज्ञान के केन्द्र स्थापित करके भ्रष्टानाम्धकार का नाश करें, जंगली जातियों को सम्प्रदाय का पाठ पढ़ाएँ, उन्हें उच्चतर नैतिकता और धर्म की दीक्षा दें। प्रायों के प्रागमन से पहले भारत, दक्षिण भारत, राजस आदि अनेक जातियों से भ्रष्टासित था। महर्षि भगवत् सबसे पहले उस प्रदेश में गए और उन्होंने वहाँ तपोवन स्थापित करके ज्ञान का आलोक फैलाना शुरू किया। उनके अतिरिक्त बड़ी संख्या, शरभन आदि के आश्रम भी अपने पड़ोस की जंगली जातियों को सम्प्रदाय बना रहे थे।

आश्रमों का दूसरा कार्य ज्ञान का विकास, प्रचार और उन्नति थी। ऋषि तपोवनों के सुरम्प एकान्त में पारलौकिक और धार्मिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। श्रद्धालु विद्वान् दूर-दूर से उनके घरों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करने आते थे। उस समय के सबसे बड़े विश्वविद्यालय यही थे। इन्हीं में धारण्यक आश्रमों का तथा उपनिषदों का निर्माण हुआ। दार्शनिक विचार की ऊँची-से-ऊँची उड़ानें ली गईं। इन्हीं में आचार-शास्त्र और धर्म की गहन ग्रन्थियाँ मुजमाई गईं। तपोवन प्राचीन हिन्दु संस्कृति का एक प्रधान मूल स्रोत थे। हमारे वाङ्मय के एक बड़े भाग का निर्माण इन्हीं में हुआ; रामायण, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ इन्हीं के ज्ञान-वातावरण में लिखी गईं।

रामायण और महाभारत तथा तत्कालीन भारत

रामायण और महाभारत हमारे जातीय महाकाव्य हैं। इनमें वर्णित धर्म, आचार-व्यवहार के नियम, संस्कार, व्यवस्थाएँ और प्रमाणें हमारी धर्म-जीत जाने पर आज भी हमें प्रेरणा दे रही हैं और हमारी जाति के जीवन के निर्माण में वे प्रमुख भाग ले रही हैं। भारतीय जीवन की वास्तविक आधार-शिला यही हैं। रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि ने लोगों को मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट आदर्श बताने के लिए की थी। रामायण और महाभारत का राजमहल से लेकर कुटिया तक सर्वत्र प्रसार है। हमारे कर्णों से भारतवर्ष के गाँव-गाँव और घर-घर में प्रतिदिन इनकी कथा होती चली आ रही है। इससे भारत की आध्यात्म-वृद्ध-वर्धिता जनता ने केवल ध्यान ही नहीं पाया, अपितु शिक्षा भी ग्रहण की है। वह उन्हें हृदय में ही नहीं रखती अपितु शिरोधार्य भी करती है। ये उसके लिए काव्य ही नहीं, धर्म शास्त्र भी हैं। ये हमारे धर्म का प्रधान मूल स्रोत, सामाजिक आचार का संरक्षक और संस्कृति के प्राण हैं। यहाँ पहले दोनों के काव्य तथा महत्त्व का उल्लेख करके अन्त में इनसे सूचित होने वाली तत्कालीन संस्कृति पर विचार किया जायगा।

रामायण का रचना-काल—रामायण का रचना-काल ५०० ई० पू० से पहले का है। रामायण की घटना त्रिसन्वेह बहुत पुरानी है। किन्तु उसके वर्तमान रूप का अधिकांश भाग छठी शती ई० पू० से लिखा गया प्रतीत होता है, क्योंकि इस शती में अगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय हम पहली बार आवश्यक, यादगिणुष और उत्तरी बिहार में वैशाली राज्य का उल्लेख पाते हैं। बुद्ध के समय रामायण की अयोध्या का स्थान आवश्यकता से भुकी भी और जनकपुरी मिथिला के महत्त्व का भी धन्य हो चुका था। इसी प्रकार रामायण पर बौद्ध धर्म का भी कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु, बौद्ध आतकों में रामायण की कथा है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उसकी रचना बौद्ध-साहित्य से पहले हुई है। किन्तु इसमें पीछे तक काफ़ी प्रयोग होते रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शती तक इसका वर्तमान रूप पूर्ण हो चुका था।

महाभारत का रचना-काल—महाभारत के विकास में रामायण से भी धार्मिक समय लगा। उसकी मूल कथा तो त्राह्य-ग्रन्थों के समय (१००० ई० पू०) में अथर्व प्रचलित थी, क्योंकि इनमें कुरुक्षेत्र, परीक्षित, भरत और धृतराष्ट्र का उल्लेख है।

उसके बाद अनेक घटियों तक महाभारत की कथा 'मूर्खों' (चाणूरों) की रसता पर फलती-फूलती रही। उसमें अनेक परिवर्धन होते रहे। ५०० ई० तक (कुछ विद्वानों की सम्मति में ४०० ई० तक) इसका वर्तमान बृहत्स्वरूप पूरा हो चुका था। इसका अन्तिम सम्स्करण २०० ई० पू० में सातवाहन युग में हुआ। मध्य महाभारत में इसके अधिक विकास का स्पष्ट उल्लेख है। "व्यास ने तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम करके इसकी रचना की, उन्होंने इसे अपने शिष्य वैशम्पायन की सुमाता। वैशम्पायन ने धर्म के प्रसौन जनमेजय की तथा सीमरी बार भीमहर्षण के पुत्र भीम ने यह कथा शौनक आदि ऋषियों को सुनाई। व्यास के ग्रन्थ का नाम 'जय' था। इसके श्लोकों की संख्या ८,८०० थी, वैशम्पायन ने इसे बढ़ाकर २४,००० श्लोकों का 'भारत' बनाया और भीम ने भारत में और भी व्यापान, उपाधमान जोड़कर, 'हरिवंश' नामक परिशिष्ट के साथ उसे एक लाख श्लोकों का 'महाभारत' बना जाला।

रामायण का महत्त्व—भारतीय संस्कृति में रामायण का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के, विशेषतः गृहस्थ धर्म के, जितने उच्चतम और विविध प्रकार के आदर्श लोकप्रिय और मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किये हैं, उतने अन्य किसी ग्रन्थ ने नहीं किये। यह इसका विशाल भंडार है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श राजा, आदर्श प्रजा, आदर्श धर्मोत्सा—सारांश यह कि सब प्रकार के आदर्श इसमें हैं। सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते रहे हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक एकता का एक बड़ा कारण यही आदर्श हैं। बाल्मीकि का उद्देश्य ही मर्यादा पुण्योत्तम राम का चित्रण करना है। रामायण के अन्य चरित्र तो प्रधान रूप से एक आदर्श का चित्रण करते हैं, किन्तु राम अनेक आदर्शों का गुञ्ज है। वे पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वन जाने वाले आदर्श पुत्र, भाई के लिए नदी छोड़ने वाले आदर्श भाई, सीता का राक्षस से उद्धार करने वाले आदर्श पति हैं और अपनी प्राणादिका प्रियतमा का लोकानुरञ्जन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। राम-राज्य धारक एक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतिनिधि है। भाई बलताएँ हथारों क्यों से उनके उदात्त उदाहरण का अनुसरण करती आ रही हैं। कौशल्या-जैसी माता और भरत और लक्ष्मण-जैसे भाई सदैव हिन्दू समाज में अनुकरणीय माने जाते रहे हैं।

महाभारत की महिमा—महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास का प्रदर्शक एक विशाल विश्व-कोष है। इसमें उस समय के सामिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का समूल्य और घन संघट्ट है। महाभारत की इस उक्ति में शेष-मात्र सन्देह नहीं कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब वर्णों का मार, स्मृति, इतिहास और चरित्र-चित्रण की खान तथा पञ्चम वेद है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पहलू या समस्या नहीं जिस पर इसमें विस्तार से विचार न किया गया हो। शान्ति एवं और अनुशासन एवं

तो इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। इसीलिए महाभारत का यह दावा सर्वथा सत्य है कि 'धर्म, धर्म, काम और मोक्ष के विषय में जो इसमें कहा गया है वही सत्य है, जो इसमें नहीं है वह कही नहीं है' (अविहास्ति तत्तत्त्वमग्नेहास्ति न तत्त्वमचित्)। ऋग्वेद के बाद यह संस्कृत साहित्य का सबसे देदीप्यमान स्तंभ है। विस्तार में कोई काव्य इसकी समता नहीं कर सकता। यूनानियों का इतिवृत्त और ओदेसी मिलाकर हमारा घाठवाँ हिस्सा है। इसका सांस्कृतिक महत्व इसी सभ्य से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी का ग्रंथ है। भारत या भारत से बाहर जहाँ कहीं भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ, वहाँ रामायण के नाम-नाम महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी ओर ई० पू० में यूनानी राजदूत इसके उपदेशों को उद्धृत करते हैं और छठी सदी ई० में सुदूर कम्बोदिया के मन्दिरों में इसका पाठ होने लगता है। सातवीं सदी में मंगोलिया के तुर्क आरमी भाषा में द्विदिम्बा-वय आदि उपास्थानों का ध्यान देने लगते हैं, इसी सदी में जावा की ओङ्ग-भाषा में इसका अनुवाद हो जाता है।

दोनों महाकाव्यों का काल एक ल होने पर भी वे प्रधान रूप में प्राबुद्ध-कामोत्त संस्कृति के उस काल पर प्रकाश डालते हैं जब हिन्दू धर्म और समाज का रूप काफी सुस्थिर हो चुका था। इनमें भारतीय संस्कृति के सब प्रधान विचार वर्तमान-व्यवस्था, जन्मालम्बाद, आत्मा की घमरता, कर्मवाद, उदारता और सहिष्णुता मिलते हैं। यद्यपि रामायण अग्नेयाहुत पहले काल की कथा का दिग्दर्शन कराती है तथापि दोनों मोटे तौर से उत्तर वैदिक युग के अन्तिम भाग की भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं।

पार्थिव यज्ञ

नये देवता—वैदिक युग के महाकाव्य-युग के धर्म में यज्ञ अन्तर था गया था। पहले युग की प्राकृतिक शक्तियों के मुख्य इन्द्र, वरुण, उषा आदि देवताओं का स्थान धर्म, सत्य, विद्या और वैश्वदेव-जैसे देवता लेने लगे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की विभूति का उत्कर्ष हुआ। वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियाँ देवता बनती थीं; धर्म और युरप इस पर जो पाने लगे। श्रीराम रामायण के मूल ग्रंथ में मनुष्य हैं, किन्तु बाद के संस्करणों में विष्णु का अवतार बन जाते हैं। इस समय शाक्तवाद ने नये देवी-देवता ग्रहण करने का एक सुन्दर उपाय खोज निकाला था। जिस तरह वैदिक युग में सब देवता एक भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे, उसी प्रकार वे सब भगवान् की तीन मुख्य उपादेय, सारक और सहायक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विविध रूप बने। विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कट्टरता का जल इसी उपाय से किया गया। इस युग में विष्णु के शक्त भावधर्मों या पार्थिवों तथा शिव के उपासक पाशुपतों का प्राधान्य था। धर्म का उपासक और सम्प्रदाय भी प्रबल हो रहा था। इनके पार-पारिक विराध से धर्म आदि की एकता के निश्चयन की सम्भावना थी। इस संकट के निवारण के लिए यह कल्पना की गई कि भगवत्ता के उपास्य देवता

विष्णु ही पादुपतों के धाराधन देव शिव हैं (म० भा० ३:३६:७६ प्र०) । महाभारत के एक ही पर्व में शिव और विष्णु की सहस्र नामों से स्तुति है ।

भक्ति की प्रचलना—इस युग की दूसरी विशेषता भक्ति की प्रचलना है । वैदिक युग में कर्मकाण्ड पर अधिक बल था, उपनिषदों ने ज्ञान को प्रधान बतलाया, किन्तु अब भक्ति की महिमा बढ़ने लगी । भक्ति द्वारा भगवान् की धाराधना करके उसे प्रसन्न किया जा सकता था । इस आन्दोलन के नेता श्रीकृष्ण थे । पहले यह बतलाया जा चुका है कि धीरे धीरे भक्ति ने श्रीकृष्ण को नये प्रकार के यज्ञ का उपदेश दिया था । महाभारत के समय यत्नरूपों को देवता बनाने की जो प्रवृत्ति थी उसीने कृष्ण को भी भगवान् बना दिया । बाद में उसी की भक्ति पर बल दिया जाने लगा ।

धर्म-यज्ञ—यज्ञ-यज्ञ के स्थान पर महाभारत में मूर्ति पूजे के लिए धर्म-यज्ञ, धारम-संयम और चरित्र-बुद्धि पर बल दिया गया है । रामायण के समय तक यज्ञों की काफी महत्ता थी । महाभारत के समय भी वे सर्वथा मृत्यु नहीं हुए थे । फिर भी विचारकों ने स्पष्ट रूप से यह कहना शुरू किया कि उन कृतापूर्ण यज्ञों को करने का क्या लाभ, जिनसे स्वयं धार्मिक शक्ति प्राप्त होती है । सच्चा यज्ञ तो सत्य, श्रद्धा, तुष्टा, क्रोध का परित्याग, संयम, वैराग्य और त्याग है । इनकी साधना करने वाला यह फल प्राप्त करता है जो हजारों यज्ञों से भी नहीं प्राप्त हो सकता । आचार-बुद्धि सबसे बड़ा धर्म है ।

गीता का मध्य-मार्ग—इस युग में भारतीय धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें भगवद्गीता में मिलता है । यह इतना महान् है कि इसमें सब धर्मस्थायी, सब धर्मों, सब वर्णों और जातिधर्मों को अपने-अपने विश्वासों के अनुसार मोक्ष पाने की स्वतन्त्रता है । गीता में पूर्व कर्मकाण्डी यज्ञों पर बल दे रहे थे, तपस्वी तप को महत्त्वपूर्ण समझते थे । विछले धर्म के मत में दुनिया से मुक्ति तब तक नहीं हो सकती थी जब तक कि दुनिया से भागकर योगाभ्यास न किया जाय । किन्तु श्रीकृष्ण ने मध्य मार्ग का उपदेश दिया । योग की तिष्ठि न तो कुछ तर से धीरे न ही भोग-विवास से होती है—जिसका आहार-विहार, वैष्णव, निद्रा और जगरण मुनिवर्तित है उसी का योग दुःख दूर करने वाला है' (३:१७) । श्रीकृष्ण अन्य योगियों की तरह इन्द्रियों के व्यापार और काम वृत्ति के बल पर धर्मविकल नहीं होते थे । उनका तो कहना ही नहीं था कि मैं 'धर्मवर्तिणी काम हूँ' वे योग के लिए निष्किय संन्यासियों का-ना जीवन नहीं पसन्द करते थे । उनका मन्तव्य तो यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा पालन करना चाहिए । इसीसे उसे मुक्ति और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी । महाभारत में कई उदाहरणों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि भी की गई है । कनक में मातृ-वैचने वाले व्याप ने ब्राह्मण को सर्व-ज्ञान दिया है (अध्याय २:६-२२४) । इसी प्रकार शान्ति-पर्व में जाबलि नामक ऋषि ने तपस्वी ब्राह्मण को यह बतलाया कि उसने कभी बन्दी नहीं मारी, इसीलिए उसे ब्रह्म-ज्ञान मिला है

(ख० २६०-२६३) । गीता की प्रधान शिक्षा कल को श्रमा छोड़कर, निष्काम बुद्धि से धरना कर्त्तव्य-पालन करने की है ।

सार्वभौम धर्म—गीता ने न केवल स्वधर्म-पालन पर बल दिया बल्कि उसमें साथ ही उसमें मोक्ष का द्वार खोल दिया के लिए जोल दिया । गीता ने पहले युक्ति के दो ही साधन थे—यज्ञ और ज्ञान । दोनों का चेहरे में प्रतिपादन होने से उनका अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही था । (वे० सू० १।३।३४।३८) । गीता ने पहली बार स्त्रियों तथा नीच जातियों को भी उत्तम गति पाने का अधिकार दिया (६।३२) । भगवद्गीता द्वारा स्त्री, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय आदि निम्नजनों, नीच वर्गों में उत्पन्न सभी मोक्ष के अधिकारी समझे गए । श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र में स्त्री-पुरुष, धर्म-मनार्थ सभी प्रकार का भेद मिटा दिया । गीता में इसे राजसौत प्रमाण सबसे श्रेष्ठ ज्ञान कहा गया है । इसके साथ ही श्रीकृष्ण ने पूजाविधियों की विविधता को भी स्वीकार किया । यह आवश्यक नहीं कि किसी एक निश्चित रूप में ही भगवान् की उपासना की जाए । जो सोम श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं वे तो मोक्ष के अधिकारी होते ही हैं किन्तु श्रीकृष्ण के मतानुसार जो किसी भी ग्रन्थ देवता का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं, वे भी भगवान् की ही भक्ति करते हैं (गी० ९।२३) । वे पशु-पुत्र जो कुछ भी जानते हैं भगवान् उसे स्वीकार करते हैं । इस प्रकार गीता के सार्वभौम धर्म में किसी प्रकार के देवता या पूजा-पद्धति का नियम नहीं । वह जाति, देश और सम्प्रदाय के सभी प्रकार के बंधनों से ऊपर उठा हुआ है । श्रीकृष्ण ही सम्भवतः संसार में सार्वभौम धर्म के पहले प्रचारक थे ।

धर्म का पालन—गीता तथा महाभारत ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य धर्म का पालन है । धर्म का तात्पर्य किसी विशेष देवता की पूजा ही नहीं, बल्कि ईमानदारी से और नैतिकता पूर्वक जीवन-यापन करना था । भारतीय दृष्टि से आचार-बुद्धि और धर्म पर्याप्त हैं । वह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म का पालन किसी विशेष लाभ के उद्देश्य से नहीं होना चाहिए । उसका पालन धर्म के लिए ही होना चाहिए । युधिष्ठिर ने बलिये की मांगना से धर्म-पालन करने वालों की ओर निन्दा की है । धर्म के मार्ग पर चलते हुए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं । रामायण और महाभारत में सबसे अधिक कष्ट धर्मात्माओं—धीराम और युधिष्ठिर—को उठाने पड़े । फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए । दोनों महाकाव्यों की एक प्रधान शिक्षा यह है कि कठोर-से-कठोर संकट और विपत्ति में भी हमें अपने धर्म और कर्त्तव्य का स्वयं नहीं करना चाहिए ।

ब्रह्म—इस समय तक हमें भारतीय दर्शनों के मूल विचारों का विकास हो चुका था, किन्तु धर्म उसमें कमजोरी और सुनिश्चरता नहीं पाई थी । इस समय तक वे निर्माणावस्था में थे, उन्होंने पृथक् सम्प्रदायों का रूप धारण नहीं किया था । इस बात में सभी मौमांसक थे कि वे वैदिक विधियों का पालन करते थे । सांख्य योग का

भगवद्गीता में स्पष्ट निर्देश है। उन दोनों को पुनर्कृत्तमाने वालों को 'बात' वर्गीकृत करने के लिए कहा गया है। न्याय सब प्रकार के अध्ययन और विचार के लिए आवश्यक समझा जाता था। वेदान्त का जन्म भी महाभारत में स्पष्ट निदिष्ट है।

सामाजिक जीवन

सामाजिक संरचना—इस जगत में सभी व्यवस्था तो थी, किन्तु बात-चीत नहीं थी। लोगों का विचार गुण-बर्णानुसार माना जाता था। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "मैंने पाण्डुवंश की व्यवस्था गुण, कर्म के आधार पर की है।" उस समय तक यह कर्म के आधार पर नहीं थी। जब पूर्व में यह कहा गया है कि नहीं व्यक्ति बाह्य है जिसने काम-बोध को बंध में किया है, इन्द्रियों पर विजय पाई है। जो अध्ययन-अध्यापन और यज्ञ-कर्म करते जाते अहिंसक तथा शुद्ध आचार बलवान् हैं। उस समय तक सामाजिक विचार परवर्ती लोगों को तरतु सुनिश्चर नहीं हुए थे। बाह्य-अहिंसक का काम करते थे और अहिंसक बाह्यों का। श्रेयाचार्य विप्र होते हुए भी धर्म-वैद के सच्चे बड़े आचार्य थे और भीष्म-पितामह सबसे बड़े शक्ति होते हुए भी उत्तम-ज्ञान के उपदेशक थे। महाभारत में एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि कर्मों का कोई भेद है ही नहीं (सान्नि प० १८८।१००)।

स्त्रियों की स्थिति और विवाह-पद्धति—तत्कालीन समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठित पद प्राप्त था और उन्हें समाज में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। किन्तु उत्तर वैदिक युग से स्त्रियों की स्थिति में जो ह्रास होता आरम्भ हुआ था, वह इस युग में भी बना रहा है। नारी-विरोधी-वर्ण पुत्रियों के जन्म को बुरा मानता था (१।१।२६।११)। उन्हें भारी जुवाइयों का भुक्त सम्भला था (६।३।५।१)। किन्तु दूसरी ओर ऐसे विचारों को भी कभी नहीं भी धिक्की यह मान्यता थी कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा से देवता प्रसन्न रहते हैं। स्त्रियों को ऊँची शिक्षा मिलती थी। उन्हें अपना पति चुनने की भी स्वतन्त्रता थी। महाभारत के समय में ब्राह्मण प्रकार के विवाह—ब्राह्म, वैश, शूद्र, आश्वत्थ, गान्धर्व, आसुर, राजस और पैशाच—प्रचलित थे। इनमें पहले चार ही अच्छे समझे जाते थे। गान्धर्व, राजस और आसुर विवाहों का भी काफी रिवाज था। युधामन्यु और द्रुपदका में गान्धर्व अर्थात् प्रणय-विवाह हुआ था। राजस का अर्थ था कन्या के वलपूर्वक हरण द्वारा किया जाने वाला विवाह। द्रुपद का सुभद्रा-हरण, श्रीकृष्ण का कर्णमन्यु-हरण और युधिष्ठिर का कर्णमन्यु-हरण इसके उदाहरण हैं। आसुर-विवाह में कन्या का पिता वरपक्ष से पतन होता था। माद्री का विवाह ऐसा ही था। नियोग की प्रथा भी इस समय शास्त्र सम्मत थी। कुन्ती ने सुग्रीव और धर्म पाण्डव नियोग से उत्पन्न किये थे। बहु-विवाह-प्रथा धर्मियों और राज-वर्ग में काफी प्रचलित थी। भारतीय साहित्य में पत्नी के उदाहरण इसी समय से मिलने आरम्भ होते हैं। माद्री पाण्डु के साथ सती हो गई थी। बात विवाह की प्रथा भी शुरू हो गई थी।

प्रामा: यह समझा जाता है कि पर्दा-प्रथा मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ हुई, किन्तु यह ठीक नहीं है। रामायण और महाभारत दोनों में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्त्रियों सामान्य रूप से चलन रहती थीं और सर्व सामारण के सामने नहीं घाती थी। श्रीराम ने जब मरुभूमि की धूमिल-नरीक्षा के लिए सीता को उसके सामने लाने को कहा तो वह धार्मिक-वर्णित हो गए। तब राम को यह कहना पड़ा कि संकेत, पत और विवाह के समय में स्त्री का प्रवेश आपत्तिजनक नहीं है। दुर्योधन को स्त्रियों की महाभारतकार ने अनुसंधान (शब्द एवं २६।७४) कहा है। फिर भी महाभारत में इस बात की परीक्षा साफ़ है कि स्त्रियों में मध्य-काल कीन्ती परम्परा और पर्व-प्रथा नहीं थी। स्वयंवर आदि में वे सबके सामने घाती थीं। कुछ विद्वानों ने पर्व का कारण ईरानी या यूनानी प्रभाव को बताया है। प्राक्काल हिन्दू-समाज में स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेती, किन्तु रामायण और महाभारत के समय में दीपदी, सीता, दमयन्ती और सावित्री आदि पति को नाम लेकर पुकारने में संकोच नहीं करती थी।

गृहस्थ-जीवन में पत्नी का स्थान वैदिक काल की भक्ति-पति के बराबर समझा जाता था। वे पुरुष की धर्मोद्भूति और सुखों का स्रोत समझी जाती थी। वे पतिव्रता के ऊँचे धार्य का पावन करती थीं। सीता, सावित्री और दमयन्ती धाव तक भारतीय स्त्रियों के लिए अनुकरणीय उदाहरण हैं।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण—वैदिक युग की भक्ति इस समय भी जीवन का दृष्टिकोण आभावादी था। भ्राता की शोभा पौरुष पर अधिक बल दिया जाता था। महाभारत में बार-बार इस प्रश्न पर विचार है कि भ्राता प्रसन्न है या पुरुषार्थ; और प्रायः हर बार ही पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। महत्वाकांक्षा, क्षात्र परित्याग और भ्रातृहत्या प्रत्यक्ष सम्पत्ति के भूय माने गए हैं। 'महत्वाकांक्षी ही महान् बनता है और क्षात्र भूय का भोग करता है। देवता भी अपने कर्म के कारण महान् होते हैं। जो व्यक्ति भ्राता पर भरोसा रखकर काम नहीं करता वह नपुंसक पति वाली स्त्री की तरह गया हुआ रहता है।' इस युग के अन्त में ही भारतीय धर्मोद्भूति में कुछ धर्मपर धारें लगायीं। अन्तर्धर्म में वल के धर्मों के उत्तर में एक स्त्री के नैतिकव्रता और भ्राता की श्रेष्ठता बताया गया है।

इस समय भारतीयों ने वैदिक और आचार की बहुत महत्ता दी। महाभारत के एक उपाख्यान में बताया गया है कि जब प्रजापति ने इन्द्र का अपराध क्षील दिया तो सम्पत्ति भी उसके पास से जाने लगी। जब प्रजापति ने उससे जाने का कारण पूछा तो उत्तर मिला—“मध्या यहाँ रहती है जहाँ शीत, गर्म और मलय रहते हैं”। राम का वनव्यापन और तुषिर्गिरि का तप-श्रेष्ठ प्रसिद्ध हो है। मेगस्थनीज प्रभृति विदेशियों ने भी भारतीयों की नैतिक उन्नतता और श्रमविद्यता की स्वीकार किया है।

आर्थिक वशा

कृषि—इस युग में आजीविकाधी (वृत्तियों) के शास्त्र का सामान्य नाम 'वार्ता' था। इसके तीन अंग थे—कृषि, पशु-पालन और शिल्प। राजाधर्म का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वे तमो वृत्तियों को उन्नति के लिए योग्य पुरुष नियुक्त करें। कृषि काही उन्नत थी, सिचाई का राज्य की ओर से प्रवर्धन किया जाता था। उद्यान-कला (बागवानी) का विकास इसी युग से आरम्भ होता है। धनी लोगों को पाँच वर्ष में फल देने वाले आम के बगीचे लगाने का बहुत शोक था।

पशु इस युग में भी सम्पत्ति का प्रधान अंग थे। कृषि के लिए बैल और गुर्रों के लिए छोटे तथा हाथी अनिवार्य थे। इनकी चिकित्सा और शिक्षा के लिए योग्य व्यक्ति नियत किये जाते थे। अज्ञात वास के समय सहदेव ने विराट के सहा गो-विशेषज्ञ और नकुल ने अश्व-विशेषज्ञ के रूप में मीकरों को भी। उन दिनों पशुधर्म के शिक्षण और चिकित्सा पर हस्ति-सूत्र और अश्व-सूत्र आदि कई ग्रन्थ रचे गए। आजकल इनमें से नकुल का अश्व-विद्या-विषयक 'शालि-होत्र' तथा 'हस्त्यामुचद' ही उपलब्ध होते हैं।

शिल्प—शिल्पों में वस्त्र-व्यवसाय विशेष उन्नति पर था। उत्तर वैदिक युग में भारतीय साहित्य में कपास का उल्लेख मिलता है। मोहेंजोदड़ो में भी सूती कपड़े के अवशेष मिले हैं। दुनिया को कपास का परिचय कराने वाला भारत ही था। यूनानी इस बात पर आश्चर्य करते थे कि भारत में ऊन पेड़ों पर खगती है। १८वीं शती तक भारत का वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था और वह दुनिया को बाँके की मलमल-जैसा महोदय कपड़ा देता रहा। महाभारत के समय में भस्त्र और चीन देशों में बड़िया सूती कपड़ा बनता था, ऊनी कपड़ों के लिए आजकल की तरह ही काश्मीर और कम्बोज (पामीर और बदख्शा) प्रसिद्ध थे। रेशमी वस्त्रों का भी प्रचलन था। सीना, चाँदी, लोहा, सीसा और राँघ से अनेक पदार्थ तैयार किये जाते थे। समुद्र से मोती और दक्षिण की खानों से अनेक मणियाँ निकाली जाती थीं। इनमें वैदूर्य सबसे मूल्यवान थी। विभिन्न शिल्पों के प्रोत्साहन के लिए राज्य को ओर से सहायता दी जाती थी। आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार प्रधान रूप से वैदूर्य के ह्रास में था। धनी लोग अपने सामान के यातायात के लिए गोमियों (बजारों) को रखते थे। माल की दुलाई पशुधर्म तथा बैल गाड़ियों से होती थी। विदेशों के साथ सभी व्यापार बहुत उन्नत नहीं था।

राजनीतिक जीवन

इस समय अधिकांश भारत में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा कुल-कल्पागत थे। उनका मुख्य कार्य प्रकृति-रजन समझा जाता था। उनकी शक्ति तथा अधिकार सर्वथा निरंकुश हों यह बात नहीं है। राजा राजकीय कार्य 'मन्त्र' की सहायता से करता था, इसे हम वैदिक युग में भी देख चुके हैं। इसमें न

जो राज्य के सब क्षत्रिय मोड़ा होते थे (१।२२०), या यह एक प्रकार की युद्ध परिषद् होती थी। इसमें राज्य-न्याय के ध्यातव्य सेनापति तथा धर्म्य मैगिष अधिकारी (२।४०।१०) सम्मिलित होते थे। कई बार परामर्श-वातावरण में पुरोहित और जनता के निम्न वर्ग के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये जाते थे (शा० प० १२।५५।५६)। राजा के प्रसाद या क्षमता करने पर उसके परामर्शदाता उसकी भासना करने में सहयोग नहीं करते थे। राजा को ब्राह्मणों और जनता की इच्छा का ध्यान करना पड़ता था। यह माना जाता था कि राजा और प्रजा में एक प्रकार का समझौता है। राजा प्रजा का अनुद्वेजन तथा रक्षण करता है और उसके बदले में वह प्रजा से कर लेता है। प्राचीन काल में राजा पूरा ने राजपट्टी पर बैठते समय क्षत्रियों के सम्मुख शपथ ली थी कि 'मैं जब तक जीवित रहूँगा, जो काम धर्मोन्मुख होगा वही करूँगा।' यह प्रतिज्ञा सभी राजाओं पर लागू समझी जाती थी। अत्याचारी राजा के विरुद्ध विद्रोह करने उसे पद-च्युत कर दिया जाता था। 'जब राम-द्वेष-वश, राजा तेन ने प्रजा पर अत्याचार किये तब क्षत्रियों ने उसे गद्दी से उतार दिया।'।

राजा के कर्तव्य—महाभारत में राजा के लिए अनेक उच्च धार्मिक और कर्तव्य बताये गए हैं। उसे निर्दोषों पर अत्याचार नहीं करना चाहिए। मन, वचन और शरीर से न्यायाचरण करते हुए 'अपने पुत्र का भी अपराध क्षमा नहीं करना चाहिए।' राजा का धर्म है कि जहाँ एक ओर वह साधारण प्रजा को सुखी करे, वहीं उसे दूसरी ओर 'अमाने, अनान और बुद्धों के भी धीमूँ पीछना' उचित है। विद्वानों से उपदेश सुनकर उसे उनका पालन करना चाहिए, जो ऐसा करते हुए स्वेच्छाकारी नहीं बनता 'प्रजा उसी के वश में रहती है।' उसका कर्तव्य अपनी सेना, कोष और व्यापार को बढ़ाना तथा प्रजा के कष्ट-निवारण करना है। बेकार, निर्धन और अपाहिजों का पालन-पोषण भी उस राजा का कार्य है। आज्ञातन इसके लिए परित्र-पोषण के नियम (Poor Law) बताये जाते हैं। उस समय भी अनाथ, मुद, निस्पृहाय तथा विधवाओं की रक्षा तथा उनकी आर्थिकता का प्रबन्ध राजा का कर्तव्य माना जाता था।

कर-वसूली—राज्य की धार के प्रधान स्रोत भूमि की उपज, व्यापार, शान्ति, समुद्रों तथा नदियों की उत्पत्ति पर लगाने गए कर थे। कर-संग्रह के लिए काफी उचित व्यवस्था थी : एक, दस, बीस, सौ और हजार ग्रामों के अक्षरों अपने लोग का कर जमा करके ऊपर पहुँचाते थे। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि और रक्षा ही समझा जाता था। कर लगते हुए इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि निर्धन से अपनी तक-समी पर कर का भार उचित अनुपात में रहे, कोई भी उससे वंचित न रह जाए। लोग में बढ़कर राजा को बहुत कर बढ़ाकर अपने और राष्ट्र के व्यवसाय पर कूटाघात नहीं करना चाहिए। "कर बहुत बढ़ा देने वाले राजा से प्रजा द्वेष करती है। इस प्रकार राजा को सदा राज्य जूने का भय बना रहता है। राष्ट्र की

बड़ा समझकर ही प्रजा पर कर लगाना चाहिये। गौ को अधिक गृह देने से बड़ा भी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार प्रजा पर अत्यधिक कर लगा देने से राष्ट्र की आय बहुत कम हो जाती है। राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक नागरिक, राष्ट्रवासी, उपनिवेश तथा बाधित देशवासियों से अनुकम्पापूर्वक यथाशक्ति सब उचित करों को प्राप्त कर ले (शा० ८७।१७।२४)।^१ उस समय भी राजकर्मचारी रिक्कतगौर और सूटने वाले होते थे। राजा का यह कर्तव्य बताया गया है कि इस प्रकार के व्यक्तियों से वह प्रजा को रक्षा करे।

सैन्य-प्रबन्ध—विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा युद्धों के लिए राजा विशाल सेनाएँ रखते थे। यह सेना भी स्वयंसेवक दोनों प्रकार की होती थी। सेना के चार धङ्ग होते थे—पदाति, घोड़े, हाथी और रथ। उत्तर वैदिक युग तक हाथियों का लड़ाई में प्रयोग नहीं था, वह सम्भवतः इनी युग में शुरू हुआ। भारतीयों ने इसका प्रयोग वृत्तान्तियों, ईरानियों और तुर्कों से सीखा। सेना के चार धङ्गों के अतिरिक्त कई आवश्यक और सहायक विभाग भी थे—इनमें सलाहदाता, नौसेना और पुस्तक विभाग थे। पदाधिकारियों के मुख्य हाथियार तलवार और डाल होते थे। गदा का प्रयोग इन्द्र-युद्ध तथा हाथियों की लड़ाई में होता था। घोरवारीही तलवार और भाला रखते थे। रथ पर बैठकर लड़ने वालों के प्रधान वस्त्र धनुष-बाण होते थे। कवच का प्रयोग सब करते थे। महाभारत में परिषद तोमर, भिन्दिपाल रिष्टि, वलम्भी, भुसुण्डी आदि अनेक प्रकार के अस्त्रों का वर्णन आता है, जिनका यथार्थ स्वरूप अब तक ज्ञात नहीं हो सका। उस समय मनु-शक्ति से चालेय, बाण्य, बाण आदि अनेक प्रकार के विविध बाण छोड़े जाते थे; सेना के सूची, मकर, कछादि अनेक व्यूह बनाये जाते थे।

इस काल की एक विशेषता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-नियमों की भाँति कुछ उल्लेखनीय व्यवस्थाएँ थीं। कौरव-पाण्डवों ने युद्ध से पहले ये नियम बना लिए थे कि मित्राश्रय, निष्कवच और युद्ध से पीछे दिखाने वाले पर प्रहार नहीं किया जावेगा, प्रहार करने से पहले उसकी सूचना दे दी जावेगी, बिस्वास दिलाकर तथा घबराहट में दालकर प्रहार करना तथा एक दूसरे को छसना ठीक नहीं। उस समय के धर्मों के जीवन का प्रधान अंग धर्म का पालन करना था, अतः युद्ध में भी वे छल-कपट को अनुचित समझते थे। उस समय 'युद्ध और प्रणय में सब कुछ ठीक होता है' का सिद्धान्त आदर्श नहीं बना था।

वैज्ञानिक उन्नति—इस युग में ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, पशु-चिकित्सा, रण-कला, धनुर्वेद और स्थापत्य की बड़ी उन्नति हुई थी। ज्योतिष में धर्मों की गति तथा स्थिति के बारे में उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। चिकित्सा औषधियों तथा सर्जों द्वारा की जाती थी। गहरे-ले गहरे पाक भरने का आन्ध्रबल्लक प्रभाव रखने वाली 'विमलकरणी' औषधि का कुछ प्रयोग होता था। गौधों, घोड़ों, हाथियों की मृत्यु उत्पन्न करने तथा बीमारियों को दूर करने के लिए अनेक शास्त्र बने हुए थे। वैज्ञानिक कला तथा धनुर्वेद की उन्नति

ऊपर निर्दिष्ट शास्त्रों से मिलती है। स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण मय दानव द्वारा-
निमित्त पाण्डवों का राज-प्रासाद था जिसमें जल में स्थल का और स्थल में जल का
धोखा होता था। उस समय तक भारतीय युद्धों में जीव को सत्ता को ज्ञात कर चुके
थे। (शान्ति १० अ० १८४)।

उपसंहार—यह युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगों में से है। रामायण तथा
महाभारत हिन्दू आचार-विचार की आज तक आधार शिला बने हुए हैं। ये दोनों
उज्ज्वलतम रूप में हमारे सामने उन धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक भावनों को रखते
हैं जिनके अनुसार हमें अपना जीवन बिताना चाहिये। इनमें किसी सम्प्रदाय और
जाति का बंधन नहीं है। आत्मा की अमरता, कर्मवाद, पुनर्जन्म और अहिंसा इसके
मूल तत्त्व हैं। धार्मिक और दार्शनिक विचार के क्षेत्र में भगवद्गीता में जो ऊँची
उड़ान ली गई है वह विश्व-इतिहास में अनुपम है। भौतिक क्षेत्र में मुद्र-नीति,
सन्वास्थ्य, प्राकृतिक विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य और व्यवसाय की दृष्टि से भारत ने
बहुत उन्नति की थी, किन्तु सामाजिक आचार इस समय काफी अध्वनत था। मुचिच्छि-
वैसे धर्मराज द्यूत-जैसे दुर्व्यसनों का शिकार होते थे। नरी सभा में द्रौपदी का अपमान
यह सूचित करता है कि नारी की स्थिति भी समाज में गिरने लगी थी।

जैन और बौद्ध धर्म

धार्मिक शान्ति—छठी श० ई० पू० में भारत में एक प्रबल धार्मिक शान्ति हुई। इनके प्रधान नेता वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। इस शान्ति के मूल तत्त्व थे—सांख्यिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता, वेदों की प्रामाणिकता का तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का विरोध, नैतिकता और तपस्या का महत्त्व। वेद, आत्मा और ईश्वर में विश्वास न रखने से इन्हें साम्प्रतिक धर्मान्धोलन कहा जाता है। इन्होंने स केवल भारत के किन्तु संसार के इतिहास पर कई शतियों तक गहरा प्रभाव डाला। वास्तव में यह कई शती पहले प्रारम्भ हुई प्रवृत्तियों के मूल रूप थे। इनकी जड़ उपनिषदों के समय में जम चुकी थी, अनेक बौद्धमत और तीर्थङ्कर इसे अपने जीवनो से सींच चुके थे। बौद्ध-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि छठी श० ई० पू० में स्वतन्त्र धार्मिक और धार्मिक विचार काफी विकसित हो चुके थे। ब्रह्मचाल गुप्त के अनुसार उस समय ६३ धर्मण्यम् थे। इनके विकास का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय की दो प्रधान विचारधाराएँ—ब्राह्मण-धर्मों का सांख्यिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों का ज्ञान-माने साधारण जनता की आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकी थी। यज्ञों के विरुद्ध उपनिषदों ने जबर्दस्त आवाज उठाई थी और यह भीषणा की थी कि संसार-सागर की पार करने के लिए यज्ञ कूटी भाव की भाँति है। किन्तु इसके विरोध में उन्होंने जिस ज्ञान और ब्रह्मविद्या पर प्रकाश दिया था, वह केवल बुद्धिवादी धर्म को ही प्रभावित कर सकती थी। साधारण जनता के लिए आदम्बरपूर्ण यज्ञ और रत्नसमाव से घोल-घोल उपनिषद समाप्त रूप से अटिन एवं कुर्बान थे, वह सरल, साधारण एवं भक्ति-प्रधान धर्म के लिए तरल नहीं थी। इनमें पहली दो आवश्यकताएँ बौद्ध जैन धर्म ने पूरी की और तीसरी भक्ति-प्रधान धार्मिक धर्म ने। इस अन्तर्गत में जैन और बौद्ध-धर्म का वर्णन किया जायगा और अन्त में हिन्दू धर्म का।

जैन धर्म का साधितार्थः महात्मा पार्श्व—जैन धर्म के संस्थापक प्रायः वर्धमान महावीर माने जाते हैं, किन्तु जैन अनुभूति के अनुसार वे शान्तिन और बोधिसत्व तीर्थङ्कर थे। उनमें पहले २३ जैन-धर्म-गुणारक हो चुके थे। जैन-ग्रन्थों में इनके होने अधिक धर्मावस्थाओं वर्णित हैं कि पांचाशत् विद्वान् इनमें से केवल २३वें तीर्थङ्कर महात्मा पार्श्व को ही ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं। महात्मा महावीर के

२५० वर्ष पहले ८वीं स० ई० पू० में उन्होंने वाराणसी में अश्वपति राजा की कामर नामक रानी से जन्म लिया। तीस वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न होने पर राज-पाट का परित्याग किया। २३ दिन की घोर तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने उसका प्रचार करना शुरू किया। ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करते उन्होंने पाष्वर्चनाय पर्वत पर मोक्ष-यज्ञ प्राप्त किया। पाष्वर्ष की मुख्य शिक्षाएँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रत का पालन थीं। वे चातुर्वर्ग कहलाती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पाष्वर्ष की इन शिक्षाओं में कोई नवीनता नहीं थी। वैदिक यज्ञों की पशु-हिंसा के विरुद्ध 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' की नहर बड़ी प्राचीन थी। किन्तु पाष्वर्ष ने पुराने आदर्शों को मानते हुए तीन नई बातें की—(१) उन्होंने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनसे पहले यज्ञ-याम का निरन्तर करके तपस्या करने वाले भ्रमण अवश्य थे, पर वे समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। उपनिषदों में हम शिष्यों की आश्रमों में गुरुओं के पास जाता हुआ देखते हैं, किन्तु गुरु अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए भ्रमण नहीं करते थे, पाष्वर्ष ने प्रचार की परिपाटी को प्रारम्भ किया। (२) पुराने भ्रमण अहिंसा-धर्म का पालन तपस्या के एक अंग के रूप में करते थे, वे इसे सर्वसाधारण के लिए आवश्यक नहीं समझते थे। पाष्वर्ष ने अहिंसा तथा अन्य यामों को अधि-धुमियों के आचरण तक ही सीमित न रखा, किन्तु साधारण जनता को भी इन्हें अपने जीवन में डालने का उपदेश दिया। (३) महात्मा पाष्वर्ष ने अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया। बुद्ध के समय के सब संघों में जैन साधु-साधवियों का संघ सबसे बड़ा था।

महात्मा यथमान महावीर—महात्मा पाष्वर्ष के २५० वर्ष बाद चौबीसवें सौर्षेक्षर यथमान ने ५३६ ई० पू० में कुण्डग्राम वैशाखी (घाघुनिक बसाइ जि० मुजफ्फरपुर) के जातुक नामक क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया। उनके पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला थी। उनकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की ओर न थी, तीस वर्ष की अवस्था में, (५०६ ई० पू०) अपने पिता की मृत्यु पर, अपने भाई के राजगद्दी पर बैठने पर उन्होंने गृह-परित्याग करके कठोर तपस्या प्रारम्भ की। १२ वर्ष के उस तप के बाद उन्हें १३वें वर्ष पूर्ण सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार शुरू किया। (४६७ ई० पू०)। अनुयायियों ने उन्हें महावीर तथा जिन (जिनेता) की उपाधि दी, लोगों ने उनके सम्प्रदाय को निर्घन्ध (बन्धन-मुक्त) कहा। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने वाकापुरी में निर्वाणपद प्राप्त किया (४६७ ई० पू०)। उनकी प्रधान शिक्षाएँ पाष्वर्ष की ही थी, किन्तु उन्होंने इनमें कुछ बातें बढ़ाईं। महात्मा पाष्वर्ष चातुर्वर्ग (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) पर बल देते थे, इन्होंने इनके साथ ब्रह्मचर्य को भी आवश्यक व्रत बना दिया। अपरिग्रह पर बल देते हुए उन्होंने दिगम्बर रहने का आदेश दिया। मगध आदि देशों में उनकी शिक्षाओं का बहुत जल्द प्रचार हो गया, कलिंग भी उनका अनुयायी बना, उनके निर्वाण के दो-एक अर्दी के भीतर ही पश्चिम भारत में भी जैन-धर्म की बुनियाद पड़

गई। मनेक उत्तार-चढ़ावों के बाद भारत में आज तक उनके अनुयायियों की एक अच्छी संख्या है।

महात्मा बुद्ध ५६७-४८७ ई० पू०—बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध महावीर के समकालीन थे। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के घर सुम्भिनीवन (कमिनदेई) में उनका जन्म हुआ। वे वंशज से सम्भीर एवं चिन्तनशील प्रकृति के थे। पिता ने १८ वर्ष की आयु में उनका विवाह कर दिया। किन्तु इससे उनकी प्रवृत्ति नहीं बदली। छोटी-छोटी घटनाएँ उन पर गहरा प्रभाव डालती थीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि रथ में सँर करते हुए बूढ़े, बीमार और मृत व्यक्ति को देखकर उनका मानसिक असन्तोष बढ़ा, अन्त में असन्तुष्ट संन्यासी बनकर उन्हें उसके हल का मार्ग सूझा। २८ वर्ष की आयु में अश्वत्थ पत्र होने पर, वे गृहस्थ और राज-पाट के सब सुखों को तात् मारकर घर से निकल पड़े। यही उनका 'महानिर्णयकर्मण' कहलाता है। पहले कुछ समय तक उन्होंने राज-गृह के दो प्रधान दार्शनिकों आलार कालाम और रामपुत्र से शिक्षा ग्रहण की; किन्तु इनमें उनकी ज्ञान-पिपासा सन्त नहीं हुई। कर्म-मार्ग से ऊँचकर वे ज्ञान-मार्ग की ओर बढ़े, किन्तु यहाँ उन्हें सुखी दिमागी कसरत ही दिखाई दी। इसके बाद, उन्होंने तपस्या का मार्ग पकड़ा। पाँच साधियों के साथ गया के पास उरुविल्व में उन्होंने ६ वर्ष तक धीरे तपस्या की, पर फिर भी शान्ति नहीं मिली। कहते हैं एक बार नाचने गाने वाली स्त्रियाँ उस जंगल में से गुज़रीं; उनके गीत की श्रुति गीतम के कान में पड़ी, वे या रहा थी 'अपनी बोणा के तार को अधिक झिंझा न करो, नहीं तो वह बजैगा नहीं, उसे इतना अधिक बसो भी नहीं कि वह टूट जाय।' इसमें गीतम को यह ज्ञान हुआ कि वह अपने जीवन के तार एकदम कसे जा रहे हैं, इस तरह कसने से उनके टूटने की सम्भावना है। उन्होंने तपस्या का मार्ग छोड़ दिया। उनके साधियों ने समझा कि वे तपस्या से डर गए हैं। वे उन्हें छोड़कर बनारस चले गए। धर्म धीरे-धीरे स्वास्थ्य-लाभ करते हुए उन्हें एक दिन एक वीथी के पेड़ के नीचे बैठे हुए बोध (ज्ञान) प्राप्त हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि जनता को यह ज्ञान देकर उसके दुःख दूर किए जाएँ। मध्यमे पहले सारनाथ (बनारस) में उन्होंने अपने पाँच साधियों को उपदेश देकर 'धर्म-वक्त्र-प्रवर्तन' किया। सब लोगों की प्रवणता देकर भिक्षु बनाना शुरू किया तथा उन्हें सर्वत्र अपने उपदेशों का प्रचार करने की शिक्षा दी। ४५ वर्ष तक वे स्वयं अपने सिद्धान्तों का प्रसार करते रहे और अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनका कुशीनगर (वर्तमान कुशीनारा जिला देवरिया) में महा-परिनिर्वाण हुआ (४८७ ई० पू०)।

महात्मा बुद्ध की शिक्षाएँ—महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह प्रधान रूप से आचार-प्रधान था। उनकी प्रधान शिक्षाएँ निम्न थीं—(१) मध्यम मार्ग—उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को न तो भोगविनाश की धृति में

पैसला चाहिए और न कठोर तपस्या की रीति का अवलम्बन करना चाहिए । दोनों रीतियों को छोड़कर मध्यमार्ग पर चलना चाहिए ।

(२) चार आर्य सत्य—इस दुनियाँ में चार महान् सत्य हैं—(क) संसार दुःखमय है, (ख) दुःख का कारण लुप्ता है, (ग) लुप्ता के निरोध से दुःख का निरोध होता है, और (घ) इसका उपाय अष्टांग मार्ग है ।

(३) अष्टांग मार्ग—यह निम्न आठ बातों का पालन करना है—सत्य दृष्टि, सत्य भाव, सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, सत्य निर्वोह, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान ।

बुद्ध की शिक्षाओं को ध्यान पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि बुद्ध ने उस समय के प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों से असहमति प्रकट करते हुए, अपना नया मत बताया और यह अपनी व्यावहारिकता और क्रियात्मकता के कारण अधिक सफल हुआ । महात्मा बुद्ध यज्ञादि के विरोधी थे और उग्र तपश्चर्या के भी । संयुक्त निकाय में उन्होंने एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण को कहा है—“हे ब्राह्मण तुम यह मत समझो कि पवित्रता धर्म में समिधा डालने से होती है, यह तो बाह्य बात है, इसे छोड़कर मैं तो अपने भीतर धर्मि जलाता हूँ, आन्तरिक यज्ञ में जुटा (धी डालने का चमत्कार) वाली है और हृदय ही यज्ञ-वेदी है ।” प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि वे यज्ञों का नहीं, किन्तु यज्ञों की पशु-हिंसा का विरोध करते थे । जैन धर्म से उनका मौलिक मतभेद था । जैनो के पक्ष महाप्राण मिथ्याचार्य थे, वे कठोर तपस्या में विश्वास रखते थे, उन्होंने अहिंसा को बहुत अधिक महत्त्व दिया था । बुद्ध अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि का ‘सम्यक् बोधन’ से ही अन्तर्भाव करते थे । उनके लिए अहिंसा कोई एकात्मिक धर्म नहीं था, जैनो में अहिंसा का विचार जिस पराकाष्ठा तक पहुँचा उतना बौद्धों में नहीं । जैनो के मतानुसार मांस अभक्ष्य था किन्तु बुद्ध कुछ अवस्थाओं में इसे भिक्षु के लिए भी भक्षण समझते थे । बुद्ध का संयुक्त दृष्टिकोण अत्यन्त व्यावहारिक था । यही कारण है कि बौद्ध धर्म को अधिक सफलता मिली । जैन धर्म की प्रधान विशेषता कट्टरता थी, उन्होंने अपने धर्म की २५ हजार वर्ष के ग्रंथो-बानी में भी नुरसित रखा है, उनका प्रचार भारत में ही हुआ, किन्तु जितना हुआ वह ठोस रूप में बना रहा । बौद्ध-धर्म में बड़ी परिवर्तनशीलता और उदारता थी । इससे उसे भारत और विदेशों में बड़ी लोकप्रियता मिली, किन्तु धर्म में इस देश में उसके अनुयायी हिन्दु धर्म से ही मिली ही गये ।

बौद्ध धर्म का विकास—१८७ ई० पू० में महात्मा बुद्ध के निर्वान के बाद संघ में बुद्ध की शिक्षाओं पर विवाद उत्पन्न हो गया, उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी नियत नहीं किया था, अतः उनके सबसे पुराने शिष्य काश्यप ने बुद्ध के वचनों का प्रामाणिक संग्रह करने के लिए राजगृह में पहली सभा बुलाई और इसमें बुद्ध की शिक्षाओं (त्रिपिटक) का पाठ किया गया । इन्हें त्रिपिटक (तीन टोकरियाँ) कहते

का यह कारण था कि बुद्ध के उपदेश तीन भागों में बँटि गये थे। (१) जिन-पिटक—इसमें बौद्ध भिक्षुओं तथा संघ के नियमों का प्रतिपादन था। (२) सुत्त-पिटक—इसमें बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का संग्रह था। (३) अब्जिज्ज-पिटक—इसमें धर्म-सम्बन्धी धार्मिक प्रश्नों का विवेचन था। पहले महासभा के तीसरे वर्ष बाद कुछ भिक्षु-नियमों के सम्बन्ध में पुनः विवाद उत्पन्न हुआ, इसके निराकरण के लिए ३८७ ई० पू० में दूसरी बौद्ध महासभा बुलाई गई। नियम अंग करने वाले भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल दिया गया। इन्होंने 'महासायिक' नाम से, अपना नया समुदाय स्थापित किया। उनसे भिन्न बाकी बौद्ध 'थेरवाद' कहलाये। बौद्ध धर्म का विशेष उत्कर्ष प्रथम (२७२-२३० ई० पू०) के समय में हुआ। कनिष्क-विजय के बाद वह बौद्ध बना और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पूरा प्रयत्न किया, भारत के विभिन्न भागों, पश्चिमी एशिया, मिस्र, पूर्वी यूरोप, लंका के राजाओं के पास धर्म-प्रचार के लिए दूत भेजे। लंका जाने वाले तो उसके पुत्र और पुत्री महेश्वर और सपमिषा थे। बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बनाने का श्रेय उसी को है। उसी के शासन-काल में तीसरी बौद्ध महासभा हुई (२५५ ई० पू०)। बौद्ध प्रचारकों के साथ 'त्रिपिटक' तथा पहला और पहली श० ई० पू० में उसे लिखित किया गया, और साम्राज्य के बाद भारत पर मुसलमानों, पाकों, कुशाणों के आक्रमण हुए। इनमें से अनेक राजाओं ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और उसके प्रचार का प्रयत्न किया। इनमें यवन राजा मिनाण्डर और कुशाण नृपति कनिष्क (७०-१०० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कनिष्क के समय बौद्ध-संघ में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो गए, इनका अन्त करने के लिए चौथी महासभा बुलाई गई। इसमें त्रिपिटक पर प्रामाणिक भाष्य लिखा गया और इसीके आधार पर बाद में महायान का विकास हुआ।

महायान का आदिर्भाव—बौद्ध-संघ का समूह प्रजासामाजिक होने से, उसमें कोई केन्द्रीय नियामक सत्ता नहीं थी, अतः उसमें कुछ भी मतभेद होने पर नये सम्प्रदाय स्थापित हो जाते थे। बौद्ध-धर्मों में १८ सम्प्रदायों का विकास हुआ। इनमें हीनयान और महायान प्रधान हैं। बुद्ध की मूल शिक्षाओं को सुनिश्चित रखने वाला और उन पर आचरण करने वाला सम्प्रदाय हीनयान है, इसमें कई विधेयताओं और परिवर्तनों से महायान की उत्पत्ति हुई। पहले का प्रचार तमोर, लंका और स्वाम में हुआ तथा दूसरे का नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान और मंगोलिया में। हीनयान और महायान के नाम का अर्थ महायान के जन्मदाता नागार्जुन को है। बौद्धों में बुद्धत्व-प्राप्ति के दो प्रधान मार्ग हैं—(१) प्रत्येक बुद्धयान, (२) सम्यक् सम्बुद्ध यान। पहले का धर्म ऐसे बौद्ध-भिक्षुओं से है जिन्हें केवल रूप से लिए बोध होता है और दूसरे का आशय उनसे है जिन्हें सबको देने के लिए बोध होता है, जो सबके उद्धार का यत्न करते हैं। इसमें दूसरे मार्ग को अर्थ ठहराकर उसे महायान कहा गया। महायानी बोधिसत्व बनने पर ब्रह्म देते थे। बोधिसत्व से व्यक्तित्व है जो बुद्ध बनने का

प्रयत्न कर रहे हैं। बोधिसत्व बनना बड़ा कठिन था, अतः महावान ने धम्मसो-
क्तिपत्र आदि बोधिसत्त्वों में विश्वास तथा उनकी मूर्तियों की पूजा से मुक्ति मानी।
इन्हीं से बाद में मन्त्रयान और वज्रयान का विकास हुआ। महायानियों ने लोक-
प्रियता की दृष्टि से पालि को छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया। अतः हीनयानियों
से इनके प्रधान भेद निम्न थे—(१) बोधिसत्त्वों में विश्वास, (२) बोधिसत्त्वों की
मूर्ति-पूजा और भक्ति, (३) संस्कृत का प्रयोग। इनके अतिरिक्त दोनों पानों में
आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रश्नों तथा बुद्ध के वास्तविक स्वरूप पर मौलिक मतभेद
थे। विदेशों में, विशेषतः मध्य एशिया तथा चीन में, बौद्धधर्म के प्रचार का श्रेय
महायानी बौद्ध-भिक्षुओं को ही है।

बौद्ध धर्म प्राचीन काल में अपने प्रचार-कार्य में बड़ा सफल हुआ, इस समय
मानव जाति का तृतीयोपाय बौद्धधर्म का उपासक है। अतः इसकी लोकप्रियता और
सफलता के कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है।

बौद्ध धर्म के आकर्षण

(१) बौद्धधर्म की लोकप्रियता के कारण—बौद्ध धर्म ने कई विशेषताओं से
जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया था। भगवान् बुद्ध के उपदेश उस समय की
लोक-भाषा (पालि) में थे, उनकी मित्राणें उपनिषदों के उपदेशों की भाँति सूक्ष्म
और याज्ञिक कर्मकाण्ड की भाँति जटिल न होकर सरलतम मरन थीं। बुद्ध प्रायः
अपने उपदेशों में सुन्दर दृष्टान्तों का प्रयोग करते थे, इनसे वे बहुत सुबोध हो जाते
थे। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आचार-प्रधान धर्म के द्वार सबके लिये खुले हुए थे, उसमें
आश्रय, श्रद्धा, स्त्री-पुरुष सब बराबर थे, किसी प्रकार का वर्ण-भेद, ऊँच-नीच या
जाति-पाति नहीं था।

(२) प्रचारकों की अनवरत लगन—भगवान् बुद्ध स्वयमेव आदर्श प्रचारक
थे। उत्थान और अग्रगण्य उनके जीवन का मूल मन्त्र था। ४५ वर्ष तक वे स्वयं
अपने मित्रान्तों का प्रचार करते रहे तथा अपने शिष्यों को 'बहुजन हिताय, बहुजन
सुखाय' का संदेश सुनाने की प्रेरणा करते रहे। उनका यह सोलास्य था कि उन्हें
अत्यन्त उत्साही अनुयायी मिले। विश्व के इतिहास में किसी भी महापुरुष के अनु-
यायियों ने अपने गुरु के आदेश का पालन करने में इतना उत्साह, इतनी सत्यव्रता
और इतना त्याग प्रदर्शित नहीं किया, जितना गौतम-बुद्ध के शिष्यों ने।

(३) राज्याध्यक्ष—बौद्ध धर्म का विश्व-व्यापी प्रसार सम्राट् अशोक के
प्रयत्नों से हुआ तथा विनाण्डर, कनिष्क तथा पातलीपुत्री राजाओं के संरक्षण तथा
समर्थन से इसे बहुत बल मिला।

(४) संघ-व्यवस्था—गौतम बुद्ध ने प्रजातन्त्र की पद्धति पर अपने संघ का
संघटन किया था, ये संघ महन्ती सदियों नहीं थी, अपनी योग्यता से इनमें कोई भी

व्यक्ति उच्चतम पद या सकता था। संघ ने बौद्ध धर्म की उन्नति और विकास में बड़ा भाग लिया। इसे नागार्जुन, यशस, वसुवन्धु, धार्यदेव-जैसे पुराण-विद्वान्, बोधि धर्म, दीपकर श्रीमान-जैसे प्रचारक, धर्मकीर्ति और दिङ्नाग-जैसे वाद-विवाद-महारथी, विमुक्तसेन, कमलघोष-जैसे लेखक, कुमारजीव, जिनमित्र-जैसे अनुवादक उत्पन्न करने का श्रेय है। इनसे एशिया के बड़े भाग को प्रकाशित करने वाले बौद्ध ज्ञान का आलोक प्रादुर्भूत एवं प्रसारित हुआ।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

(१) कलाओं की उन्नति—बौद्ध धर्म ने हमारी संस्कृति पर प्रधान रूप से निम्न प्रभाव डाले—बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्राचीन भारत में मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का उच्चतम विकास हुआ। पुराने जमाने में कला धर्म की बेरी थी। वैदिक युग में इसका अधिक विकास सम्भव न था। उस समय के धर्म का प्रधान तत्त्व यज्ञ था। यज्ञ करने के लिए विशाल एवं भव्य मण्डप बनाये जाते थे। यज्ञ गार्हपत्य जाते थे, किन्तु इनकी धाम्नी यज्ञ की समाप्ति तक ही होती थी। उस समय कला के विकास का कोई स्थायी आधार न होने से उसकी विशेष उन्नति नहीं हुई। बौद्धों के स्तूप और विहार स्थायी थे, अतः उनके आश्रय से सभी कलाएँ बहुत उन्नत हुईं। प्राचीन मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ भगवान् बुद्ध से सम्बन्ध रखती हैं, अजन्ता की चित्रकला का उद्देश्य बौद्ध विहारों की अलंकृत करना था, कार्तिकेय आदि को बौद्ध गुफाएँ हिन्दू मन्दिरों से पुराने स्थापत्य की उन्नति सूचित करती हैं। बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा बनवाये गये सौची, भारहुत, अमरावती के स्तूप तथा प्रशोक के शिलास्तम्भ भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में से हैं। बौद्धों का अनुसरण करके जैनों ने कला-कौशल की उन्नति की तथा बाद में शैवों और वैष्णवों ने भी इनका अनुकरण किया।

(२) सरल और लोकप्रिय धर्म—बौद्ध धर्म भारत का पहला सरल और लोकप्रिय धर्म था। इससे पहले का वैदिक धर्म कर्म-काण्ड के कारण बड़ा जटिल था, उसके अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे। इसके विपरीत यह अत्यन्त सरल तथा नीतिक आधार पर चल देने वाला था और इसका द्वार सबके लिए खुला था। इसने पहली बार धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। वैदिक धर्म में प्राकृतिक शक्तियों के इत्थिक देवता प्रधान उपास्य थे, उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के नीति माये गये थे। ये दोनों साधारण जनता के लिए दुर्गह थे। बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था, वे शीघ्र ही जनता की पूजा के पात्र बन गए, मूर्तियों द्वारा उनकी उपासना होने लगी। इसने हिन्दु धर्म के विकास पर गहरा प्रभाव डाला, उसमें भक्ति तत्त्व को प्रधानता मिली।

(३) मूर्ति-पूजा का प्रसार—यह सम्भव है कि भारत में मूर्ति-पूजा का व्यापक प्रसार बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। पहले-पहल बौद्धों ने अपने धर्म-प्रवर्तक की

मूर्तियों बटाई, इन्हेंका अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उन्हें पूजना शुरू कर दिया।

(४) संघ-व्यवस्था—भिज्जु-संघों द्वारा धर्म-प्रचार बौद्ध धर्म की एक बड़ी विशेषता है। यद्यपि संघ पद्धति का श्रीगणेश करने वाले महात्मा पादवं थे, किन्तु प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर इसका पूरा विकास महात्मा बुद्ध ने ही किया। इनसे पहले हिन्दु धर्म में तपोवनों में तपस्या करने वाले ऋषियों तथा ज्ञान का प्रसार करने वाले गुरुओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उनमें अपना संगठन बनाकर कार्य करने की जरियाटी नहीं थी। हिन्दुओं के वर्तमान संग्गामी-सम्प्रदाय, बसाड़े और बौद्ध संघों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि हमारे देश में संघटित रूप से शिक्षा-प्रसार का पद्धत प्रयास इन्होंने ही किया। इस प्रकार पहला व्यवस्थित भिक्षा-केन्द्र नानंद का बौद्ध-विहार था।

(५) बौद्धिक स्वतन्त्रता—ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धों की एक बड़ी विशेषता बौद्धिक स्वतन्त्रता है। हिन्दु विचार-वेद को परम प्रमाण मानते थे किन्तु बौद्धों ने इसे प्रासांगिक नहीं माना। महात्मा बुद्ध सर्वत्र स्वतन्त्र विचार की प्रेरणाहित करते रहे, उन्होंने बार-बार अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि मेरे शब्दों की मुख-वचन मानकर मत स्वीकार करो, उनकी अपनी बुद्धि से क्यूँटी पर बैठो ही क्यों, जैसे स्वसंस्कार सोने को कसता है। निर्वास में रहते, उन्होंने शिष्यों को यही उपदेश दिया था कि वे 'आत्मदीप' हों, अपनी आत्मा को अपना मार्ग-दर्शक दीपक बनावें। यही कारण था कि बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध होकर दर्शन की सभी समस्याओं पर स्वतन्त्रता-पूर्ण विचार किया, इस क्षेत्र में उनके विचार भारतीय दर्शन के उत्कृष्ट विकास को सूचित करते हैं। नागार्जुन, अश्विन, अनुबन्धु, धर्मकीर्ति विश्व के दार्शनिकों की पहली पंक्ति में आते हैं। इनके पर इनका स्पष्ट प्रभाव है।

(६) उच्च नैतिक आदर्श—बौद्ध धर्म ने सदाचार, लोक-सेवा और त्याग के उच्च आदर्शों पर बल दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनसे पहले भी उपनिषदों में तथा महाभारत में इस पहलु पर बल दिया गया था किन्तु फिर भी उसके आधार-रूप कर्तव्य के सदाचार का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठा था। महाशानियों ने बौद्ध-संघ के रूप में लोक-सेवा का उदात्त आदर्श जनता के सामने रखा। बौद्धिक धन की मुक्ति की परवाह न करके निरन्तर प्राणि-भाव का दुःख दूर करने के लिए बड़े-से-बड़ा आत्मत्याग करने की उद्यत रहता था। उसको यह आकांक्षा थी कि मैं जनताओं का सहायक, भटकों का मार्ग-दर्शक और दीन-दुस्त्रियों का सेवक बनूँ। इस आदर्श ने जहाँ बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता दी, वहाँ दूसरी ओर हिन्दु धर्म पर भी गहरा प्रभाव डाला। भागवत पुराण में रत्निदेव (६।२१।२) और भुव की उक्तियाँ इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

(७) लोक-साहित्य का विकास—बौद्ध धर्म से बोल-चाल की भाषा में विस्तृत साहित्य की उत्पत्ति हुई, पालि का समूचा साहित्य बौद्ध धर्म के प्रभुत्व का फल था। किन्तु इस क्षेत्र में बौद्धों की अपेक्षा जैनो ने अधिक कार्य किया। इसका आगे उल्लेख किया जायगा।

(८) भारतीय संस्कृति का प्रसार—विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में बौद्धों ने प्रमुख भाग लिया। मध्य एशिया, चीन, कोरिया, मंचूरिया, जर्मा, स्वाम, मलाया, जावा, सुमात्रा तथा लंका में हमारी संस्कृति प्रधान रूप से बौद्ध-प्रचारकों द्वारा पहुँची। वृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने सबसे अधिक सहायता दी।

भारतीय संस्कृति में जैनो की देन—बौद्धों की भाँति जैनो ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा भाग लिया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन अहिंसा का सिद्धान्त है। प्रायः अहिंसा को परम धर्म बनाने का श्रेय बौद्धों को दिया जाता है, किन्तु यह लोक-प्रचलित धार्मिक ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्त है। इसके वास्तविक जन्मदाता जैन ही हैं। जैनो के 'अनेकता' और 'स्वाहावाद' के सिद्धान्त यह शिक्षा देते हैं कि प्रत्येक कथम में धार्मिक सत्य है, सम्पूर्ण सत्य के लिए सभी विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन आवश्यक है। इससे भारत में पहले से विद्यमान साहित्यगुता और उदारता की प्रकृति गुप्त हुई। जैनो की कला और भाषा-सम्बन्धी देन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्धों की भाँति इन्होंने भी अपने तीर्थंकरों की स्मृति में स्तूप, प्रस्तर-वेदिकाएँ, धर्मरुत तोरण स्थापित किये। श्रवण, वेलगोला में गोमतिश्वर तथा मैसूर में करकल के नाम से प्रसिद्ध बाहुबली की प्रतिमाएँ संसार की आश्चर्य-जनक मूर्तियों में से हैं। देववाड़ा का जैन-मन्दिर कला-मर्मज्ञों की सम्मति में ताजमहल का प्रतिस्पर्धी है। देश के भाषा-विषयक विकास में जैनो का कार्य अद्वितीय है। हिन्दुधर्म ने धर्म-ग्रन्थों की भाषा का माध्यम सदैव संस्कृत रखा। बौद्धों ने शुरु में पालि अवलम्बित रखा; किन्तु बाद में संस्कृत को अपना लिया, किन्तु जैनो ने धर्म-प्रचार तथा इल्लेखन के लिए विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न कालों में प्रचलित लोक-भाषाओं का उपयोग किया। इस प्रकार उन्होंने 'प्राकृत' भाषाओं के विकास पर बहुत प्रभाव डाला। कई लोक-भाषाओं को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप देने वाले जैन ही थे। कन्नड़ का प्राचीनतम साहित्य जैनो की कृति है, प्रारम्भिक तामिल साहित्य के निर्माण में इन्हीं का बड़ा भाग है। संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक हिन्दी, मराठी और गुजराती के मध्यवर्ती रूप अर्थात् में अनेक जैन-रचनाएँ मिलती हैं। जैनो ने संस्कृत के व्याकरण, कोश, दर्शन आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखी।

भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास

पौराणिक हिन्दू-धर्म के विकास के दो युग—वर्तमान हिन्दू धर्म लोक-प्रचलित पारणा के अनुसार सनातन काल में चला आने वाला सम्भूत जाता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार ठीक नहीं। वर्तमान काल में हिन्दू धर्म में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं—विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, गणपति प्रभृति का तथा इनकी भक्ति-प्रधान उपासना का विकास मनुष्यों के अनेक शक्तियों में जाकर पूरा हुआ है। धार्मिक हिन्दू धर्म को यह रूप मुक्त युग में प्राप्त हुआ। इसके उद्भव और विकास को दो मुख्य युगों में बाँटा जा सकता है—(१) उद्भव काल ६०० ई० पू० से ३०० ई० तक का यर्षात् ६०० वर्ष का यह काल भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों के बीजवपन, अंकुरित और पल्लवित होने का युग था, किन्तु इन सारे समय में बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रबलता के कारण इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया। ३०० ई० की मर्यादा अभिलेखों के आधार पर निश्चित की गई है। इस काल के १,५०० से अधिक लेख मिले हैं, इनमें पंचाम से भी कम लेख जैन, वैष्णव अथवा हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं, शेष सब बौद्ध और जैन धर्मों का उल्लेख करते हैं। (२) उत्कर्ष काल (३०० ई०-१२०० ई०) चौथी शती ई० से भारत के धार्मिक इतिहास में पामा पलटने लगता है। इस समय से हिन्दू धर्म का निरन्तर उत्कर्ष और बौद्ध तथा जैन धर्मों का अपकर्ष होने लगता है। यहाँ पहले इन दोनों धर्मों की सामान्य विशेषताओं का वर्णन किया जायगा और बाद में जैन और वैष्णव धर्मों के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा दी जायगी।

उद्भव काल

सन् ६०० ई० पू० में भारत में एक प्रबल धार्मिक आन्ति हुई थी। पिछले आध्याय में हम यह देख चुके हैं कि इससे जैन तथा बौद्ध धार्मिक धर्मान्दोलन किस तरह विकसित हुए, भक्ति-प्रधान धार्मिक आन्दोलन भी इनकी भाँति पुराने धर्म के विकट धसन्तीय से उत्पन्न हुए। उपनिषदों में आत्मन्धर-प्रधान जटिल कर्मकाण्ड का और यज्ञों का विरोध करके निर्गुण ब्रह्म, कर्मवाद, मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। किन्तु ये आधारन मनुष्यों की धार्मिक प्राकाशाओं को पूरा नहीं कर सकी। उपनिषदों का इन्द्रियातीत, अणोन्धर निर्गुण ब्रह्म इतना गूढ़ और सूक्ष्म था कि केवल

बुद्धिजीवी उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। स्थूल-बुद्धि सामान्य मनुष्य के लिए यह अतीव दुर्लभ था। उपनिषदों की दूसरी अपूर्वता यह भी कि उन्होंने मुक्तिप्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञों का तो खण्डन किया; किन्तु उसके स्थान पर ब्रह्म साक्षात्कार के श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के जो साधन बताये उनका पालन भी साधारण जनता के लिए सम्भव नहीं था। सभी व्यक्तियों से धर-भार छोड़कर परिजादक बनकर ब्रह्म-प्राप्ति की ध्याना करना दुरासा-भाष है।

धार्मिक क्रांति के मूल विचार—उपनिषदों ने यज्ञों का खण्डन तो किया, किन्तु उनके स्थान पर कोई नई लोकप्रिय पद्धति नहीं रखी। अतः साधारण जनता की धार्मिक आकांक्षा और आवश्यकता को पूरा करने के लिए नये नेता और पन्थ उत्पन्न हुए। इन्होंने उपनिषदों की मूल विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए पुराने धर्म और परम्पराओं के विरुद्ध क्रांति की, नये धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किये। इनमें चार विचार प्रधान थे—

- (१) ब्राह्मण-धर्मों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध।
- (२) पशु-बलि का विरोध और अहिंसा की महत्ता।
- (३) आत्मा, परमात्मा-सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा। क्षम, दम इन्द्रियनिग्रह पर बल, आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता, आचार-शुद्धि की महत्ता।
- (४) अव्यक्त एवं निर्गुण ब्रह्म के श्रवण, मनन द्वारा साक्षात्कार के स्थान पर भक्तिपूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना का विश्वास।

धार्मिक आन्दोलनों का जन्म

(क) भागवत धर्म—नास्तिक आन्दोलनों ने पहले तीन पहलुओं पर बल दिया, किन्तु धार्मिक आन्दोलनों में चौथी बात पर भी पूरा बल दिया गया। नास्तिक आन्दोलनों में बौद्ध और जैन प्रधान थे तथा धार्मिकों में भागवत और शैव। हमें निरीश्वरवादी सम्प्रदायों के उद्भव तथा इनके प्रवर्तकों का इतिहास काफी अच्छी तरह ज्ञात है किन्तु धार्मिक धर्मों के धार्मिक इतिहास पर संशय का पदो पड़ा हुआ है। उपनिषदों ने हमें इनके उद्भव की कुछ अस्पष्ट झलक मिलती है। भागवत सम्प्रदाय के जन्मदाता देवकी-गुप्त कृष्ण और आंगिरस के शिष्य थे। आन्दोलन उपनिषद् के अनुसार गुरु ने शिष्य को एक नये आत्मयज्ञ की शिक्षा दी थी (३।१७।४-६), उसकी दक्षिणा तपस्वियों, दान, ऋजु भाव, अहिंसा तथा सत्य वचन था। इसी धर्म के एक अन्य प्रतिष्ठापक राजा वसु ने यज्ञों में पशु-बलि का विरोध करके, हरि की उपासना पर बल दिया था। यह हरि निर्गुण ब्रह्म नहीं किन्तु भक्त द्वारा उपास्य वैयक्तिक ईश्वर था। वह यज्ञ और तपस्या करने वालों द्वारा प्राप्त नहीं था, केवल भक्त की ही धन्ये दर्शन देता था। यज्ञों और तप की निरर्थकता, यज्ञों में पशु-

हिंसा की निन्दा तथा भक्ति-तत्त्व की प्रधानता द्वारा भागवत सम्प्रदायी ने पुराने निस्वासी और परम्पराओं के विपक्ष क्रांति की, किन्तु ईश्वर की सत्ता मानने के कारण यह क्रांति बौद्ध और जैनों की क्रांति की तरह उग्र नास्तिक और दूरगामी नहीं थी।

(क) शेष धर्म—भागवतों के प्रतिरिक्त उपनिषदों से शैवों के ईश्वरवादी भक्ति सम्प्रदायी का स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है। स्वतात्त्विक उपनिषद् में (३।२।४।१६-१७) इसका प्रतिपादन है। उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म में मनुष्यों द्वारा समझे, प्रीति तथा उपासना किये जाने योग्य, वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना का विकास सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। उपनिषत्त उपनिषद् में शिव का इसी रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि शिव की ही इस रूप में कल्पना क्यों की गई। श्री रामकृष्ण मठारकर इस विषय पर बहुरी सोच करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शिव अन्तर्में देवता था। अन्तर्में जातिधर्मों में इसकी तथा इसके शिव की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। मोहोत्सवों की खुदाइयों से यह बात पटल हो गई है। अतः धर्मों ने पूजा के लिए सर्वप्रथम इसी देवता को चुना। इस प्रकार उपनिषदों के सम्पन्न प्रज्ञा से सिद्धान्त के साथ वैयक्तिक ईश्वर की भक्ति-प्रधान पूजा का श्रीमण्डल हुआ।

धार्मिक क्रांति की विशेषताएँ—छठी अ० ई० पू० की उपनिषत्त धार्मिक क्रांति के सम्बन्ध में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पहली तो यह कि उसके सभी सुधार-प्रान्दोलनों का उद्भव भारतीय संस्कृति के केन्द्रस्थल कुल-पात्राल से दूर मणराज्यों के स्वतन्त्र वातावरण में हुआ। गौतम बुद्ध राज्यों के तथा वर्तमान महावीर लिच्छवियों के और श्रीकृष्ण सात्वतों के प्रजातन्त्र में हुए थे।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस क्रांति से स्वतन्त्र विचार और अन्वेषण की प्रवृत्ति को बल मिला। पाँचवीं छठी अ० ई० पू० में भारत में हमें असाधारण बौद्धिक विद्याशीलता दिखाई देती है, लोगों ने पुरानी विचार-प्रणालियों से बाहर निकलकर स्वतन्त्र रूप से सोचना शुरू किया। इसका परिणाम नई नई विचार-धाराएँ और सम्प्रदाय थे। बौद्ध धर्मों के ६३ धम्मसंघों का पहले उल्लेख ही चुका है। इनमें अन्धे-बुरे सभी प्रकार के विचारक थे। एक ओर जहाँ इस स्वतन्त्र विचार-धारा ने बौद्ध, जैन सम्प्रदाय पैदा किये, दूसरी ओर जादू-काली की भी जन्म दिया। भारतीय दर्शन के अधिकांश विचारों का प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ।

तीसरा तथ्य यह था कि इस क्रांति में पहले बौद्धों और जैनो की राजपाधय द्वारा भागवत या सौव धर्म की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। मौर्य राजा पहले दो धर्मों के रक्षक थे। अष्टमृगत और सम्प्रति ने जैन धर्म की तथा अशोक ने बौद्ध धर्म की संरक्षण दिया। इससे दोनों धर्मों का उत्कर्ष हुआ। पहले यह बताया जा चुका है कि राज-संरक्षण के प्रतिरिक्त अनेक स्वाभाविक आकर्षणों के कारण भी ये धर्म लोकप्रिय हुए थे।

बौद्ध जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव—बौद्ध एवं जैन धर्म की सफलता का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विरोधियों के प्रवृत्त होने पर श्रास्त्रियों तथा कट्टरपंथियों ने धर्मता पर टीका करना शुरु किया। इन धर्मों के शालेयों तथा कुलीनियों का उत्तर देने के लिए अपने सिद्धांता और मन्तव्यों को श्रुततावद्ध एवं तर्क-संगत रूप दिया। विरोधियों के धाकधनों से रक्षा के लिए उन्होंने धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी विचारों को स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यवस्थित रूप से उल्लिखित किया तथा बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्त्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हें अपने धर्म में समाविष्ट करके इन्होंने हिन्दू धर्म को सुदृढ़ किया।

४००-२०० ई० पू० तक मौर्य युग में धात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया की यह प्रवृत्ति प्रबल रही और इसके परिणाम २०० ई० पू० के बाद हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उपर्युक्त २०० वर्षों में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं।

(१) दर्शनों का निर्माण—दर्शनों के मूलभूत विचार तो बहुत प्राचीन थे किन्तु उन्हें सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इसी युग में दिया गया। प्रायः कपिल, कणाद आदि को दर्शनों का प्रणेता समझा जाता है। किन्तु वे प्रधान रूप से पुराने विचारों को श्रुततावद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित करने वाले हैं। इनका विशेष बलान्तरण ब्रह्मवाद में होता।

(२) हिन्दू धर्म का नया रूप—इस समय समूचे हिन्दू धर्म को पुराने यज्ञ-प्रधान रूप के स्थान पर नया भक्ति-प्रधान पौराणिक रूप दिया गया। यद्यपि पुण्यभित्ति आदि राजाओं ने शिवसेवा आदि यज्ञों को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु यह स्पष्ट था कि वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था, न वह समाज वापस आ सकता था और न वह धर्म अपने पुराने रूप में सौट सकता था—बौद्ध धर्म ने जनता के विचारों में जो परिवर्तन किया, उसे मिटाया नहीं जा सकता था। बुद्ध ने जन-साधारण को नये धर्म की ज्योति दिखाई थी, सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है, यह विचार दिया था। इससे जनता में जो जागृति हुई थी, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः इस युग का सुधार-आन्दोलन बौद्ध सुधार की सब मुक्त प्रवृत्तियों को अपनाये हुए था। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिए था तो हिन्दू धर्म का नया रूप उससे बढ़कर जनता को बस्तु बना। उस समय हिन्दू धर्म को निम्नलिखित दो उपायों से लोकप्रिय बनाया गया।

(क) लोक-प्रचलित देवताओं की वैदिक देवता बनाना—घायों के निचले दर्जों और अनार्य जातियों में कई प्रकार के देवताओं, यक्षों, भूत-प्रेतों, जड़ पदार्थों तथा जन्तुओं की पूजाएँ प्रचलित थीं। बौद्ध धर्म ने यक्षों को बुद्ध का उपासक बनाकर उनकी पूजा चलती रहने दी थी। अब हिन्दुओं ने भी उनका अनुकरण किया। लोक-प्रचलित देवताओं को मध्यापूर्व रखते हुए उन्होंने उस पर वैदिक धर्म की हल्की-सी छाप

अंकित करके उन्हें ग्रहण कर लिया। मथुरा में वासुदेव (श्रीकृष्ण) की पूजा प्रचलित थी, उसकी श्रव वैदिक देवता विष्णु से मिलाकर उसकी उपासना वेदानुयायी कट्टर-पवित्रों के लिए ग्राह्य बना दी गई। धर्म धर्म को भी सदा रूप दिया गया। 'वैदिक धर्म' के पुनरावर्णन की गहर ने उस समय पूजे जाने वाले प्रत्येक जड़ और मनुष्य देवता में किसी-न-किसी वैदिक देवता की आत्मा झुंक दी।' जनवरों के भयंकर देवों-देवता काशी और रुद्र के रूप धन गए। समुचे भारतवर्ष के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि विभिन्न शक्तियों के सूचक बने। जहाँ किसी मुराने पुरखा की पूजा होती थी, उसके अन्दर भी भगवान् का 'अवतार' किया गया। वह एक भारी समन्वय की गहर भी, जिसने जहाँ कहीं पुण्यभाव या दिव्यभाव किसी भी रूप में पाया, उसमें किसी-न-किसी देवता का 'संकेत' रख दिया। प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी-न-किसी देवशक्ति का प्रतीक बना वाला। 'देव ज्योति को मानो उसने अँधे स्वर्ग से और वैदिक कवियों के कल्पना-जगत् से उतारकर भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँचा दिया; जिसने जन-साधारण की सब पूजाएँ धार्यग्राण हो उठीं और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।'

(ख) लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थों का निर्माण—बौद्धों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण जातक और अवदान साहित्य था। इनमें बुद्ध के पहले जन्मों तथा बोधिसत्त्वों की बड़ी रोचक कथाएँ होती थीं, जिनमें उनके दया, दान आत्मत्याग आदि गुणों पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला जाता था। महात्मा बुद्ध सुन्दर कथाओं और दृष्टान्तों द्वारा धर्म के गूढ़ मर्म जनता को समझाते थे। उनके शिष्यों ने इस कला को उपर्युक्त जातक तथा अवदान साहित्य में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय साहित्य नाम-भाव था। सूत पुराण और इतिहास की गाथाएँ अवश्य गाते थे। किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य प्राचीन वीर पुरुषों के धूरतापूर्ण कारनामों का ही बखाना था, धर्म-प्रचार नहीं। ये गाथाएँ बड़ी लोकप्रिय थीं। अब इस युग में इनके द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य निभा जाने लगा। रामायण और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किये गए। महाभारत का तो प्रधान उद्देश्य आर्याणों द्वारा नये धर्म की शिक्षाओं का प्रतिपादन था। इसने श्रीकृष्ण को देवता और विष्णु का अंश बना वाला, विष्णु और शिव की महिमा के गीत गाए, भगवद्गीता द्वारा भागवत धर्म का प्रचार किया। ४०० ई० पू० से २०० ई० तक की भारत की समस्त सभी धार्मिक और दार्शनिक विचार-धाराओं का इसमें समावेश है। यह ग्रन्थ हमारे धार्मिक विकास का सुन्दर उदाहरण है। पहले यह 'मूर्तों' तथा 'चारणों' द्वारा गाया जाने वाला वीर रस-पूर्ण काव्य ही था, इसकी लोकप्रियता के कारण इसमें सभी धार्मिक समस्याओं का आर्याणों के रूप में समावेश करके इसे हिन्दु धर्म का न केवल विशाल विस्तार-कोश, किन्तु प्रचार का भी प्रबल साधन बनाया गया। यही हाल रामायण का हुआ। इसको मूल कथा में राम एक आदर्श वीर पुरुष था, वह दूसरे से छठे काण्ड तक इसी रूप में चित्रित है; किन्तु इस युग में कम-से-कम दूसरी

श० ई० पू० तक उसमें पहला धीरे-सातवाँ काण्व जुड़ा, राम को भी देवता बना दिया गया। इन दोनों महाकाव्यों ने नवीन ईश्वरवादी, भक्ति-प्रधान शैव वैष्णव धर्मों को लोकप्रिय बनाने तथा साधारण जनता में प्रचलित धर्म को नया रूप देने में मुख्य भाग लिया। वर्तमान हिन्दू धर्म की आधार-शिला रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों को वर्तमान रूप इस युग में मिला और पुराणों को गुप्त युग में।

शान्त में हमें ६०० ई० पू०-३०० ई० तक के काल में नास्तिक-धार्मिक धर्मान्दोलनों के विकास, पारस्परिक संघर्ष और ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना चाहिये। पहले ३०० वर्ष तक तो किसी धर्म का विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ। मगद राजाओं तथा चन्द्रगुप्त मौर्य (३२१-२८६ ई० पू०) के संरक्षण से जैन धर्म सर्वप्रथम सारे भारत में फैला, बौद्ध धर्म की सम्राट् अशोक (२७२ ई० पू०-२३० ई० पू०) का राज्यारोप प्राप्त हुआ और इसका भारत में तथा भारत से बाहर भी बर्मा, लांका और सीतल (मध्य एशिया) में प्रसार हुआ। पहली श० तक यह चीन पहुँचा और चीन से कोरिया होते हुए जापान में पहुँचा। २०० ई० पू० से १०० ई० तक भारत पर आक्रमण करने वाले यवन और कुषाण राजाधर्मों ने इसे स्वीकार किया।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर—किन्तु मौर्यों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म के पतन तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर का प्रारम्भ हुआ। मौर्य राजा बौद्ध और जैन धर्मों के संरक्षक थे, वे यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा नहीं कर सके। जनता इसका प्रधान कारण उनकी धर्म-विजय और अहिंसा की नीति को समझती थी, अतः ये धर्म कम-से-कम उस समय उनकी दृष्टि में गिर गए। पुष्यमित्र शुङ्ग ने वैदिक धर्म की 'पुनः प्रतिष्ठा' का यत्न किया, अश्वमेध यज्ञ किया तथा न केवल वैदिक धर्म को राज्यधर्म बनाया किन्तु बौद्धों का दमन भी किया। इसी समय बनी मनुस्मृति में जहाँ जुद्धारियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ बौद्धों और जैनों (पाल्ण्डस्यों) के निर्वासन का भी उपदेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५ ई० पू० में वैदिक मत का सीधा विरोध करने वाले बौद्ध, जैन आदि नास्तिक सम्प्रदायों के विरुद्ध-स्पष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी। फिर भी बौद्ध धर्म मिनान्दर, कनिष्क आदि विदेशी राजाधर्मों की छत्र-छाया में फलता-फूलता रहा। तीसरी श० ई० में कुषाणों की सत्ता का उच्छेद करने वाले शिव के उपासक भारशिख राजाधर्मों ने हिन्दू धर्म को राजमत्त बनाया, पुष्यमित्र के समान एक नहीं दस अश्वमेध यज्ञ किए। उनसे तथा उनके बाद के गुप्त राजाधर्मों से संरक्षण पाकर हिन्दू धर्म का उत्कर्ष होने लगा और बौद्ध धर्म में क्षीणता आई।

हिन्दू धर्म का उत्कर्ष-युग—पौराणिक काल

[३०० ई०—१२०० ई०]

सौवी श० ई० से भारत में बौद्ध तथा जैन धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म को प्रधानता मिलने लगी । १२वीं शती के अन्त तक उसके दोनों प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गए । बौद्ध धर्म का भारत में कोई नाम लेना पानी देना तक न बचा और जैन धर्म का प्रभाव नगण्य हो गया । इस युग में अधिकांश पुराणों की रचना हुई, रामायण और महाभारत की भाँति इन्होंने हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाया और उसे वर्तमान रूप प्रदान किया । इसीलिए धार्मिक दृष्टि से इसे पौराणिक युग भी कहते हैं । इस युग की प्रधान विशेषताएँ निम्न हैं—(१) देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा के लिए जटिल धर्मकाण्ड का विकास तथा मन्दिरों का निर्माण, (२) वाममार्गी तान्त्रिक सम्प्रदायों का उत्थान, और (३) हिन्दू धर्म को अधिक राज्याश्रय मिलना ।

(१) कर्मकाण्ड की जटिलता—मौर्य सातवाहन युग में वैदिक देवताओं और यज्ञों के स्थान पर नई मूर्तियों और अवतारों का मन्दिरों में पूजन व्यवस्था शुरू हो गया था, किन्तु उस काल में वे मन्दिर, उनकी प्रतिमाएँ और पूजा-व्यवस्था बहुत सादी थी । मूर्तियाँ दिव्य-शक्तियों का केवल प्रतीक या संकेत थीं, जिनके आह्वान से बड़-प्रतिमाओं में जान पड़ जाती थी । 'यज्ञों के बड़े आडम्बर में दबे हुए उत्तर वैदिक युग के धार्मिक जीवन में और पूर्व वैदिक युग के भारद्वाज सरल वैदिक धर्म में जितना अन्तर था, मध्यकालीन विशाल मन्दिरों के सिंहासनों पर बैठने वाले स्वर्ण-राज्यों से अलंकृत देवताओं के पेचीदा क्रिया-कलापों और बतों, उपवासों तथा जपों के मोरचधन्य में लिपटी हुई मध्य युग की पौराणिक पूजा में और सातवाहन युग के भारद्वाज सरल पौराणिक धर्म में उतना ही अन्तर था।' इस युग में देवताओं के सुतहले तथा नग्न मन्दिर बनने लगे, उनका साज-सज्जार और पूजा एक बड़ा व्यय बन गई ।

वाममार्गी पन्थों का जन्म—बौद्ध धर्म की अवनति होने पर छठी श० ई० में उसके महागान सम्प्रदाय से मन्त्रगान और वज्रगान का जन्म हुआ । वज्रगानी वृद्ध की वज्रमुख अर्थात् धनीकिक सिद्धि सम्पन्न देवता समझे थे । इन सिद्धियों के पाने के लिए अनेक गुह्य साधनाएँ करना पड़ती थी । दैव मत में पाशुपत, कार्पातिक (धधोरी), वैष्णव मत में गोपी-लीला, तन्त्र-सम्प्रदाय में आनन्द भैरवी की पूजा आदि और अश्लील पन्थ चल पड़े । सब पन्थों का उद्देश्य मन्त्रों तथा अन्य साधनों द्वारा 'सिद्धि' प्राप्त करना था ।

राज्याश्रय—इस काल की एक प्रधान विशेषता हिन्दू धर्म को अधिक राज्याश्रय मिलना था । गुप्त सम्राट् भागवत धर्म के अनुयायी और पक्षपोषक थे, उन्हीं के शक्तिशाली समर्थन से वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ । मुन्तों के बाद पिछले गुप्त, प्रतिहार, चन्देल, मौखरी, कलचुरी, चलभी और कामरूप के वर्मन् राजा वैष्णव

का शैव थे। पाल व्यवस्था बौद्धधर्मों के, किन्तु वेतन शैव और वैष्णव थे। इसलिये 'पहले सातुक्' जैनों के परोपकार थे, किन्तु बाद के राजा हिन्दू धर्म के उपासक बने। राष्ट्र-कुटों में कुछ जैन थे किन्तु अधिकांश हिन्दू थे। पल्लवों और होयसलों के पहले राजा जैनों के समर्थक थे, किन्तु बाद के पल्लव शैव थे और होयसल वैष्णव। यह स्पष्ट है कि इस सारे काल में बौद्धों और जैनों को राजाओं का परोपकार समर्थन नहीं मिला और यह उनके ह्रास का एक प्रधान कारण था।

पौराणिक युग की प्रधान घटनायें पुराणों का विकास, समन्वयात्मक हिन्दू-धर्म का जन्म, बौद्ध धर्म का पतन, जैन धर्म का ह्रास और शैव, वैष्णव, शाक्त तथा अन्य अनेक छोटे सम्प्रदायों का जन्म है।

पुराणों का विकास—पुराण भी रामायण और महाभारत की भाँति अत्यन्त प्राचीन काल से बने घाते थे, प्राचीन वर्षों का वर्णन इनका एक प्रधान धर्म था। राज, राज्याभिषेक आदि के अवसर पर चारण-भाट इनका कीर्तन किया करते थे। इनमें कमयः वृद्धि होती रहती थी। महाभारत-युद्ध के बाद महर्षि वेदव्यास ने प्राचीन संघ-वृत्तों का संग्रह करके पुनः रचे थे। इनमें समय-समय पर नई घटनाएँ जुड़ती चली गईं। इनका वर्तमान का प्रधानतः गुप्त युग का है। कुल पुराणों की संख्या १८ है, इनमें छः ब्रह्मा, छः विष्णु और छः शिव का वर्णन करते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि रामायण, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म की आधार-धिता हैं। जातकों ने जिस प्रकार कथाओं द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार किया वैसे ही पुराणों ने हिन्दू धर्म का। वेद और उपनिषद् के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य थे, किन्तु रामायण, महाभारत और पुराण सुनने का अधिकार त्रिष्यो और शूद्रों को भी था। इसमें कोई शङ्का नहीं कि पुराण हिन्दू-धर्म के प्राण हैं।

समन्वयात्मक हिन्दू धर्म—इस युग की दूसरी घटना समन्वयात्मक हिन्दू धर्म का विकास है। सातवाहन युग की समन्वयवादी सत्तर ने भारत की बनेचर और अनाथ जातियों के सब देवताओं में वैदिक देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। पुराणों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन ही देवता प्रधान माने। विभूति के विचार द्वारा इन्हें एक ही परमात्मा की उत्पादक, पालक और संहारक शक्तियों का रूप माना। जब ये एक ही शक्ति के रूप हैं तो इनमें विरोध की कल्पना कैसे हो सकती है। हिन्दू धर्म में ऐसे अनेक समन्वयवादी ग्रन्थ हुए, जिन्होंने न केवल पुराना साम्प्रदायिक विरोध छोड़कर सभी देवताओं की पूजा प्रारम्भ की; किन्तु पुराने वैदिक अनुष्ठानों के साथ इसका कोई विरोध नहीं समझा। स्मार्त सम्प्रदाय वाले वैदिक विधियों के साथ विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश की भी पूजा करते थे। समुन्वयवादी इस बात पर बल देते थे कि ब्रह्म-प्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षु को वैदिक अनुष्ठान और वेदान्त दोनों का ज्ञान होना चाहिए। गुप्त युग में सत्तरों ने अथर्ववेद आदि वैदिक ग्रंथों के साथ वैष्णव धर्म के पालन में कोई विरोध नहीं समझा। विभिन्न सम्प्रदायों को मिलाने के लिए

देवताओं में धर्म के और तादात्म्य स्वीकार किया गया। त्रिमूर्ति के विचार से तीनों पृथक् शक्तियों के रूप में, किन्तु तादात्म्यवादिनों के मत में विष्णु, और शिव अभिन्न थे। हरिहर की मूर्ति इसी विचार का मूल बन गई।

बौद्ध धर्म का सोप और जैन धर्म का ज्ञान—बौद्ध धर्म की शीघ्रता और सोप आन्तरिक एवं बाह्य दोनों कारणों से हुए। आन्तरिक कारणों में भिक्षुओं की विनाशिता, आचर्य, नैतिक सच्चरित्रता, काममार्ग और सम्प्रदाय-भेद थे। बाह्य कारणों में राज्याध्यक्ष का समाधि, हिन्दू धर्म द्वारा उसकी सभी विशेषताओं का खण्डन किया जाना और मुस्लिम आक्रमण थे। ३वीं, ८वीं शताब्दी में शैवों ने महापान बौद्ध धर्म से संघ और योग समाधि के तत्त्व ग्रहण किये, वैष्णवों ने भक्ति और रच-रचावा, मूर्ति-पूजा आदि के तत्त्व ग्रहण किये। बौद्ध धर्मियों का स्थान हिन्दू धर्मावलम्बी ने ले लिया, बुद्ध को हिन्दुओं ने पाठवां अवतार मान लिया और इस प्रकार धर्म-धर्म-समूह बौद्ध धर्म को हलक कर डाला। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा। १२वीं शताब्दी अन्त में तुर्कों ने जब बौद्ध मठों पर हमला किया तो सब भिक्षु तिब्बत भाग गए, उनके भक्त हिन्दू बन गए और उनके उजड़े मठों में शैव साधु जम गए। बुद्धमार्ग का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध था, बाद में गिरि सम्प्रदाय के शैवों ने उस पर अधिकार कर लिया।

जैन धर्म में बौद्ध धर्म की विशेषता पुराण-प्रियता, कवि-प्रेम और कट्टरता अधिक थी। अतः इसमें काममार्ग-वैत सम्प्रदाय विकसित नहीं हुए; किन्तु यही कट्टरता इसके ज्ञान का कारण हुई। इससे यह धर्म में समग्रतन्त्र परिवर्तन करने में अतन्त्र रहा। वैष्णव, शैव धर्म धारण करने वालों के विद्वानों के कारण अधिक लोक-प्रिय हुए, दक्षिण के कुछ शैव राजाओं ने जैनों पर आचर्य भी किये। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा मुन्दर ने ८,००० जैनों की हाथी के पैरों तले कुशलता दिया था। मदुरा के महान् मन्दिर की दीवारों पर इन दृश्यों के चित्र भी देखीये हैं। इन सब कारणों से मैसूर, महाराष्ट्र में एक हजार वर्ष तक प्रधान धर्म रहने के बाद इसकी महत्ता कम हो गई। इस समय जैन धर्म के प्रधान केन्द्र पश्चिमी भारत में गुजरात और राजपूताना हैं।

बौद्धधर्म के सोप और जैनधर्म के ज्ञान से भारत में स्वभावतः पौराणिक हिन्दू धर्म और उसके विविध सम्प्रदाय प्रबल हो गए। इनमें वैष्णव और शैव मुख्य हैं। इनके तथा अन्य शैव सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास की संक्षिप्त रूपरेखा ही यहाँ दी जायगी।

वैष्णव धर्म

उद्भव—पहले यह बताया जा चुका है कि वैदिक युग में राजा वसु द्वारा यज्ञों में पशु-वर्ति का विरोध करने तथा हरि की उपासना पर बल देने वाली लहर के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म हुआ, यज्ञों का विरोध करने में तो यह बौद्ध-जैन ही

ये किन्तु उन्होंने ईश्वर और आत्मा को अपने धर्म में कोई स्थान न देकर अष्टांग-मार्ग के नैतिक आचरण द्वारा मुक्ति मानी थी, वेदों का, उनसे मुख्य भेद इस बात पर था कि वे वैदिक ईश्वर की शक्ती में विश्वास रखते थे और उसकी भक्ति से मुक्ति मानते थे। भागवत धर्म का उद्भव उपनिषदों से आरम्भ होने वाली उसी विचार-धारा से हुआ, जिसने बौद्ध और जैन धर्म पैदा किये थे। आरम्भ में यह धर्म यज्ञों तथा उपस्था के पुराने सामन्तों की ओर आकर पूर्वक हरि की उपासना पर धन देता था। यज्ञों की वह गौण समझता था और पशु-बलि का विरोध करता था। इस तरह यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म के विरुद्ध यह उतरी, उस कान्ति नहीं थी जिसकी वेद और ईश्वर में विश्वास न रखने वाले बौद्ध और जैनो की।

कृष्ण और शीता—धार्मिक सुधार की इस लहर की शृणि-बंशी वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण से बहुत अधिक बज मिला। उन्होंने भगवद्गीता में नवीन धार्मिक सुधार के सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया और इस सुधार-बान्दीजन की भुनि-धित रूप प्रदान किया। गीता के काल के सम्बन्ध में यमार्थ मतभेद है। कुछ विद्वान् तो इसे युग युग की कृति मानते हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं इसके विचार बहुत प्राचीन हैं। आन्धोम्य उत्तिपद् में श्रीकृष्ण का स्पष्ट उल्लेख होने से वे काफी पुराने धर्म-संशोधक जान पड़ते हैं। भागवत धर्म के विकास की दृष्टि से गीता के श्री सिद्धान्त उल्लेखनीय है, इसके अनुसार मोक्ष के लिए तपस्या और वैराग्य का मार्ग आवश्यक नहीं, मनुष्य के लिए यह प्रणाली नहीं कि वह अपना काम-धन्या छोड़कर मुक्ति के लिए संन्यासी हो जाय, उसका आदर्श तो स्वधर्म प्राप्त है, उसी में मरना अवसर है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि मुक्ति मुख्य नैतिक आचरण में नहीं किन्तु भक्ति में है और इस भक्ति-मार्ग में ज्ञान-ज्ञात और स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं। वैदिक धर्म की मुक्ति केवल उच्च वर्णों के पुरुषों को प्राप्त थी क्योंकि वेदाध्ययन और वैदिक अनुष्ठानों का उन्हें ही अधिकार था। श्री कृष्ण की मुक्ति स्त्री-पुरुष तक सबके लिए थी।

भागवत धर्म का आरम्भिक प्रसार—श्री कृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह धर्म पहले उनकी जाति में और फिर धर्म-धर्म भारत के अन्य हिस्सों में बड़ा लोकप्रिय होने लगा। भक्तों ने वसुदेव श्रीकृष्ण की ही भगवान् बनाकर उनकी पूजा शुरू कर दी। जातक, निहंस और पाणिनि के सूत्रों में वसुदेव के भक्तों का उल्लेख है। चौबीस ई० पू० में मेगस्थनीज ने मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन किया है। दूसरी स० ई० पू० में वेण्यध धर्म इतना प्रबल हो चुका था विदेशी जाति में भी इससे साक्षित हो रही थी। पुनानी राजा धननिधित (एष्टियालिकस) के राजपुत्र लक्ष्मिला-निवासी हेतिसोडोरस ने इस शर्ती में वेसनगर (प्राचीन विदिशा) में एक मरुद्वज (एक स्तम्भ पर गज की मूर्ति) स्थापित किया। यह देव-देव वसुदेव श्री प्रतिष्ठा में लड़ा किया गया था, इस पर उत्कीर्ण लेख में यह अपने को भागवत,

अथवा वैष्णव धर्म का अनुयायी कहता है। सीरिया की एक अनुसूति के अनुसार दूसरी श० ई० पू० तक आर्मीनिया में श्रीकृष्ण की पूजा होने लगी थी। इसी समय के पोसुण्डी और नागापाट के अभिलेखों में भागवत धर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध—भागवत धर्म को सहर यज्ञ-यज्ञांत प्राचीन वैदिक धर्म के विरोध से शुरू हुई थी किन्तु इन काल में कट्टरपन्थी धर्म ने नवीन सम्प्रदाय के प्रधान देवता कृष्ण का वैदिक विष्णु और नारायण से घनेर स्थापित करके नये धर्म को अपना लिया। हेनियोडोरस के मरइव्वज से यह ज्ञात होता है कि यह परिवर्तन दूसरी श० ई० पू० के पहले ही हुआ था। यह दोनों के लिए लाभप्रद था। ब्राह्मणों ने इस लोकप्रिय धर्म को अपनाकर बौद्ध धर्म के प्रति लोगों का आकर्षण कम कर दिया और भागवतों को इससे नई प्रतिष्ठा और गौरव मिले। विशुपाल ने महाभारत में कृष्ण के बिकट जो विष-वमन किया है, उससे स्पष्ट है कि कुछ कट्टरपन्थियों को श्रीकृष्ण को देवता मानना पसन्द नहीं था, किन्तु अन्त में उन्हें भी यह परिवर्तन मानना पड़ा और वैष्णव मत ने हिन्दू धर्म को बिलकुल नया रूप दे दिया।

वैष्णव धर्म के नये तत्व—दूसरी शती ई० पू० में धर्म-धर्म: वैष्णव धर्म और कृष्ण-चरित्र में नए तत्व जुड़ने शुरू हुए। इसमें अवतार-कल्पना, पांचरात्र-पद्धति, कृष्ण की बाल-मोहाल, गोपियों और राधा के साथ सीताधर्मों की कहानियों प्रभाव है। अवतारों की कल्पना पुरानी थी किन्तु गुप्त युग में धर्म-धर्म: इसका पूरा विकास हुआ। पाँचवी शती ई० पू० तक कृष्ण और राम अनुपपन्न थे, दूसरी श० ई० पू० में वे देवता बने, धीरे-धीरे अवतारों की संख्या बढ़ने लगी। पहले छः थी, बाद में दस हुई, इसमें नृद को भी सम्मिलित कर लिया गया था और अन्त में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव आदि को समाविष्ट करके यह २४ तक पहुँच गई। पांचरात्र पद्धति में बामुदेव की पूजा चार रूपों में (चतुर्व्यूह) के साथ होती थी। इसके विस्तृत प्रतिपादन के लिए ६००-८०० ई० के बीच में अनुसूति के अनुसार १०८ पांचरात्र संहिताएँ बनीं। इनमें काफी तात्त्विक प्रभाव है और वे विष्णु की शक्ति पर अधिक बल देती हैं।

कृष्ण सीताएँ—किन्तु वैष्णव धर्म में 'पांचरात्र' के स्थान पर धीरे-धीरे श्रीकृष्ण की सीताधर्मों की प्रधानता मिलने लगी, मध्ययुग में वैष्णव धर्म का प्रधान संग्रही बन गई। महाभारत में इन सीताधर्मों का कोई वर्णन नहीं, किन्तु भक्तों की भावना के अनुसार पुराणकार इन्हें कृष्ण-चरित्र में जोड़ते चले गए। सर्वप्रथम ईसा की पहली शतियों में पश्चिमी भारत के सामीर जासकी के समय कृष्ण की गोपाल बाल के रूप में सीताधर्मों का वर्णन लोकप्रिय हुआ और उसके बाद गोपियाँ आईं। सातवीं से नवीं शती के मध्य में विरचित भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की इन सीताधर्मों का अधिक-प्रधान प्रतिपादन है। किन्तु उस समय तक राधा की कल्पना का

विकास नहीं हुआ था, भगवत में उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु १२वीं शती के अन्त तक राधा-कृष्ण-चरित्र का अमिल संग बन गई। इस शती के अन्त में जयदेव ने राधा-कृष्ण की केलियों का सरस वर्णन किया और निम्बार्क ने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से राधा-कृष्ण की उपासना को उच्चतम स्थान दिया।

दक्षिण भारत के आचार्य—मध्य युग में वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत ने प्रधान भाग लिया। भगवत पुराण के अनुसार भक्ति दक्षिण देश में पैदा हुई थी। पाँचवीं से बारहवीं शती के बीच में वहाँ प्रगाढ़ भक्ति-रस की मन्दाकिनों बहाने वाले 'आलचार' नामक वैष्णव सन्त हुए। इनके गीत आज तक वहाँ वैष्णव-वेद समझे जाते हैं। भगवत पुराण भी दक्षिण में लिखा गया माना जाता है। छठवीं-नवीं शती में वैष्णव भक्ति-ग्रन्थोत्पत्ति की दो धोरों में भँवर जतरा पैदा हुआ। एक और कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को ही भक्ति का मार्ग मानते हुए उसके पुनः प्रतिष्ठापन का आन्दोलन चलाया; दूसरी ओर अकरानायक ने अद्वैतवाद की स्थापना करके दार्शनिक दृष्टि से भक्ति सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात किया। भक्ति में भगवान् और भक्त की पृथक् सत्ता आवश्यक है, जब सभी कुछ ब्रह्म है तो भक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। अकरानायक के अगाध पारित्य, असाधारण प्रतिभा अद्भुत वास्तव्य-भावार्थ्य और विलक्षण व्यक्तित्व से यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला, किन्तु वैष्णवों ने शीघ्र ही अपने भक्ति-सिद्धान्त की सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित किया। यह काम 'आचार्यों' द्वारा हुआ। पहले आचार्य सायमुनि दशम शती के अन्त में या ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में हुए, इनका प्रधान कार्य न केवल श्रीवैष्णवों का संगठन, आलचारों के गीतों का संग्रह तथा उन्हें द्रविड़ रामों में बढ कराना और मन्दिरों में उसका साधन कराना था अपितु वैष्णव-सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या भी थी। इनके उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य और रामानुजाचार्य (११०० ई०) थे। रामानुज ने अकर के अद्वैतवाद के विरोध में विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार अलित सद्गुणों के भण्डार एक ईश्वर के ही और जगत दो प्रकार के विभेदन है। अकर के अद्वैत में जीव-ब्रह्म में अभिन्नता होने के कारण भक्ति के लिए कोई स्थान न था, रामानुज की दार्शनिक पद्धति में उसे ब्रह्म का विशेषण मानते हुए भी उसमें पृथक् माना गया, अतः इसमें भक्ति सम्भव थी। किन्तु रामानुज की भक्ति उपनिषद्-प्रतिपादित ध्यान और उपासना पर बल देती थी, उसमें गोपाल कृष्ण की लीलाओं का कोई स्थान न था।

रामानुज के बाद के आचार्यों में आनन्दतीर्थ या माधव (१३ वीं) और निम्बार्क उल्लेखनीय हैं। माधव ने जीव की ब्रह्म से विलकुल भिन्न माना और अब तक भागवतों की पूजा में वामुदेव के 'वदुर्मुह' की जो पूजा चली आती थी, उसके स्थान पर विष्णु की ही उपास्य माना है। इस दृष्टि से यह 'वैष्णव धर्म का सच्चा संस्थापक' कहा जा सकता है। बारहवीं शती के अन्त में निम्बार्क ने उत्तर भारत में गोपियों और राधा

से बिरे श्रीकृष्ण को पूजा कराई। तैलंग बाह्यण होते हुए भी उन्होंने मुन्दावन को अपने धर्म प्रचार का केन्द्र बताया। गोपियों और राधा पर पड़ने किसी आचार्य ने बात नहीं दिया था। निम्बार्क का यह मत उत्तरी भारत में बड़ा लोकप्रिय हुआ, चैतन्य प्रादि आचार्यों के प्रचार से इसे बड़ा बल मिला और उत्तर भारत में अनेक भेदों के साथ वर्तमान समय में वैष्णव धर्म का प्रधान रूप यही है।

शैव धर्म

उद्गम—वैयक्तिक ईश्वर के रूप में शिव का पहला स्पष्ट उल्लेख 'श्वेताश्व-तर' उपनिषद् में है, बाद में 'अथर्वशिरस्' उपनिषद् में इसका प्रतिपादन किया गया। दूसरी श० ई० पू० में शैवसम्प्रदाय के प्रवर्तन की सूचना पतंजलि के महाभाष्य से मिलती है। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में उमापति शिव को इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ प्रकट करने का श्रेय (अध्याय २३) दिया गया है, उस समय तक शिव मानव था, देवता नहीं बना था। कानु और निगपुराण (अध्याय २३) की कथाओं के अनुसार, जब कानुदेव श्रीकृष्ण ने जन्म लिया, उसी समय कामावर्धन (करवण, बशोदा) में शिव ने नकुलीश के रूप में जन्म लिया। शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भिक नाम 'ताकुल', 'पामुपत' या 'माहेस्वर' है। निम्नेशी जातियाँ भागवत धर्म की भाँति शैव धर्म से भी आकर्षित हुईं। कुषाण राजा विम कप्य (३०-७७ ई०) ने शैव धर्म धर्मांकार किया। उसके कुछ शिष्यों के ऊट्टी तरफ मन्वी पर भुके त्रिमूलधारी शिव की मूर्ति है। अनेक आधुनिक विद्वान् इसे शैव धर्म के संस्थापक नकुलीश की प्रतिमा मानते हैं। किन्तु खोज ही शिव की मानव-मूर्ति के स्थान पर शिव की पूजा शुरू हो गई।

(क) पामुपत शैव सम्प्रदाय—छठी श० ई० के अन्त तक शैव धर्म का पर्याप्त विकास और विस्तार हो चुका था। शैव भारत के दक्षिण और तक फैल चुके थे। कनान और कम्बोदिया का प्रभाव धर्म नहीं था। शैव सम्प्रदायों में दोषित न होने पर भी यशस्क, हर्षवर्धन-जैसे मछाद्, कालीदास, भवभूति-जैसे कवि, सुषम्भ, वाणभट्ट-जैसे भक्त-लेखक शिव के उपासक थे। इनमें अनेक सम्प्रदाय बने। पातली घाटी ई० में इनमें पामुपत सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रचलन था। बुधान स्वयं को इसके अनुयायी बलोजिष्ठान तक मिले थे, बनारस-पामुपतों का यह था, यहाँ १०० फीट से कुछ कम ऊँची महेश्वर की ताम्र-मूर्ति थी। सर्वत्र मन्दिरों में इसकी पूजा बड़ी श्रद्धा-धाम से होती थी। पामुपतों के सम्प्रदाय में सिद्धि और ज्ञान प्राप्ति के लिए साधुओं को विन बातों का चलन करना पड़ता था, उनमें कुछ के थी—(१) कारीर पर सनन रमना और भस्म से मोचना, (२) गले तथा होठों को भीड़ा करके 'हा हा' की ध्वनि करना, और (३) सब लोगों द्वारा निन्दित उद्गारों का करना ताकि साधक कर्तव्य-प्रवर्तक के विवेक ने ऊपर उठ सके।

(ख) पामासिक और मानविक—इस शैव सम्प्रदायों के सिद्धान्त पामुपतों से अधिक उच्च थे। इनकी प्रधान विशेषताएँ निम्न थी—(१) नरगुण्य या कपाल में

भोजन करना, (२) मृत व्यक्ति की मर्मा को शरीर पर रमाना, (३) भस्मभक्षण, (४) हाथ में विशुद्ध वण्ड रखना, (५) मंदिर का पात्र पास रखना और (६) उस में संवत्सित महेश्वर की पूजा करना ।

(ग) शैव सम्प्रदाय—किन्तु 'शैव' सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचार-आपातकों में अधिक सौम्य और तर्क-संगत थे । यह प्रातः-नाम सम्प्रदायों में शिव की भक्ति और उपासना पवित्र मंत्रों के जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि तथा विभिन्न प्रकार के लिंगों की पूजा पर बल देता था । नवीं, दसवीं शती में काश्मीर में शैव धर्म के सम्प्रदायों का उत्कर्षित विकास हुआ । इनके आध्यात्मिक विचारों में मोलिकता और धार्मिक आचार-व्यवहार में उदारता थी । इनमें उपर्युक्त सम्प्रदायों की वासनागी प्रवृत्तियों का कमी प्राधान्य नहीं हुआ । काश्मीर के इस उदार शैव धर्म का कारण शंकराचार्य का प्रभाव समझा जाता है ।

शैव साहित्य

(क) आगम—वायु, तिम और कूर्म पुराणों के अतिरिक्त शैव ईश्वरवाद का आगम नामक ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है । आगम सद्गुरु है, किन्तु प्रत्येक के साथ अनेक उपागम जुड़े हैं और इनकी कुल संख्या १२८ है । ये सातवीं श० ई० से पहले बन चुके थे । इनमें प्रतिपादित शैव धर्म 'आगम शैव धर्म' कहलाता है । यह ईशवादी है । नवीं शती में शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार किया और काश्मीर के शैवधर्म में ईशवादी धर्मों का स्थान अद्वैतवाद की प्रधान किया ।

(ख) तामिल साहित्य—पल्लव (छठी श० ई० से) तथा चोल सम्राटों (दशम श०) के संरक्षण से दक्षिण देश में शैव धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ । संघर्षों के क्षण में शैवधर्म-सम्बन्धी विज्ञान तामिल साहित्य का निर्माण हुआ । रत्नगिरि के आचार्य संतों की भक्ति साधना-नामक शैव ग्रंथ हुए । पहले तीन संग्रहों के रचयिता प्रसिद्ध संत 'आनन्द सम्बन्ध' जन्मकाल सातवीं शती में हुए । तामिल पुराण 'विष्णु पुराण' साहित्य उपर्युक्त ११ संग्रह तामिल शैव धर्म का आधार हैं । इनमें पहले सात संग्रहों 'विस्तार' में सारा, सुन्दर और ज्ञान सम्बन्ध की रचनाओं का समावृत्ति है, इनकी प्रतिष्ठा वेदों के तुल्य है । इनकी दार्शनिक विचार-धारा धर्मों में मिलती-जुलती है ।

शैव सिद्धान्त—उपर्युक्त, नीचर्युक्त शतियों में तामिल शैव धर्म में सर्वोच्च साहित्य का विकास हुआ, इसे शैव सिद्धान्त कहते हैं । धर्म आगमों का स्थान १४ सिद्धान्त शास्त्रों में ले लिया ।

और शैव या विराजित सम्प्रदाय—शैवी का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय और शैव है । इसका संस्थापक ११६० ई० में कलचुरी राजा विजयल से राज-गद्दी चीनने जाया उसका प्रधान मन्त्री नामक था । कर्नाटक और महाराष्ट्र में बौद्ध और जैन धर्मों को समाप्त करने का श्रेय इसी को है । यह सम्प्रदाय आत्म-सम्बन्धी वैदिकता और

परिवर्तन पर बहुत बल देता था। इसकी विशेषता कट्टर हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का विरोध है। 'वे वेद की प्रामाणिकता और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते, जल-विवाह-विरोध तथा विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं, ब्राह्मणों के प्रति तीव्र घृणा रखते हैं'।

मध्य युग में महाराष्ट्र तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट और चोल राजाओं के संरक्षण से शैव धर्म बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसी समय इन्दौर (बैस्न) के जगन्-प्रसिद्ध कालाग और तंजौर के विशाल शैव-मन्दिरों का निर्माण हुआ।

अन्य सम्प्रदाय

वैष्णव और शैव धर्म के अतिरिक्त शक्ति, सप्तमति, स्कन्द या कातिकेय, ब्रह्मा और सूर्य की पूजा भी हिन्दू धर्म में सातवाहन युग से चली। इनमें शाक्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले यह कल्पताया जा चुका है कि वैदिक युग में स्त्री उत्सव की उपासना नहीं थी। भीष्म पर्व के तेइसवें अध्याय में पहली बार दुर्गा की स्तुति मिलती है। गुप्त युग में शिव की शक्ति की अधिक प्रधानता मिली है। शक्ति के उपासकों ने शरीर में घटचक माने, 'हिम, हुम, फट' आदि मन्त्रों से तथा योग में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, यन्त्रों की शक्ति और 'मुद्राद्यं' में विश्वास किया, देवी को प्रसन्न करने के लिए पशु तथा नर-बलिषों की पद्धति प्रचलित हुई। सुधान च्वांग की मातची शली में एक बार शाकुनो ने कशीब के पास बलि देने के लिए पकड़ लिया था। बौद्ध धर्म की भांति, मध्य युग में इसमें भी तान्त्रिक प्रभाव प्रबल हुआ।

मुसलमानों के आने के बाद हिन्दू धर्म में भक्ति और मृषार की नई लहरें चलीं, उनका चलन बारहवें अध्याय में किया जाएगा।

दर्शन

दर्शन सम्भवतः भारतीय संस्कृति की समुद्रस्पर्शतम कृति है। भारतवर्ष विचार-प्रधान देश है। वैदिक युग से धार्मिक और पारलौकिक प्रश्न भारतीयों की चर्चा करते रहे हैं और उनका हल ढूँढ़ने वाली अध्यात्मविद्या को सब धार्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसके विकास में हजारों वर्षों से हमारे देश के सर्वोत्तम विचारक लगे रहे हैं। यही कारण है कि तत्त्व-चिन्ता की ऊँची-ऊँची उड़ान तथा विचारों की सूक्ष्मता और गंभीरता में बहुत कम देश उसकी तुलना कर सकते हैं। अन्य देशों के दर्शन की अपेक्षा भारतीय तत्त्व-ज्ञान की कई विशेषताएँ हैं। नीस के अतिरिक्त किसी अन्य देश से दार्शनिक विचार की तीन हजार वर्षे लम्बी और अविच्छिन्न परम्परा नहीं है। पश्चिम में यह केवल फिलासफी धर्मोत् विद्या का अनुराग-भाव है, पवित्रों के सनातनोद या बुद्धि-विज्ञान की वस्तु है। किन्तु भारत में इसका जीवन के साथ पवित्र सम्बन्ध है। इसका उद्देश्य धार्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापों से संतप्त मानवता के अस्वस्थों की निवृत्ति है। यूरोप में दर्शन और धर्म पृथक्-पृथक् हैं। दर्शन बुद्धि का विषय है, उसका उद्देश्य सत्य की खोज है, धर्म श्रद्धा और विश्वास की वस्तु है। किन्तु हमारे देश में धर्म और नैतिकता को आधार-शिवा दर्शन है। वह हमारे समूचे आचार-व्यवहार का परिधानक और मार्ग-दर्शक है।

दार्शनिक विकास के चार युग—भारतीय दर्शन के विकास की चार प्रधान कालों में बाँटा जा सकता है—(१) आधिभौतिक काल (६०० ई० पू० तक), (२) सूत्र काल (६०० ई० पू० से पहले ४०० ई० तक), (३) भाष्य काल (पहले से पन्द्रहवीं शती तक), (४) वृत्ति काल (उन्नीसवीं शती से वर्तमान समय तक)। पहले काल की हम भारतीय दर्शन का उषाकाल कह सकते हैं। इस समय में इसके प्रायः सभी मूलभूत विचारों का उदय हुआ। बाद में मूल रूप में विकसित होने वाले छहों दर्शनों का बीजारोपण इस काल की घटना है। जिस प्रकार एक ही वट-मूल विकसित होने पर नाना शाखाओं-प्रपाशाओं में विभक्त हो जाता है, वैसे ही वेदों तथा उपनिषदों के विचारों से बाद माना सम्प्रदाय विकसित हुए। भारतीय तत्त्व-चिन्तन तो अश्वेत से ही सारम्भ हो गया, उसमें दर्शनों के इन सनातन प्रश्नों के अस्पृष्ट उत्तर हैं कि वह विषय कैसे पैदा हुआ, इसे पैदा करने वाला कौन है, इसके पैदा होने से पहले क्या

वा । तामसीय सूक्त (ऋ० १०/११६) में इसका स्पष्ट उल्लेख है । पूर्व वैदिक युग में तत्त्व-चिन्ता की प्रवृत्ति सांख्यिक कर्मकाण्ड के बोझ से दबी रही, किन्तु उत्तर वैदिक युग में यज्ञों के विषय प्रतिक्रिया होने पर इसकी लहर पुनः प्रवृत्त हुई । मनुष्य क्या है ? कहाँ से आया ? मर कर कहाँ जायेगा ? सृष्टि का क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के प्रश्नों से धार्मिक विचारक घबोरे हो उठे । उपनिषदों से ज्ञात होता है कि अनेक समृद्ध परिवारों के कुलीन युवक घर-बार छोड़कर विभिन्न ऋषि-मुनियों के आश्रमों में जाकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजा करते थे । इनमें प्रधान रूप से इसी प्रकार के संवाद धीरे-धीरे हुए हैं । यज्ञिकता, मूर्तेश्वरी, सत्यकाम, जाबाल, पिप्पलाद की कहानियाँ उस समय के तत्त्वान्वेषण पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं । उस समय तक भारतीय दर्शनों की मूलभूत सात्वताभाव, पंचभूत, पञ्चेन्द्रियाँ, आत्मा और शरीर की पृथक्ता, आत्मा की अमरता, सर्वोच्च, सर्वव्यापक सत्ता या ब्रह्म, उसके स्वरूप, सृष्टि-विकास की प्रक्रिया, सत्व, रज, तम के तीन गुणों, कर्मवाद, पुनर्जन्म, संसार की क्षणभंगुरता और सद्व्यवस्था के सिद्धान्तों का जन्म हो चुका था । किन्तु पृथक् दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास नहीं हुआ था । उपनिषदों में सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों की जड़ों-से-जड़ों उगाने हैं । कठोपनिषद् में एक सात्व सांख्य और वेदान्त का प्रतिपादन है । तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में वेदान्ती ब्रह्म का उल्लेख है किन्तु इसका कहीं भी समग्र या व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया ।

सुन काल (६०० ई० पू०—पहली शती ई०)—सुन काल में दार्शनिक विचारों की गृह्णलावण्य किया जाने लगा । उपनिषदों में तत्त्व-चिन्ता की आरम्भिक उड़ानें हैं, दर्शनों में व्यवस्थित विवेचन । कपिल, ऋषि, गौतम की सांख्य, वैशेषिक, न्याय दर्शनों का स्वरूपता समझना हीक नहीं; उन्होंने केवल पहले से कले जाने वाले विचारों को सुतक किया । पिछले समयों में इन्हें ऐसा गया रूप देने का कारण स्पष्ट किया जा चुका है । शरी ६०० ई० पू० में भारत में एक प्रचलित सांख्यिक और बौद्धिक चिन्ता हुई थी । बौद्ध, जैन और सांख्यिक विचारकों ने जब प्राचीन विचारों तथा कौटिल्य पर लगे-लगे और बोधी-सीधी मोटों की, तब गृह्णलावण्य दार्शनिक विचारों की सावराकता समुभव हुई और ये दर्शनों ने जन्म लिया । कौटिल्य के समय तक (जोभी ६०० ई० पू० का चिन्तित भाग) केवल तीन दर्शनों थे—सांख्य, योग और सांख्यिक । पिछले मोर्चे-पुनः या आरम्भिक सावराकता युग में पहली ६०० ई० तक चलते-चलते रूप में मिलने वाले वैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्व भीमांसा और उत्तर भीमांसा (वेदान्त) गृह्णक हुए ।

माध्य काल (पहली श० ई० से सन्दर्भही ६०० ई० तक)—दार्शनिक विकास का तीसरा युग माध्य काल है । इसे यदि दर्शनों का स्वर्णयुग कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी । इसी युग में नामार्जुन और शंकर—दो दार्शनिक पैदा हुए जिनकी टक्कर के दार्शनिक युगरे दोनों ने बहुत कम पैदा किये हैं । इस काल में विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिकों में परस्पर सूच टक्कर या घात-प्रतिघात चलता रहा । इसने दर्शनों के

विकास में बड़ी सहायता दी। प्रत्येक दर्शन को विपत्तियों द्वारा उठाये भाषणों का उत्तर तथा नई समस्याओं का समाधान करना पड़ता था। यह कार्य भाष्यकारों ने किया। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के स्थान पर पुराने दर्शन को या भाष्य की टीका द्वारा इसे सकलतापूर्वक करते रहे। इसमें ये न केवल भाषणों का समाधान करते थे किन्तु नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी करते थे। शंकर का धर्म इसी प्रकार का सिद्धान्त है। हम अपने दर्शनों के सर्वो को ऐतिहासिक दृष्टि से उनका कम-विकास देते बिना नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ न्याय दर्शन का विकास बौद्ध दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। न्याय का सर्वप्रथम भाष्यकार वात्स्यायन नागार्जुन या। उनके आरम्भिक बौद्ध दार्शनिकों का अध्ययन करता है, उसके उत्तर में दिङ्नाग ने 'प्रमाण-समुच्चय' लिखा। इसके जवाब में प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर ने 'वात्स्यायन भाष्य' पर 'न्याय-वार्तिक' की रचना की, इसका खण्डन बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वार्तिक' में किया, अन्त में इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य' टीका लिखी गई। भाष्य युग में इस प्रकार के धात-प्रतिधात से भारतीय दार्शनिक उत्पन्न-चिन्तन की जिस ऊँचाई तक पहुँचे, साधुनिक विचार-धारा उससे घाटे नहीं बढ़ सकी। भाष्य युग दो प्रधान भागों में बँटा है—(क) पहली से आठवीं शती तक—इस काल में नागार्जुन, वसुबन्धु, अर्यभट्ट, धर्मकीर्ति और सङ्कर-जैसे दिग्गज दार्शनिक पैदा किये। भारतीय दर्शन में मौलिकता और नवीनता बनी रही। (ख) किन्तु इसके बाद से गौतमजी शती तक भाष्यकारों ने प्रधान रूप से वेदान्त की विभिन्न व्याख्याओं पर बल दिया, मौलिक विचार बहुत-कुछ समाप्त हो गया। चौथे शती युग में मुख्य रूप से भाष्यों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए विभिन्न टीकाएँ लिखी जाती रहीं।

भारतीय दर्शन को प्रधान रूप से दो भागों में बाँटा जाता है, (१) नास्तिक दर्शन, (२) शास्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। इनमें तीन प्रधान हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। शास्तिक दर्शन छः हैं—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक।

नास्तिक दर्शन

(१) चार्वाक—चार्वाक दर्शन बिल्कुल भौतिकवादी और प्रत्यक्ष में विश्वास करने वाला है। इसके मन में ईश्वर, परलोक, आत्मा, स्वर्ग, नरक की कोई सत्ता नहीं। इसका प्रधान सिद्धान्त है—'खाओ, पिओ, सोओ उड़ाओ,' 'जब तक जियो, मुक्त से जियो, खूब सेकार भी पी जियो, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर जीव लौटकर नहीं आता', अन्त्यात्मवाद निरा उकीमता है, जगत् में घाली से दिखाई देने वाले, धुनि, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्व हैं, इनके संयोग से स्वभावतः जेतना और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जीवन का लक्ष्य भोग और ग्रन्थ-आप्ति है। मृत्यु के बाद सब चीजों का अन्त हो जाता है। ऐहिक सुखवाद पर बल देने के कारण इसका नाम चार्वाक (चार-वाक—मुन्दर वाणी) तथा मोकापत (मोक में बिस्तीरों) है। इसके

प्रवर्तक बृहस्पति नामक ऋषि थे। इनका मूल ग्रन्थ तो गुप्त हो चुका है, किन्तु उनके ८ सूत्र पिछले ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

चावोंक दर्शन सम्भवतः धृति-काल के अन्त में बढ़ते हुए यमानुष्ठान, तपश्चरण और शारत्तौकिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।

(२) जैन—जैन धर्म प्रारम्भ में आचार-प्रधान था। बाद में उस में दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य (पहली श० ई०) जैन दर्शन की नींव डालने वाले थे। छठी में नानक प्रातन्दी का काल जैन धर्म का स्वर्ण युग है। इस समय सिद्धसेन दिवाकर (पाँचवीं श० ई०), समन्तभद्र (सातवीं श० ई०), हरिभद्र (आठवीं श०), भट्ट धकलक (आठवीं श०), और विश्वानन्द (नववीं श०) हुए। परवर्ती दार्शनिकों में हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०), मल्लिसेन सूरि (१२६२ ई०) और गुणरत्न (१४०६ ई०) उल्लेखनीय हैं।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नामक तीन प्रमाण मानता है। इसका प्रधान सिद्धान्त 'स्याद्वाद' है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु धनन्त धर्मरसक है, इन सबका ज्ञान तो सभी व्यक्ति को हो सकता है, जिसने कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर लिया हो, साधारण व्यक्ति उसके अश-मात्र को ही ज्ञान सकते हैं। अतः हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है। इसे प्रकट करने के लिए प्रत्येक ज्ञान के साथ शुरु में स्यात् (सम्भवतः) शब्द जोड़ना चाहिए। इसी को स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहते हैं। जैन धर्म अनेक द्रव्यों की सत्ता में विश्वास रखने से बहुत्ववादी वास्तववाद (Pluralistic Realism) का पोषक है। जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्पक् दर्शन (अज्ञा), (२) सम्पक् ज्ञान, (३) सम्पक् चरित्र। चरित्र की सुद्धि के लिए 'साहिता' साय, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिवर्त का पालन आवश्यक है। जैनों कर्मफलदाता ईश्वर की सत्ता नहीं मानते।

(३) बौद्ध दर्शन—महवान् बुद्ध ने सामान्यतः दार्शनिक समस्याओं की उपेक्षा की थी; किन्तु बाद में उनके अनुयायियों ने दर्शन की बड़ी सूक्ष्म विवेचना की। बुद्ध की शिक्षाओं के मूल प्रधानतः दो दार्शनिक सिद्धान्त थे। (१) संघातवाद (२) सन्तानवाद। पहले सिद्धान्त का आशय यह था कि आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं, वह शरीर और मानसिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध (संघात) मात्र है। सन्तानवाद का तात्पर्य है कि आत्मा तथा जगत् अनित्य है, यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वही प्रतीत होता है, दीपक की भी परिवर्तित होते हुए भी उसी तरह ज्ञान पड़ती है, वैसे ही आत्मा और जगत् धार्मिक होने पर भी प्रवाह (संतान) रूप से बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होते हैं।

बौद्ध दर्शन की चार सम्प्रदायों में बौद्ध ज्ञान है—(१) वैभाषिक, (२) नीलान्तिक, (३) मीमांसाकार और (४) माध्यमिक। इनका प्रधान मतभेद सत्ता के सम्बन्ध में है। वैभाषिक के मत में बाह्य एवं भीतरी (मानस) जगत् से सम्बन्ध रखने वाले

सभी पदार्थ वास्तविक हैं। इसीलिए इसका नाम 'सर्वोन्निवृत्तिवाद' भी है। सौवास्तिक ब्राह्म पदार्थों को अनुमान द्वारा ही सत्य स्वीकार करते हैं। योगाचार विज्ञान अथवा भित्त को ही एक मात्र सत्य मानता है, इसीलिए विज्ञानवादी भी कहलाता है। माध्यमिक मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्य रूप हैं, अतः इसका नाम शून्यवाद भी है।

बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदायों का विशाल साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। अब इसका चीनी और तिब्बती अनुवादों से पुनरुद्धार हो रहा है। वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धांतों की जानकारी वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोष' से मिलती है। वसुबन्धु को कुछ ऐतिहासिक समुद्रगुप्त (३२०-३७५ ई०) का तथा बालादित्य का गुरु मानते हैं। अतः उसका समय चौथी या पाँचवीं शती है। ये पैसावरवासी ब्राह्मण थे, पहले वैभाषिक या सर्वोन्निवृत्तिवादी थे, बाद में अपने बड़े भाई असंग के संग और उपदेश से विज्ञानवादी बने। विज्ञानवाद के संस्थापक 'अभिसमयालंकार' और 'माध्यान्त विभाग' के प्रणेता आर्य मैत्रेय (तीसरी श०) थे। किन्तु इसका प्रसार धर्मग और वसुबन्धु ने किया। असंग ने 'बोधिसत्त्व भूमि' और 'महायान सूत्रालंकार' लिखे तथा वसुबन्धु ने 'याभा-संग्रह' और 'अभिधर्मकोष'। इस सम्प्रदाय के अन्य दो प्रसिद्ध आचार्य विहङ्गनाम और धर्मकीर्ति हैं। विहङ्गनाम वसुबन्धु के शिष्य और 'प्रमाण-समुच्चय' के प्रणेता थे। धर्मकीर्ति (पाँचवीं श०) ने 'प्रमाण वातिक' में विज्ञानवाद का प्रतिपादन तथा बौद्ध न्याय पर अन्य नैयायिकों के आक्षेपों का निराकरण किया है। माध्यमिक मत के प्रवर्तक नागार्जुन (दूसरी श० ई०) तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्य आर्यदेव (तीसरी श० ई०) स्वविर बुद्धिपालित (पाँचवीं श०) चन्द्रकीर्ति (छठी श०) और शान्तरक्षित (आठवीं श०) थे। नागार्जुन की कृतियाँ 'माध्यमिक-सूत्र', 'धर्म-संग्रह' और 'मुद्गल्लेस' हैं। आर्यदेव का चतु-शतक अनुपम दार्शनिक रचना है। शान्तरक्षित का सर्वोत्तम ग्रन्थ 'तत्त्व-संग्रह' है। इसमें ब्राह्मण दार्शनिकों की विस्तृत आलोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन किया गया है। माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य न केवल बौद्ध किन्तु भारतीय दार्शनिक जगत् की सबसे बड़ी विभूतियों में हैं।

शास्तिक दर्शन

१. पूर्व मोक्षांसा—छः शकों में मोक्षांसा अपने स्वरूप के कारण काफी पुराना प्रवीत होता है। इसका प्रधान उद्देश्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी वैदिक शास्त्रों की समुचित व्याख्या के नियमों का प्रतिपादन है। मोक्षांसा का विचार बहुत प्राचीन है। सहित्वाधो और ब्राह्मण-ग्रंथों में इसका संकेत है। किन्तु मोक्षांसा के पूर्ववर्ती सभी विचारों को शृङ्खलाबद्ध करके शास्त्रीय रूप देने का श्रेय महर्षि जैमिनि को है। जैमिनीय दर्शन के १६ अध्याय ६०६ अधिकरण तथा २,६४४ सूत्र हैं। व्याधुनिक विद्वान् पहले १२ अध्यायों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इनमें यज्ञ-विषयक धर्म का विस्तृत विचार है। उपर्वण, भवदास (दूसरी श० ई०) और शबरस्वामी (२०० ई०)

ने मीमांसा-सूत्रों पर बुलियाँ और भाष्य लिखे। इनमें शबरस्वामी के भाष्य की तुलना ब्रह्मसूत्र के 'सांकर-भाष्य' तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'पातञ्जल भाष्य' से की जाती है। बाद में 'शबर भाष्य' के टीकाकारों ने तीन सम्प्रदाय चलाये—भट्ट मत, गुप्तमत और मुरारी मत। भट्ट मत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट थे (सप्तमी श० का पूर्वार्द्ध)। मीमांसा के विकास में कुमारिल-युग (६००-६०० ई०) स्वर्ण युग है। कुमारिल ने मीमांसा की बौद्धों के आक्षेपों से बचाया, सिद्धान्तों को सुबोध स्वरूपा करके इसे लोकप्रिय कराया। इनके प्रधान ग्रंथ श्लोक, धीर-तन्त्रनास्तिक हैं। इनके शिष्य मञ्जुनमित्र ने विधि-विवेक, तथा 'भावनाविवेक' आदि ग्रंथ लिखे। भट्ट मत के अन्य आचार्यों में धर्मसारथि (बारहवीं श०), माधवाचार्य (षोडशवीं श०) और समुद्रदेव (सत्रारहवीं श०) उल्लेखनीय हैं। गुप्तमत के संस्थापक कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर मिश्र थे। तीसरा सम्प्रदाय मुरारि मिश्र (बारहवीं श०) का है।

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य तो यज्ञादि वैदिक अनुष्ठानों का विवेचन करना था, किन्तु इसमें मीमांसकों ने अनेक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की। शब्द के स्वरूप और उसकी नित्यानित्यता पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया। विरोधी साक्ष्यों की संगति बिटाने तथा व्याख्या करने के उन्होंने जो भीतिक सिद्धान्त निरिचित किए, उनसे स्मृति-ग्रंथों के सर्व-निरास में भी बड़ी सहायता की जाती रही है। वैदिक कर्म काण्ड का ज्ञान तो मीमांसा के बिना हो ही नहीं सकता।

२. उत्तर मीमांसा (वेदान्त)—वेदान्त भारतीय दर्शन का सबसे जमकीला रहन है। वेदान्त सूत्रों के प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। ये सम्भवतः महर्षि वैश्विनि के समकालीन थे। इनका उद्देश्य उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का प्रतिपादन, सांख्य, वैशेषिक जैन, बौद्ध आदि मतों का खण्डन, ब्रह्म-आप्ति के वेदान्त-सम्मत साधनों का वर्णन था। वेदान्त दर्शन के सूत्र इतने अलगाधर हैं कि भाष्यों के बिना उनका अर्थ ज्ञातना बहुत कठिन है और भाष्यकारों ने इनसे अपना अभीष्ट अर्थ निकालने में बड़ी शीक-तान की है। यतः इन सूत्रों का वास्तविक अर्थ और महर्षि बादरायण का आशय पता लगाना अत्यन्त क्लिष्ट कार्य है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बादरायण के अनेक सिद्धान्त शंकर से भिन्न थे। उनके मूल विचार सम्भवतः ये थे "विम्ब ब्रह्म की अनेकता आत्मा अणु है। जीव चैतन्यरूप है। ज्ञान उसका विशेषण या गुण है। ब्रह्म-अणु का उत्पादन और निमित्त दोनों कारण हैं। बादरायण और शंकर में प्रधान भेद यह है कि सूत्रकार मायावाद नहीं मानते थे। उनका मत था कि ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने पर भी जीव उससे पृथक् और वास्तविक बने रहते हैं। ब्रह्म से बनने वाला जगत् भी वास्तविक होता है। शंकर के मत में यह अवास्तविक और मिथ्या है।"

वेदान्त सूत्र पर अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल व्याख्याएँ लिखी हैं। इनमें जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में ही अधिक मत-भेद है। शंकराचार्य

(७८८-८२० ई०) जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं मानते। उनका भूत सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मो नापरः। ब्रह्म ही सत्य है, सत्य का आशय तीनों कालों में रहते वाली वस्तु है, सत्ता ऐसा न होने से मिथ्या है। उसकी व्यावहारिक सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं है। शंकराचार्य का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह था कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। भाषा विशिष्ट ब्रह्म सगुण है, यही ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म भाषा के सम्बन्ध से रहित, सर्वश्रेष्ठ, अक्षय्य, व्यापक और सन्निधानन्द स्वरूप है। तीसरा सिद्धान्त ज्ञान के द्वारा मुक्ति था।

श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त बाद के भक्ति-श्रेणी वैष्णव आचार्यों को पसन्द नहीं आये। वे जीव और ब्रह्म में भेद मानते थे, उनके मत में ब्रह्म ही ईश्वर था, चेतन जीव तथा जड़ जगत् मिथ्या नहीं, सत्य थे। जीव धर्मा तथा सत्ता में धन्य है, भक्ति ही मोक्षदायिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए अपनी दृष्टि से वेदान्त-ग्रन्थों का भाष्य किया। इनमें रामानुज (११५० ई०), मध्व (१२३८), निम्बार्क (१२५० ई०), और वल्लभ (१५०० ई०) उल्लेखनीय हैं। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इसके अनुसार जीव तथा जगत् धर्मित सद्गुणों के भण्डार ईश्वर के दो प्रकार या विलोपण हैं। अतः यह अद्वैत न होकर विशेषण वाला (विशिष्ट) अद्वैत है। मध्व जीव और ईश्वर को सर्वथा पृथक् मानते हैं, साथ ही वे ईश्वर को इस जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान नहीं। अतः उनका मत द्वैत मत कहलाता है। आचार्य निम्बार्क जीव और ईश्वर को अव्यक्त रूप में भिन्न मानते हैं और ऐसे आभिन्न। अतः उनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। वल्लभाचार्य सात्वताद्वैत को न मानकर केवल अद्वैत अर्थात् शुद्धाद्वैत मानते हैं।

भारतीय वाङ्मय में सबसे अधिक साहित्य वेदान्त पर लिखा गया है। अद्वैतवादी वेदान्त का प्रारम्भ सीद्धपाद (७०० ई०) की 'भाष्य' कारिकाओं से होता है। तर्कों सती के शुरू में शंकर ने प्रस्थानपत्री (वेदान्त सूत्र, उपनिषद् और गीता) पर अद्वितीय भाष्य लिखा। 'शंकर भाष्य' पर वाचस्पति (सर्वो ज०) ने 'भासती' नाम की एक सुन्दर टीका लिखी। वेदान्त के अन्य ग्रन्थों में श्रीहर्ष (नारदर्वो ज०) का 'खण्डन-वपद-वाच', नित्युक्तार्थ (तिरुहर्वो ज०) की 'तत्त्वदीप्ति', 'विदारण्य स्वामी (चौहर्वो ज०) की 'पञ्चमी', मधुसूदन सरस्वती (सोतहर्वो ज०) की 'अद्वैतसिद्धि', अण्णय दीक्षित (नवहर्वो ज०) का 'सिद्धान्त त्रय-संग्रह' उल्लेखनीय हैं। वैष्णव आचार्यों में रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों पर तथा गीता पर भाष्य लिखा। वेदान्तदीक्षक (चौहर्वो ज०) ने श्री वैष्णव मत सम्बन्धी पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। मध्व तथा वल्लभ ने अपने मत के समर्थक पूर्णग्रन्थ तथा धर्माभाष्य लिखे। समूचे मध्य-युग में वेदान्त पर नवेनवे भाष्य लिखने का काम जारी रहा।

३. सांख्य—सांख्य के मूलभूत विचार काफी प्राचीन हैं और यह द्वैतवादी होने से वेदान्त का प्रबल प्रतिपक्षी रहा है। कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसके अनेक सिद्धान्त बीज रूप से मिलते हैं। सांख्य का मूल ग्रन्थ है—अथर्व वेदादि सं-

मर्यादा माना। यह ईतबादी है। इनके अनुसार प्रकृति और पुरुष ही मूल तत्त्व हैं, इनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। मूल प्रकृति से सृष्टिपुरुषात्ति की प्रक्रिया इसमें बड़े विस्तार से समझाई गई है। प्रकृति सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है; इनमें वैषम्य होने से सृष्टि का आविर्भाव होता है। तीन गुणों का विचार सांख्य की भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी देन है।

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। वे उपनिषत्कालीन हैं, किन्तु इनके नाम से प्रचलित 'सांख्य सूत्र' बहुत ही अर्वाचीन हैं। इसका प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' है। इसका समय बहुत विवाद-पस्त है, प्रायः इसे पहली स० ई० का माना जाता है। यह इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ था कि छठी स० ई० में इसका चीनी में अनुवाद हुआ। इसकी व्याख्याओं में 'माठर वृत्ति' (दूसरी स० ई०), 'गीटपाद भाष्य' तथा वाचस्पति मिश्र (नवीं स०) की 'तत्त्व बोधोदी' उल्लेखनीय हैं। सोलहवीं स० में विज्ञान भिन्न ने सांख्य सूत्रों पर 'सांख्य प्रवचन भाष्य' लिखकर सांख्य और वेदान्त का सामंजस्य किया।

४. योग—'योग दर्शन' सांख्य से सम्बद्ध है। योग का अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरोध। 'योग दर्शन' में इनकी विस्तार से विवेचना की गई है। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। समाधि में डग्टा घटित स्वल्प में अवस्थित होकर कैवल्य या मुक्ति प्राप्त करता है। योग से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'योग दर्शन' के विमुक्तिपाद में इनका विस्तार से वर्णन है। सांख्य से सम्बन्ध होते हुए भी योग ने ईश्वर को माना है, अतः योग को सेवक सांख्य भी कहा जाता है। जो पुरुष सर्वाधिक ज्ञानी क्लेश, कर्म-विपाक (कर्म-फल) से मुक्त है, वही ईश्वर है। योग समाधि और मत के समय की विधियों पर अधिक बल देता है।

भारत में योग का बहुत अधिक महत्त्व होते हुए भी योग पर बहुत कम ग्रन्थ लिखे गए। वर्तमान समय में उपलब्ध योग-सूत्रों के रचयिता पतंजलि (दूसरी स० ई० पू०) माने जाते हैं। इस पर व्यास का प्रसिद्ध भाष्य तीसरी स० ई० में लिखा गया। नवीं स० में वाचस्पति मिश्र ने 'व्यासभाष्य' पर एक टीका लिखी। 'व्यास-भाष्य' के प्रतिरिक्त 'योग-सूत्रों' पर अनेक टीकाएँ बनीं, इनमें राजा भोज-कृत 'राजमार्तण्ड या भोज वृत्ति' विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

५. न्याय—भारतीय दर्शनों में साहित्य की दृष्टि से वेदान्त के बाद न्याय का स्थान सब से ऊँचा है। पाँचवीं स० ई० से न्याय पर भारत में निरन्तर विचार हो रहा है। न्याय के विकास की दो धाराएँ रही हैं। पहली तो सूत्रकार गोतम से आनुपूर्व होती है; उसे प्रमाण, प्रमेय, संनय आदि सोलह पदार्थों के विवेचन पर बल देने से पदार्थ भीमासात्मक अवस्था प्राचीन न्याय की धारा कहते हैं और दूसरी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन करने से प्रमाणभीमात्मक या नय न्यायधारा कहलाती है। इसके प्रवर्तक नर्मद उपान्याय (बारहवीं स०) थे।

‘न्याय दर्शन’ का उद्देश्य प्रमाणादि षोडश पदार्थों का ज्ञान कराना है। मुक्ति ज्ञान से होती है; किन्तु शुद्ध ज्ञान-प्राप्ति के क्या साधन हैं? न्याय ने इनका विस्तार से प्रतिपादन किया है। भारतीय साहित्य को ‘न्याय दर्शन’ को सबसे असूक्ष्म ऐन वास्तवीय विवेचनात्मक पद्धति को है। नैयायिकों ने ज्ञान के साधन—प्रमाणों का विघटन विवेचन किया तथा हेतुवाच्यों (दुषित हेतुओं) का सूक्ष्म बिचरण उपस्थित करके निर्दोष ढंग से तर्क करने की पद्धति का निर्देश किया। किन्तु ‘न्याय दर्शन’ का तत्त्व-ज्ञान उसको तर्क-पद्धति-जैसा द्रष्टव्य नहीं है। उसमें जगत् को वास्तविक तथा आत्मा, परमाणु, मन, आकाश, काल, दिक् आदि अनेक पदार्थ मिल्य माने हैं। उसको दृष्टि बहुत्व-संवलित मधार्थवाद की है। जगत् का समन्वयी कारण परमाणु तथा निर्मित कारण ईश्वर है। न्याय परमाणुवाद में विश्वास करता है। ईश्वर की इच्छा होने पर परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है। एक परमाणु दूसरे से मिलकर द्व्यणु बनता है, तीन द्व्यणुओं से त्र्यणु और इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति होती है। न्याय के अनुसार मुक्ति में सुख-दुःख का अन्त हो जाता है।

‘न्याय दर्शन’ की उत्पत्ति भीमांश के विचार से हुई। वर्तमान न्याय सूत्रों के प्रणेता गौतम (छठी श० ई० पू०) माने जाते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि बौद्धों का उत्तर देने के लिए वात्स्यायन (पहली या दूसरी श० ई०) ने न्याय भाष्य लिखा; इनके बाद उद्योतकर (छठी श०), वाचस्पति मिथ (नवीं शती), जयन्त भट्ट (नवीं श०) तथा उदयनाचार्य (दशम श०) ने क्रमशः ‘न्याय वार्तिक’ को, ‘तात्पर्य टीका’ ‘न्याय मञ्जरी’ तथा ‘न्याय-कुमुदावलि’ द्वारा इस कार्य को पूरा किया। तेरहवीं श० में ‘नव्य न्याय’ के प्रवर्तक मिथिला के गणेश उपाध्याय ने ‘तत्त्व-निन्तामणि’ की रचना की। इसके बाद पाण्डित्य की कसौटी उदयन तथा गणेश के ग्रन्थों की व्याख्या हो रही गई। पहले दो सौ वर्ष तक मिथिला के पण्डित नव्य न्याय का विकास करते रहे। पन्द्रहवीं शती में बंगाल में मध्वीय का विद्यापीठ स्थापित हुआ और अगले दो सौ वर्ष तक यह ‘नव्य न्याय’ का प्रधान केन्द्र रहा। सोलहवीं, सत्रहवीं शतियाँ नव्य न्याय के इतिहास का सुवर्ण युग हैं। इसी समय बंगाल के गुरुन्धर नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि (सोलहवीं श०), मधुरावाच, जगदीश (सत्रहवीं श०) और गदाधर भट्टाचार्य (सत्रहवीं श०) हुए। इनकी टीकाएँ भारतीय पाण्डित्य, प्रखर प्रतिभा और सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। बाल की सामानिकालने में कोई दूसरा दार्शनिक नव्य नैयायिकों को मात नहीं दे सकता।

६. वैशेषिक—वैशेषिक के प्रधान सिद्धान्त न्याय से मिलते हैं। जगत् के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण बहुत्वमिश्रित वास्तववादी है। यह सात पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) और नौ द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) मानता है। इसकी विशेषता ‘विशेष’ नामक पदार्थ की कल्पना है, इसीलिए यह वैशेषिक कहलाता है। पृथ्वी या जल का एक परमाणु दूसरे परमाणु से जिस विशेषता के कारण विभिन्न है, वही विशेष है।

सम्भवतः वैशेषिक ने ही सर्वप्रथम गुष्टमुत्पत्ति की प्रक्रिया स्पष्ट करने के लिए परमाणुवाद के सिद्धान्त का विकास किया। ग्याय ने इसे वैशेषिक में ग्रहण किया।

वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। इनका समय तीसरी श० ई० पू० समझा जाता है। वैशेषिक के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से निष्कर्षण प्रशस्तपाद के 'प्रदीप-धर्म-संग्रह' में है। इसका समय दूसरी श० ई० है। प्रशस्तपाद के ग्रंथ पर व्योमशिकाचार्य (आठवीं श०), उदयताचार्य (दशम श०), श्रीधराचार्य (दशम श०) और बालभाचार्य (बारहवीं श०) ने टीकाएँ लिखीं। आरम्भ में ग्याय वैशेषिक पृथक् थे; किन्तु दशम शती के बाद दोनों सम्मिलन एक हो गए।

भारतीय दर्शन की विशेषता—भारतीय दर्शन का प्रभाव उद्देश्य जगत् को दृश्यमान विविधता में एकता का अन्वेषण है। ग्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और वेदान्त ने इसी को ढँकने का यत्न किया है। इनकी दृष्टि क्रमशः सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर होती गई है। दर्शन का चरम विकास बौद्धवाद में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार गुष्टि के सभी रूप एक ही चक्र से विकसित हुए हैं, जगत् के दृश्यमान बहुत्व और ब्रह्मात्म में ब्रह्मवैयर्थ्य एकता है। भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी सीमा और दोष यही है। शायद यदि संसार अनेकता के भीतर तात्त्विक एकता के सिद्धान्त की मजबूत भाँति हृदयमग्न कर ले तो वह शङ्ख-कर्मों, उदयनकर्मों, तथा प्रत्यक्ष गुरुओं के भीषण त्रास से शाश्वत परिचायक हो सकता है।

मौर्य-सातवाहन-कुशाण-युग (३२२ ई० पू०-२०० ई० लगभग)

राजनीतिक स्थिति—३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के पाटलिपुत्र में राज-विहासन पर बैठने के साथ भारतीय इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ होता है। इस समय मगध में बिरकाल से प्रारम्भ हुई साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। हिन्दूकुल पर्वत से बंगाल की खाड़ी तक पड़ता-एकच्छत्र गार्वभीम शासन स्थापित होता है। लगभग सौ वर्ष तक मौर्य भारत की सर्वोच्च शक्ति बने रहे। किन्तु इसके बाद चलने पाँच सौ वर्ष तक समूचे भारत को एक शासन-सूत्र में पिरोने वाली कोई शक्ति न रही। मौर्यों के बाद मगध में कनक, कापर और श्वान्न बंधों का शासन रहा। उसी भारत पवन, जल, पहलव और कुशाण आदि विदेशी जातियों द्वारा आक्रान्त होता रहा। २१० ई० पू० के लगभग उत्तर में यवन, (यूनानी) और पूर्व में शारसेन और दक्षिण में सातवाहनो के नये राज्य उठ खड़े हुए। १०० ई० पू० तक इनमें होड़ रही, कलिंग के राजा शारसेल का उदय और अस्त उत्का वारे की भाँति अल्पकालिक था, यवनों ने उत्तर पश्चिमी भारत में कापिशी, गुणकरावती, तक्षशिला और वाकल (स्यालकोट) में अपने राज्य स्थापित किये और दो सौ वर्ष तक उनका इस प्रदेश में शासन रहा। सातवाहन वंश की स्थापना २१० ई० पू० के लगभग समुक्त नामक वाह्यप ने महाराष्ट्र में की थी। बाद में आन्ध्र प्रदेश पर अधिकार कर लेने से यह वंश आन्ध्रवंश भी कहलाया। विदेशी आक्रमणों से भारत की रक्षा करने का हमने भरसक प्रयत्न किया। अनेक उत्तार-चढ़ावों में भी यह वंश बार सौ सन्नाह वर्ष तक बना रहा और इस काल में दक्षिण भारत का प्रधान राज्य रहा। उत्तर भारत में १०० ई० पू० से ५० ई० पू० तक यकों की प्रधानता बनी रही। ५० ई० पू० से ३८ ई० तक सातवाहनो का करम उत्कर्ष हुआ, किन्तु इस बीच में उत्तर-पश्चिमी भारत में पहलवों (४५-३ ई० पू०) और फिर कुशाणों की सत्ता स्थापित हो गई। ईस्वी सन् शुरु होने के साथ कुशाणों का साम्राज्य उत्तर भारत में फैलने लगा। इनका शासन पश्चिम के प्रसिद्ध रोमन साम्राज्य का समकालीन था। इसके सबसे प्रतापी राजा कनिष्क (३८-१२० ई०) ने पाटलिपुत्र से मध्य एशिया में चीन की सीमा तक के प्रदेश को जीतकर उसे अपने विद्यात् साम्राज्य का अंग बनाया।

वा १७८-१८० ई० तक उत्तर भारत में कुशाण तथा दक्षिणी भारत में सातवाहन-साम्राज्य की प्रमुखता रही।

भौम-सातवाहन-कुशाण-युग की विशेषताएँ

पहली विशेषता—भौमविजय का श्रोतरोध—राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि इस युग में भारत विदेशी जातियों के आक्रमणों का शिकार रहा, किन्तु सम्प्रतिता के इतिहास की दृष्टि से इस काल की सबसे बड़ी विशेषता विदेशों पर भारतीय संस्कृति का आक्रमण था। जिस समय यवन, शक, कुशाण हून की नदियाँ बहते हुए भारत की विजय कर रहे थे, उस समय भारतीय धर्म-दूत शान्ति पूर्वक उन देशों की धर्म-विजय कर रहे थे। धर्म-विजयों की परिपाटी इस युग में खगोक ने शुरू की थी। उसने न केवल लंका में अपने पुत्र शौर पुत्री को भेजा, अपितु पश्चिमी एशिया, यूरोप और अफ्रीका के पाँच राज्यों में अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे। ईसा की पहली शती में बौद्ध धर्म का संदेश मध्य एशिया और चीन में पहुँचा।

दूसरी विशेषता—भारतीय संस्कृति के प्रचार के साथ इस काल की दूसरी विशेषता विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति और धर्म का अपनाना जाना था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से यवन, शक, पहलव और कुशाण भारत को जीतते थे परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से भारत द्वारा जीत लिए जाते थे। यवन राजाओं में मितान्दर (१६०-१४० ई० पू०) बौद्ध धर्म का परम भक्त था। तक्षशिला के राजा अमृतसिंह के राजदूत हेनियोस द्वारा दूसरी शती ईस्वी पूर्व के मध्य में बेलनगर (विदिशा) में स्थापित किया गया महाद-ध्वज उसके वैष्णव धर्म को आहुतीकार करने का प्रमाण है। नासिक और कार्ली की मुद्राओं में यूनानी धर्मदेव, सिंहध्वज, धर्म और उप आदि के अनेक दान उनके बौद्ध-धर्मावलम्बी होने की सूचना देते हैं। यवनों के बाद इस देश पर शकों का आक्रमण हुआ। विजेता होकर भी वे भारतीय धर्म द्वारा विजित हुए। पश्चिमी भारत के महाक्षत्र महान (लगभग ८२-७७ ई० पू०) का जमाई उपवदात कट्टर हिन्दू था। नासिक के एक मुहामेल से ज्ञात होता है कि उसने तीन लाख गौर्ध तथा सोलह लाख ब्राह्मणों को दान किये थे। पाट ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने धन से कन्यादान किया था और साल-भर तक एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया था। तक्षशिला के शक शासक पतिक के तथा मथुरा के शक क्षत्रिय राजुत (लगभग १०-८५ ई० पू०) की पटरानी के बौद्ध संघाराम और स्तूपों के लिए दान के अभिलेख मिले हैं। सेलकरण के बेटे हरकरण ने, जो सम्भवतः पहलव था—काल में नौ मठों से सुसज्जित गुहा-मन्दिर बौद्ध-भिक्षुओं को दान दिये। कुशाणों का पहला राजा विमकप्प बौद्ध था, उसने २ ई० पू० में अपने दुर्गों के हाथ बौद्ध धर्म की एक पोथी पहले-पहल चीन भेजी। उसका बेटा विमकप्प (शासनकाल ३०-७७ ई०) शमश्रु धर्म था। उसके सिक्कों पर नन्दी के सहारे लड़े हुए शिव पाये गए हैं। उसके उत्तराधिकारी कनिष्क के सिक्कों पर यद्यपि यूनानी, ईरानी और भारतीय

देवता संकित है, तथापि वह बौद्ध धर्म का परम भक्त और प्रबल पोषक था। उसके उत्तराधिकारियों ने वानुदेव प्रथम (लगभग १५०-१८० ई०) शीव था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग के सभी आक्रान्ता भारतीय संस्कृति को ग्रहण करके भारतीय समाज में घुल-मिल गए। मद्यपि विदेशियों के हिन्दू-समाज में बिलीन होने की प्रक्रिया गुप्त युग तक चलती रही, फिर भी मौर्य-सातवाहन-कुशाण युगों में विदेशी जातियों को जितनी बड़ी संख्या में भारतीय समाज में पना लिया गया वैसा सायब बाद में कभी नहीं हुआ।

(तीसरी विशेषता—इस युग की एक अन्य विशेषता वैदिक धर्म का पुनरुत्थान तथा पौराणिक हिन्दू धर्म और महायान संप्रदाय का आविर्भाव था। सम्राट् पशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याभय मिलाने से मौर्य युग में उसकी बड़ी उन्नति हुई थी। लेकिन जब पिछले मौर्य-सम्राट् विदेशी आक्रमणों से देश को रक्षा नहीं कर सके तब उनके द्वारा संरक्षित धर्म के प्रति जनता में प्रतिक्रिया हुई। मौर्यों का स्थान लेने वाले गुप्तों तथा उनके समकालीन सातवाहन वंश के ब्राह्मण राजाओं ने हिन्दू धर्म को प्रबल संरक्षण प्रदान किया। पुराना वैदिक धर्म अपने उसी यज्ञ-प्रधान रूप में तो नहीं लौट सकता था, इसलिए उसने अनेक परिवर्तनों के साथ पौराणिक रूप धारण किया। वैदिक यज्ञों का स्थान अब मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं ने ले लिया। देवता तो वैदिक धर्म में भी थे और अब भी रहे। किन्तु पहले उनकी उपासना यज्ञों द्वारा होती थी, अब उनके मन्दिर बनने लगे और मूर्तियाँ पुरी जाने लगीं। वैदिक देवताओं में इन्द्र प्रधान था। अब विष्णु और शिव को प्रमुखता मिली। यह उस समय का मानवतन्त्र-धर्म था। इसके साथ शैव-धर्म का भी विकास हुआ। ईराज से आये ब्राह्मणों ने सूर्य की पूजा चलाई। इन सब परिवर्तनों का छठे सप्ताथ में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। पौराणिक धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ा। उसमें कुछ एक ऐतिहासिक महापुरुष के स्थान पर प्रमुख देवता बन गए। मधुरा और मांधार में उनकी मूर्तियाँ बनीं, यह समझा जाने लगा कि कुछ कई जन्मों से साधना कर रहे थे, उस समय वे बोधिसत्व थे। अनेक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पौराणिक ढंग से पूजा की जाने लगी। बौद्ध धर्म के इस नये रूप की उसके समर्थकों ने महायान नामों बड़ा मार्ग बतलाया और उसकी तुलना में पुराने बौद्ध धर्म को हीनयान कहा। नागाजुन (१५० ई०) महायान के प्रमुख आचार्य थे। महायान ने अपना सब साहित्य संस्कृत भाषा में कर लिया। कतिपय से महायान को प्रबल राज-संरक्षण मिला। उसने चीनी बौद्ध महासभा बुलाई, 'विभिदक' पर ग्रन्थ लिखवाया। उसका साधान्वय मध्य एशिया तक विस्तृत था, इससे बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

चौथी विशेषता—भारतीयों द्वारा विदेशों में स्तियाँ बसाया जाना और बृहत्तर भारत का सूत्र-पात उनकी चौथी विशेषता थी। पशोक के समय खोतन (चीनी तुकिस्तान) में भारतीय उपनिवेश की नींव पड़ी। भारतीयों ने वहाँ चीनियों

के जाने से पूर्व वर्तमान मारकन्द तटी को सीता नाम दिया था। १०० ई० पू० में शार्व वैरोचन ने वहाँ के पशुपालकों को लिखता लिखाया। इस प्रदेश में भारतीय सम्प्रदाय के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि इसे 'उपरला हिन्द' कहा जाता है। सातवाहनों के उत्कर्ष के समय (५० ई० पू०-३० ई०) में भारतीयों ने दक्षिण पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में अपना राज्य और अपनी संस्कृति स्थापित करके 'परले हिन्द' का निर्माण किया। भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में छोटी-छोटी शक्तों ई० पू० से ही आ रहे थे। ईस्वी पूर्व के शुरु में वर्तमान बीतनाम (फासीसी हिन्द चीन) में कोठार और पाण्डुरंग नाम के दो छोटे भारतीय राज्य थे। मेकांग नदी के तट पर एक तीसरा बड़ा भारतीय राज्य था जिसकी स्थापना कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने की थी। चीनी इस राज्य को फूतान कहते थे। जावा, सुमात्रा में भी प्रायः शैवों ने भारतीय बस्तियाँ बनाईं। १६२ ई० में चम्पा (वनाम) में भारतीयों ने एक राज्य स्थापित किया, जो उस समय से भारत से बर्ष तक किसी प्रकार चलता ही रहा। ईसा की पहली शती में पश्चिम में मंडागास्कर द्वीप में भारतीय बस्तियाँ बनीं। विदेशों में भारतीय बस्तियों की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का सबसे सम्भाव्य में वर्णन किया गया है।

प्राचीन विरोधता—भारत का इस युग में चीन और रोम से सम्बन्ध स्थापित होना तथा उनके साथ विदेशी व्यापार की अनुसृत्य उन्नति और आर्थिक समृद्धि इसकी प्राचीन विशेषता है। चाङ्कियेन की यात्रा द्वारा १२३ ई० पू० में मध्य एशिया के स्वतन्त्र मार्ग की खोज से भारत और चीन के वाणिज्य का नया पथ खुला और इससे चीन का देशम पश्चिमी देशों को इतनी अधिक मात्रा में जाने लगा कि इस मार्ग का नाम ही 'रेडम का मार्ग' पड़ गया। हिल्लानस नामक यूनानी नाविक ने ४५ ई० में मानसून हवाओं की सहायता से पश्चिमी सरग सागर को पेंतालीस दिन में सीधा पार करने का आविष्कार करके रोम और भारत के रास्ते को बहुत सुगम बना दिया। इससे भारत और रोम व्यापार बढ़ा। भारतीय मलमल, मसालों, बहुमूल्य मणियों और सुगन्धित द्रव्यों की दूसरे देशों में इतनी अधिक माँग थी कि विदेशी व्यापार का पसंदा सदा हमारी ओर भुका रहता था। दूसरे देश इनका काम नमाने के लिए हमें प्रसन्न मात्रा में सोना-चाँदी भेजते थे। पहली शती ई० में (क्रिस्त-काल में) दूसरे देशों का सोना भारत की ओर बहने लगा था और यह प्रवाह लगभग १,३०० बरस मुगल-काल तक भारत की ओर ही बहता रहा। बनिफक के समकालीन प्लिनी तथा औरगेवस के समय बनिफर तक विदेशियों की इस बात की बड़ी शिकायत रही है कि सब देशों का सोना भारत की ओर लिखा जाता रहा है। प्राचीन काल में भारतवर्ष की समृद्धि का एक प्रधान कारण अनुकूल व्यापार द्वारा यहाँ विदेशों से आने-वाला सोना था और इसकी शुरुआत कुशान युग में हुई।

छठी, सातवीं, आठवीं और नवीं विशेषता—इन युग की छठी विशेषता मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं की उन्नति थी। सम्राट् अशोक के स्तम्भ तथा उन पर बनी सुन्दर पशु मूर्तियाँ, भारहुत और साँची के स्तूप इसके सुन्दर उदाहरण हैं। पहली श० ई० के लगभग बुद्ध की मानवीय मूर्ति पहली बार बनी और गान्धार शैली का विकास हुआ। संस्कृत-साहित्य के काव्य और नाटकों का प्रारम्भ तथा वर्तमान रूप में मिलने वाली मनुस्मृति, रामायण और महाभारत का निर्माण सातवीं विशेषता है। आठवीं विशेषता सुसंगठित साम्राज्य का विकास और नवीं भारतीय संस्कृति का ग्रीक, रोम आदि विदेशी प्रभावों से समृद्ध होना है। इस युग के धर्म, कला, सांस्कृतिक प्रसार और शासन-प्रणालियों पर काव्य ग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है, यतः यहाँ पर सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक जीवन पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक स्थिति

वर्णाश्रम पद्धति—हिन्दू समाज में वर्गों और आश्रम का विचार पिछले वैदिक युग में उत्पन्न हो चुका था। शास्त्रकारों ने समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र नामक चार वर्गों में बाँटा था। किन्तु, यह वर्ग-भेद शास्त्रकारों का आदर्श-मान था और इसने वर्तमान जन्ममूलक जाति-पात का रूप धारण नहीं किया था। यह बात उस काल के विदेशी यात्रियों के वर्णनों और तत्कालीन धर्मग्रन्थों से सूचित होती है। मेगास्थनीज के कथनानुसार सौर्य युग का भारतीय समाज निम्न सात वर्गों में विभक्त था :

(१) धार्मिक—ये संख्या की दृष्टि से बहुत कम थे, लेकिन इन्हें बहुत मान दिया जाता था। इनका काम सार्वजनिक और वैयक्तिक यज्ञ कराना होता था। ये सब प्रकार के कष्टों से मुक्त थे। (२) कुषक—अधिकारा जमा करने वाली श्रेणी थी और मुद्रों में कोई भाग न लेती थी। (३) पशु-पालक और चिकित्सी। (४) व्यापारी, धिक्करी और नाविक। (५) थोड़ा—ये लड़ाई के क्षतिग्रस्त कोई धर्म काम न करते थे और राज्य की ओर से शान्ति-काल में नियमित वेतन पाते थे। (६) सरकारी मूलचर तथा (७) राजा की परिषद् के सदस्य। यह स्पष्ट है कि मेगास्थनीज का यह वर्गीकरण येशे की दृष्टि से अर्थात् कर्म-मूलक है, जन्म-मूलक नहीं। इसी प्रकार अशोक ने अपने धर्मग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (गृहपति), शूद्रक (मजदूर) और दास नामक वर्गों का उल्लेख किया है, जो येशे की दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्ग थे। सौर्य युग के अंत में तथा सातवाहन युग में मजदूर, शूद्र, पहलवान और कुशाण जातियों के भारत पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे, इनसे वर्ग-संकरता की समाप्ति थी। इस संकट-काल में जातीय शुद्धता की रक्षा के लिए कुछ आवश्यक सामग्री यदि जितने ऋषि में जाति-पात का भेद उत्पन्न हो गया। किन्तु इस समय तक इन नियमों में कठोरता नहीं आई थी। अगर उस समय भी आज की तरह कठोरता होती तो विदेशी जातियों हिन्दू-समाज का धर्म न बन पाती। अधिक-से-अधिक केवल

इतना ही कहा जा सकता है कि समाज के विभिन्न वर्गों में अपने को जाति मानने का विचार पहले से अधिक जम रहा था।

जात-पात में पेशे, खान-पान और विवाह के विचार प्रधान हैं। इन दृष्टियों में उस समय वर्तमान रूप में जात-पात की उत्पत्ति नहीं हुई थी। मनुस्मृति में चारों वर्गों के विभिन्न पेशे और कार्य बताये गए हैं, किन्तु इसी स्मृति से यह जात होता है कि वे आदर्श-मात्र थे। उस समय यद्यपि ब्राह्मणों का प्रधान कार्य पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना था, तथापि ऐसे ब्राह्मणों की भी कमी नहीं थी जो चिकित्सा, ज्योतिष्य व बुद्ध-शिक्षण का कुत्ते और बाज पालने (मनु ३।१६४) और भूदे होने (मनु ३।१६५) तक का काम करते थे। इन सब ब्राह्मणों को मनु ने 'अपाङ्क्य' अर्थात् खाद्य आदि में जुलाने जाने वाले ब्राह्मणों की पंक्ति में न बैठने योग्य बताया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति पात से बाहर होने पर धर्म-धर्म: अपनी ब्राह्मण जाति भी छो बैठते थे, क्योंकि कोई उच्च ब्राह्मण उन्हें अपनी तरहकी देने को तैयार न होता था। रोटी या खान-पान के सम्बन्ध में भी इस युग में जात-पात का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। बाण्डाल आदि बहुत नीची समझी जाने वाली जातियों के साथ खान-पान का परहेज तो महाजनपद युग से ही चल पड़ा था। वह इस युग में भी बना रहा। पंतजलि के महाभाष्य से यह प्रतीत होता है कि कुछ शुद्र जाति वालों के वर्तनों में ब्राह्मण भोजन नहीं करते थे, और न उन्हें अपने वर्तनों में सितारते थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि शकों और सक्नों की गिनती इन शुद्रों में नहीं थी। इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि धायों में परस्पर एक दूसरे के हाथ का भोजन न करने की बात उस युग में नहीं थी। यही स्थिति अपनी जात में विवाह करने के सम्बन्ध में भी थी। मनु तथा अन्य शास्त्रकारों की यह प्रबल इच्छा थी कि विवाह अपने वर्गों में ही हो, किन्तु असंख्य विवाह उस समय समाज में काफी प्रचलित थे। ब्राह्मणों और शुद्रों में भी परस्पर काफी विवाह-सम्बन्ध होते थे। मनु की ब्राह्मण-जातियों का घ्राणों के साथ विवाह बहुत नापसन्द था (मनु ३।१४) अनुलोम (ऊँचे वर्ण के पुरुष का निचले वर्ण की स्त्री के साथ) तथा प्रतिलोम (निचले वर्ण के पुरुष का ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे, यद्यपि प्रतिलोम-विवाह अधिक पुरा समझा जाता था। मात्रातन्त्र के समय तक जात के विचार में इस हद तक गरिबता था गई कि वह द्विजातियों की शुद्रों से विवाह का विलकुल निषेध करता है (पात्र० १।२६)। लेकिन यह उसका मत ही था। समाज में दूसरा पक्ष मानने वालों की कमी न थी।

सातवाहन युग के अभिलेखों से भी यही जात होता है कि प्रजा उस समय व्यवसायों की दृष्टि से कई भागों में बँटी हुई थी। सबसे उच्च श्रेणी में 'महारथी', 'महामात्र', 'महासेनापति' आदि उपाधियाँ धारण करने वाले जिलों के शासक सरदार थे। दूसरे वर्ग में राज्य के पदाधिकारी अमात्य, महामात्य, भाण्डागारिक (कोषा-

व्यस) व श्रेष्ठों (सेठ) सम्मिलित थे। तीसरे वर्ग में लेखक, वैद्य, कृषक, मुखर्णकार और ग्राहिक (मुगन्धित-द्रव्यों के व्यापारी) थे और चौथे वर्ग में बड़रे, माली, लुहार, मछूए आदि थे।

भारत में इस समय अनेक विदेशी जातियाँ आ रही थीं। इन्हें चातुर्वर्ण्य में कहाँ स्थापित किया जाय यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न था। मनु ने इसका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए कहा कि कम्बोज, शक, पवन और पहलव आदि जातियाँ श्रविय थीं। किन्तु धर्म कियार्थों के न करने और ब्राह्मणों का दर्शन न मिलने से वृषत (शूद्र) बन गई (मनु १०।४३-४४)। प्रसिद्ध सातवाहन राजा गोतमी पुत्र सातकर्णों (७६-४४ ई० पू०) की माता ने बड़े अभिमान से अपने पुत्र के लिए यह लिखा था कि वह "शर्कों, यकनों व पहलवों का अन्त करने वाला तथा चातुर्वर्ण्य के संकट को रोकने वाला है।" किन्तु उसी समय स्वयं सातवाहनों ने शक-कन्याओं से विवाह करके संकरता उत्पन्न की। वस्तुतः उस समय वर्ण-व्यवस्था के नियम इतने कठोर नहीं थे। यह बात इसी से स्पष्ट है कि शूद्रों और सातवाहनों ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र-धर्म का पालन किया।

वर्णों की जाति चार आश्रमों के विचार पर भी शास्त्रकारों ने बल दिया। बुनानी लेखकों ने फल-मूल पर निर्वाह करने वाले वल्कल-बारी घरण्यवासी सामुर्थों का वर्णन किया है। ये वानप्रस्थ प्रतीत होते हैं। बौद्धों ने निम्न जीवन को इतना व्यापक बना दिया था कि समाज को इससे हानि पहुँचने लगी थी। संन्यासी बनने का अर्थ था सामाजिक कर्तव्यों को छोड़कर भागना। महाभारत (शान्ति पर्व २५७, १०।१७, २१, २७, ११।१, २) में भिक्षुपन की निन्दा उड़ाई गई है। मनु ने गृहस्थाश्रम की बड़ी महिमा गाई है (३।७७)। यह भी उल्लेखनीय है कि मनु और राजवाल्क्य दोनों भिक्षुओं को दूषित करने को तुच्छ अपराध मानते थे, क्योंकि उन्हें स्त्रियों का प्रव्रज्जा लेना पसन्द नहीं था।

स्त्रियों की स्थिति — पांडित्योय अर्धशास्त्र से ज्ञात होता है कि सौर्य युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। दाय में उन्हें पूरा अधिकार था। कुछ अवस्थाओं में वे तलाक दे सकती थीं और पुनर्विवाह कर सकती थीं। गान्धर्व (परस्पर प्रेम से हुए) विवाहों में परस्पर प्रेम होने पर तलाक दिया जा सकता था (परस्पर द्वेषान्मोक्षः)। पति के विदेश जाने तथा निश्चित समय तक न लौटने पर स्त्रियाँ दूसरा विवाह कर सकती थीं। विधवाओं को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार था। पति यदि स्त्री को तीन बार से अधिक पीटे तो स्त्री उसके विरुद्ध अदालत में अभियोग चला सकती थी। निर्धोश की पद्धति भी प्रचलित थी।

सातवाहन युग में मनु स्मृति ने निम्नी व्यवस्थाओं में कुछ परिष्कार किया। सौर्य युग तक विवाह एक ठहराव-भाज था, उसमें तलाक हो सकता था। मनु ने उसे पवित्र संस्कार द्वारा अविच्छेद्य बनाया, निर्धोश तथा विधवा-विवाह का निर्धिष किया।

महापि उसने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अधिकारी नहीं समझा फिर भी उनकी प्रशंसा अवश्य की है—“वहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता बसते हैं।”

वैदिक युग की भाँति स्त्रियाँ पतियों के साथ घमं-कर्म में भाग लेती थीं, यह अथोक की पत्नी कादवाकी के आचरण से सूचित होता है। अथरोध (हरम) तथा बहु-विवाह की परिभाषी राज-परिवारों में प्रचलित थीं। यूनानी लेखकों के अनुसार कुछ स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचारी भी रहकर दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करती थीं। अतः यह स्पष्ट है कि इस युग में भी गाम्भीर्य-मैत्री-जैसी विपुली स्त्रियाँ होती थीं।

दास-प्रथा—यद्यपि मेगास्थनीज के आधार पर एरियन ने लिखा है कि उन्नीसवें समय भारत में दास-प्रथा नहीं थी, तथापि शिलालेखों तथा धर्मशास्त्रों से इस प्रथा का प्रचलन सूचित होता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि यूनान में जिस बड़े पैमाने पर दास-प्रथा प्रचलित थी और उनके साथ जैसा दुर्व्यवहार होता था वह भारत में न था। प्रजातन्त्र-पद्धति के अधीन एथेन्स ने कुछ ३५ हजार स्वतन्त्र और ३ लाख दास थे अर्थात् प्रति स्वतन्त्र व्यक्ति के पीछे तेरह दास थे। दासों की दशा, जो कि कुल प्रजा के ६२.१% थे, पशुधों से भी बदतर थी, वहाँ सेती उन्हीं के द्वारा की जाती थी; भारत में दास केवल घरेलू काम के लिए थे। उनके साथ इतना अच्छा व्यवहार होता था कि मेगास्थनीज को यह भ्रम हो गया कि भारत में दास-प्रथा नहीं है। कोटिस्थ की व्यवस्थाओं से प्रभावित होता है कि उस समय भारतीय समाज में जो कोई बहुत दास थे उन्हें भी वह (कोटिस्थ) मुक्ति दिलाना चाहता था। “आप्यं व्यक्तिं दासं बनाया ॥ नहीं जा सकता था। न स्वेवायंस् दासभावः।” जो बनाये दास बनाये जाते थे उन्हें भी आप्यं बनाना और उनके साथ दुर्व्यवहार न होने देना कौटिल्य का पक्ष था। परोहर स्वे दास से मुर्दा, पाषाणां, पेशाव या जूटन उठवाना, उसे नंगा रखना या मारना, दासियों का सतीत्व हरण, दासों की स्वतन्त्र होने का अधिकार दे देना था। अथोक ने अपने शिलालेखों में बार-बार दासों से सव्यवहार करने की हिदायत की है।

शरिप और आचार—यूनानी लेखकों ने भारतीयों के शरिप की मुस्तकट से प्रशंसा की है। उनके वर्णनानुसार भारतीय सत्यवादी होते थे। “कभी किसी व्यक्ति पर झूठ बोलने के लिए मुकद्दमा नहीं चलाया गया।” चोरी नहीं होती थी। यशों के अतिरिक्त कभी सुराभान नहीं होता था। उस समय के कानून बहुत सरल थे। लोग एक दूसरे का निष्ठा करते थे। परोहर आदि बगैर मुहरबंदी और सवाह के रखा जाती थी और इस सम्बन्ध में मुकद्दमायाही नहीं होती थी। मकालों पर ताब नहीं लगाये जाते थे, यूनानी लेखकों का यह वर्णन बहुत कुछ सत्य होते हुए भी अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है।

जान-पान और सामोद-प्रमोद—सत्राट् अथोक ने जान-पान के लिए की जाने वाली कुरता और रिसा की बंद कराया। “पहुँते देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी

घशोक के रसोई घर में मृग (शोरबे) के लिए प्रतिदिन सैकड़ों प्राणी मारे जाते थे । पर अब, जब यह धर्म-लिपि लिखी गई है, केवल तीन प्राणी—दो मार और एक मृग मारे जाते हैं । वह मृग भी सदा नहीं । आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे ।" मनु तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में अनेक प्रकार के मांस अभिषेक कहे गए हैं ।

मौर्य युग का प्रधान धार्मिक 'समाज' प्रतीत होता है । प्राचीन काल में समाज का अर्थ था—पशुओं या रथों की दौड़ । (सम्-भङ्—इच्छा हाँकना) । जहाँ पशु इस प्रकार दौड़ाये या सड़ाये जाते थे और उन पर बाजी लगाई जाती थी उसे समाज कहते थे । बाद में वे रथधूमिर्मा या प्रेक्षानगर, जहाँ नाटक दिखाये जाते थे, समाज कहे जाने लगे । घशोक ने धार्मिक दृष्टि दिखलाकर प्रजा में धर्म-वृद्धि का यत्न किया और इसके अतिरिक्त पशुओं की दौड़, सड़ाई तथा हिंसा वाले समाजों को बंद करने की कोशिश की । हिन्दु अपनी लोक-प्रियता के कारण 'समाज' दन्द नहीं हो सके । मनु ने समाज का उल्लेख समाह्वय नाम से किया है, वह इसे तथा जुग को एकदम बंद करने का आदेश देता है । जुभा वैदिक जुग से भारतीयों का एक प्रिय धर्मोपनाम था । उसका बंद होना अत्यन्त सम्भवतः राजकीय नियन्त्रण में करके उसे राज्य की भाँति सील बनाता है । तीसरा मनोरञ्जन नाटक, नृत्य, गायन और वादन था । पर्वजति ने कंस-वध आदि नाटकों तथा शौनिक तथा शौभनिक आदि नटों का उल्लेख किया है । शीघ्र के कुछ रूप उस समय तक प्रचलित हो चुके थे । काम-सूत्र से यह ज्ञात होता है कि उस समय कटेरबाजी, मेड़ेबाजी, मुष की सड़ाई ('लावमेधक-कुक्कुट मुड') और उद्यान-क्रीड़ाओं का रुब रिमाज था ।

कृषि—यूनानी लेखकों ने साधारण जनता को कृषक, पशु-पालक, शिकारी, व्यापारी और शिल्पी नामक वर्गों में बाँटा है । इनमें अधिक संख्या कृषकों की थी । मौर्य युग में इसकी स्थिति इस दृष्टि से अच्छी प्रतीत होती है कि युद्धों में इनसे न तो अनिवार्य सैनिक सेवा कराई जाती थी और न ही इनके सैन्यों की किसी प्रकार की हानि पहुँचाई जाती थी । भीषण युद्धों के समय भी किसान शान्तिपूर्वक हल चलाते रहते थे । उन्हें अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा दानि अर्पित कर के रूप में राजा को देना पड़ता था । आवश्यकता पड़ने पर राजा उनसे अनेक प्रकार के दण्ड (नजराने) खबरेस्तो लेता था । कुछ प्रदेशों में किसानों से वेमार (विट्टि) प्रणय (मजदुराना) तथा अन्य कई प्रकार के कर लेने की परिपाटी थी । पश्चिमी भारत के शक शासक रुद्रामा ने १५० ई० पू० में गिरनार में सुदर्शन शील की भस्मस्त कराते हुए उस बात पर अभिमान प्रकट किया था कि यह कार्य उसने प्रजा से विट्टि या प्रणय लिए बिना ही पूरा कराया है । धनिकृष्टि, अनागृष्टि व टिट्टो उस से कई बार उसने कराव होती थी । अर्धशासन में ऐसे व्यक्तियों पर राज्य की ओर से सहायता देने की व्यवस्था है । यूनानी लेखकों के वर्णनानुसार दार्शनिक वर्ग के प्रारम्भ में ही अपने पास एक बड़ा जनता को धाने वाली सूखे तथा पीसने वाली बीमारियों की सूचना दे दिख कर रहे थे ।

व्यापार—ईसा की पहली शतियों में भारत का व्यापार सीरिया, मिस्र, रोम, जंझा, पहले हिन्द और चीन से बढ़ा। सीरिया के राजाओं से मौर्य-सम्राटों का मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध था, जहाँ की शराब और खंवीरें भारत में पसन्द की जाती थीं। टालमी राजाओं के समय कई बार स्वेज नहर काजू हो जाती थी और भारतीय व्यापारी मिस्र तक व्यापार करने पहुँचते थे। रक्त-सागर और नील नदी के बीच के पुराने व्यापारिक मार्ग पर शोभन (सोफोन) नामक भारतीय का एक यूनानी लेख मिलता है। दूसरी श० ई० पू० में भारतीय व्यापारी जल-मार्ग से सीधा सिकन्दरिया तक पहुँचते गये थे। टालमी एवंगेस्त द्वितीय (१४६-११७ ई० पू०) के समय रक्त-सागर तट के सरकारी कर्मचारी सिकन्दरिया में एक भारतीय को लाये, जिसे उन्होंने अपने एक नाव में भुले-न्यासे बहते पाया था। यूनानी भाषा का ज्ञान होने पर उसने बताया कि भारतवर्ष से एक जहाज में जलने के बाद समुद्र में रास्ता भूल जाने से उसका जहाज महीनों भटकता रहा और उसके सब साथी भूख से मर गए। एवंगेस्त ने एबुदोक्स नामक साहसी यूनानी के साथ उसे भारत भेजा और वह यहाँ से बहुत सस्ते और रत्न से भरा। दूसरी श० ई० पू० में मध्य एशिया में जातियों की उथल-पुथल तथा सीरिया में अस्थिर रहने के कारण फारस की खाड़ी से जाने वाला स्थल-मार्ग अमुरक्षित हो गया और भारतीय वाणिज्य मिस्र के साथ बढ़ने लगा। कई बार भारतीय व्यापारी इससे घरे जा पहुँचते थे। १०० ई० पू० में एक हिन्दुस्तानी सौदागर का जहाज तूफान में बहता हुआ जर्मनी के तट पर जा लगा था।

इस युग में मध्य एशिया के स्थलमार्ग से चीन के साथ तथा सीधे जलमार्ग द्वारा रोम के साथ भारत का व्यापारिक सम्पर्क होना बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। चीन के साथ होने वाले व्यापारिक सम्पर्क की घटना बड़ी मनोरंजक है। १३८ ई० में चीनी सम्राट ने हणों के विरुद्ध सहायता पाने के लिए जाङ्गकिपेन की वृद्धियों के पास भेजा; १० वर्ष हणों की कैंप काटने के बाद अब वह उनकी राजधानी वलस में पहुँचा (१२७ ई० पू०) तो उसे वहाँ के बाजारों में चीनी रेशम विकते हुए देखकर आश्चर्य हुआ, उसे यह ज्ञात हुआ कि यह शिन्धु (सिन्धु=भारत) से आता है। उस समय तक भारत और चीन का सम्पर्क आसाम के दुर्गम मार्ग से था। अब उसने यह ज्ञात रास्ता पता लगाया और इसके बाद मध्य एशिया के मार्ग से पश्चिमी-जगत् की इतना रेशम जाने लगा कि उसे रेशम का रास्ता कहा जाने लगा। रोम के साथ सीधे जमीन मार्ग का सम्बन्ध एक यूनानी ताकि हिप्पलास ने ४५ ई० में मानसून हवाओं के नियमित रूप से बहने का पता लगाकर किया। पहले जहाज समुद्र-तट के साथ-साथ चलते थे। अब वे मानसून हवाओं के सहारे पश्चिमी (शरद) सागर को सीधा पार करने लगे। इससे रोम के साथ भारत के वाणिज्य में अभूतपूर्व उन्नति हुई, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण भारत में रोमन सम्राटों की मुद्राओं का बहुत अधिक परिमाण में पाया जाना है।

निर्यात-आयात—भारत उन दिनों समुद्र के रास्ते हाथी-दाँत का सामान, कई प्रकार के गन्ध, मोती, वैदूर्य आदि रत्न, काली-मिर्च, लीम आदि मसाले सूती और रेशमी कपड़ों का निर्यात करता था। रोम में सबसे अधिक माँग काली मिर्चों की थी जो वहाँ पहली शताब्दी में दो अश्वशौ की एक सेर बिकती थी। रोमन सुन्दरियों को भारतीय मलमल पहनने का बड़ा चाव था। पैडोनी नामक रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों को पैडोनी की सिफारिश करते हुए लिखा है कि वे "सुनी हुई हवा के जाले पहनकर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं।" ७७ ई० में प्लीनी ने यह रोना रोया था कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है और उसके द्वारा भारत रोमन साम्राज्य से हर साल साढ़े पाँच करोड़ सेस्टर्स का सोना लौट जाता है और यह कीमत हमें अपनी क्लामिता और अपनी स्त्रियों के फैशन के लिए देनी पड़ती है। उपर्युक्त वस्तुओं के बदले में भारत में उन दिनों शराब, चांदी के बर्तन, गाने वाले नर्तक, राजकीय अन्तःपुरों के लिए रूपवती दासियाँ आया करती थीं। भारत में मँगया जाने वाला सामान कम था, अतः वैदेशिक व्यापार की अनुकूलता के कारण भारत में दूसरे देशों का सोना बहा चला आ रहा था। कुशाणों के भारत में पहली बार व्यापक रूप से स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन शुरू हुआ और रोम से आने वाले सोने के कारण ही प्रभुत मात्रा में बढ़ा। कुशाण सिक्के रोमन सिक्कों के आदर्श पर ही बनाये गए थे।

उद्योग—वाणिज्य की उपर्युक्त उन्नति में भारतीय शिल्पियों और कारीगरों के इसी कौशल ने बहुत साध दिया। इस समय का सबसे प्रसिद्ध उद्योग वस्त्र-व्यवसाय का था। स्ट्रैबो ने यही व्यक्तियों द्वारा बड़िया मलमल पहनने का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र से यह बात होता है कि कपान के बड़िया कपड़े उस समय दक्षिणी मयूरा, अवरान्त कलिंग, काशी, बंग, बला और माहिषमती में बनते थे। पहली श० ई० पू० में मेरिप्स के कवचानुसार सबसे बड़िया मलमल गंगा की घाटी में, साफ के अनुसार बाका के आस-पास बनती थी। विचनोपल्ली, तंजौर और मछलीपट्टम में भी अच्छी मलमल बनती थी। राज्य की कारीगरों की रक्षा का इतना ध्यान था कि शिल्पियों का हाथ काटने वालों के लिए कौटिल्य ने मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की है। उस समय कारीगर अपनी उन्नति के लिए सामूहिक संगठन बनाते थे जो श्रेणि कहलाते थे। इस समय के अभिलेखों के अनुसार तेली, कुम्हार, मन्नी, बुलाहे, धन्य बेचने वाले, पीतल के बर्तन बनाने वाले, व्यापार करने वाले (सार्पवाह) श्रेणियों में संगठित थे। श्रेणियाँ वर्तमान काल के बड़े बैंकों का काम करती थीं। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध शक क्षत्रप महामान (लगभग २२-७७ ई० पू०) के जमाई अश्वदात ने नासिक के बौद्ध भिक्षुओं के लिए कई हजार का दान किया। यह राशि उसने बुलाहों की दो श्रेणियों के पास कभी न लौटने वाली धरोहर (प्रशयनीवी) के रूप में रख दी ताकि उससे उन भिक्षुओं की हर साल कपड़े (चोवर) मिलते रहें। इसी प्रकार एक अन्य लेख में शक उपसिंहा विष्णुदत्ता ने भिक्षुसंघ की दवा-दारु के लिए एक कमी न

लौटने वाली शरीहर का दान दिया। राज-परिवार के व्यक्तियों द्वारा दुबारा की श्रेणियों को ऐसे दान देना इनकी ऊँची हैसियत के सूचक है।

उस समय के शिल्प और वाणिज्य की उन्नति का परिणाम भारतवर्ष की समुद्रपार सृष्टि की। मौर्ययुग में पाटलीपुत्र न केवल उस समय संसार का सबसे बड़ा शहर था, किन्तु समूचे प्राचीन जगत में कोई दूसरा शहर उसकी तुलना में नहीं ठहर सकता था। पूनान का पनान नगर एवेन्स ४३० ई० पू० तथा रोम २७ ई० पू० से १७ ई० तक अपनी अधिकतम सृष्टि के समय पाटलीपुत्र का चौथा हिस्सा-मात्र थे।

साहित्य

मौर्ययुग की सबसे प्रसिद्ध साहित्यिक रचना चन्द्रगुप्त के संघों कीटिल्य का 'धर्मशास्त्र' है। यह तत्कालीन राज्य एवं शासन-सम्बन्धी ज्ञान के लिए एक बड़ी बात सिद्ध हुआ है। पार्श्वल महाभाष्य से ज्ञात होता है कि उस समय घनेक शास्त्राचार (पनाति, असकदता आदि की कथाएँ), आरुणाधिकार (कथाएँ), इतिहास, पुराण, काव्य, कंस-वध, वालि-वध, आदि नाटक प्रचलित थे, किन्तु इस समय ये उपलब्ध नहीं होते।

साप्ताहिक युग साहित्यिक दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखता है, क्योंकि इसके पूर्व ज्ञान—सृष्टिकाल में हिन्दू धर्म के आधारभूत ग्रन्थ मनुस्मृति और महाभारत का वर्तमान रूप तथा पालिनीय व्याकरणों पर महर्षि पतंजलि का सुप्रसिद्ध 'महाभाष्य' लिखा गया। पतंजलि युगप्रसिद्ध सृष्टि के समकालीन थे और उन्होंने उसका ध्वन्यमेष प्रकाशित किया था। धर्मशास्त्र के सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' की रचना श्री ज्ञानसवाल की के मतानुसार सुनति भाष्य ने १५०-१२० ई० पू० के बीच में की। बाद में 'मातृपञ्चन-स्मृति' का निर्माण हुआ। इसमें धर्म और व्यवहार (कानून) का पृथक्-पृथक् तथा संक्षेप में बहुत सुन्दर प्रतिपादन है।

'महाभारत' और 'रामायण' के वर्तमान रूप में यवन, कम्बोज आदि विदेशी जातियों का उत्प्रेषण तथा तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन होने से ये इसी युग के माने जाते हैं। संस्कृति में काव्य और नाटक साहित्य का अधिकारित इसी युग में हुआ। कालिदास के समकालीन परम्परा ने बौद्धधर्म की शिक्षाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द' नामक जो काव्य लिखे हैं वे कालिदास के काव्यों की उत्पत्ति के हैं। यदि कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन माना जाय तो उसकी रचनाएँ भी इसी युग की होंगी, किन्तु अधिकतर विद्वान् उसे गुप्त काल में रूपा समझते हैं। संस्कृत का सुप्रसिद्ध नाटककार भास भी इसी युग में हुआ। अरकाशेष ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए 'धार्मिक प्रकरण' नामक नाटक की रचना की थी, इसके कुछ पन्ने ही मज्ज एहिमा में सुकृति से पाए गए हैं। सूत्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक भी, जो तत्कालीन समाज का व्यापक चित्र उपस्थित करने की दृष्टि से संस्कृत नाटकों

में प्राद्वितीय स्थान रखता है, कुछ विद्वानों के मतानुसार १५० ई० पू० से २०० ई० के बीच में लिखा गया। वास्तव्यन का 'काम-सूत्र' काम-शास्त्र का अभूतपूर्व ग्रन्थ है, यह तीसरी शती ई० में लिखा गया।

काव्यों तथा नाटकों के प्रतिरिक्त इस समय संस्कृत के कुछ नये व्याकरण और कोश भी बने। पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत का पूर्ण शास्त्रीय व्याकरण होने के साथ-साथ बड़ी दुरुह और कठिन थी। साधारण जनता को एक सरल और सुबोध व्याकरण की आवश्यकता थी। यह सर्वत्रमी के 'कात्तन्' व्याकरण ने पूरी की। यह व्याकरण इतना लोकप्रिय हुआ कि मध्य एशिया से जाति तक बृहत्तर भारत में प्रीष्ठ हो इसका प्रसार हो गया। विदेही इसी की महाप्रता से संस्कृत सीखते थे। इसी के प्रारम्भ पर 'कामाधन' का 'पाणि व्याकरण' और तामित का प्रसिद्ध व्याकरण 'तोल्ल-प्रियम' बना। संस्कृत का प्रसिद्ध 'धर्मकोश' बौद्ध धर्मरसिह ने पहली शती ई० में लिखा।

ध्यागुर्वेद में 'चरक' और 'सुभुत' भी इसी युग में लिखे गए। चरक बीसो अनुभूति के अनुसार कनिष्क का राजवेष्ट था। इसने धार्मिक पुनर्वसु के प्रथम का समा संस्करण किया था। किन्तु धावकल हमें जो चरक-संहिता मिलती है, यह पृथ्वन पंचनद (पञ्चमी) द्वारा चरक का पुनः संस्करण है। इसमें उसने सुभुत का मध्य-किया-सम्बन्धी ज्ञान भी सम्मिलित कर दिया है। सुभुत चरक के कुछ पीछे हुआ। यह धन्वन्तरि का शिष्य था। वर्तमान सुभुत नामानुन (१५० ई०) द्वारा सम्पादित संस्करण है। नामानुन बिरजल प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। उसने संकेवल सुभुत का सम्पादन किया, किन्तु पारे के योग बनाकर ध्यागुर्वेद में रसायन धीर्धर्मों का प्रयोग प्रारम्भ करके कीमिवाधायक को जन्म दिया। सोहसास्त्र तथा जलन-विज्ञान-विषय आदि के शास्त्र लिखे और महावान सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार-धारा को जन्म दिया। इसी युग में पतंजलि ने एक सौह-शास्त्र लिखा, किन्तु यह निश्चित नहीं कि महावाग्यकार तथा सोहसास्त्रकार पतंजलि एक ही हैं। ज्योतिष में इस युग की प्रसिद्ध रचना 'पर्व संहिता' है, जिसमें जवन, शक, धाकमणों की घटनाओं का उच समय होने वाली बातों के ज्ञ में वर्णन है।

इस काल में महावान सम्प्रदाय ने पाणि के स्थान पर संस्कृत में साहित्य-रचना शुरू की। शुरू में यह जित संस्कृत में है वह पाणिनीय नियमों का पूरा पालन नहीं करती; उसे मिश्रित संस्कृत कहा जाता है। इसमें महावागिनों के प्रतिरिक्त हीनजाती सर्वोन्तिवादियों का भी साहित्य है। इस प्रकार का संघर्ष प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' है। तथापि यह वैशाली महाप्रता के बाद बौद्ध-संघ से प्रकट हुए बौद्ध महावागिनों की एक शाखा है, जिसे लोकोत्तर पाणियों का विनय कहा जाता है, किन्तु इसमें निम्नो के धाचार से सम्बद्ध बातें बहुत कम हैं। अधिकांश में बुद्ध और बोधिसत्व की कथाएँ हैं। बुद्ध की कुछ स्तुतिपत्र पौराणिक स्तोत्रों से मिलती हैं।

महायान सम्प्रदाय के इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सद्धर्म-गुण्डरीक', 'अमिताभसूत्र', 'प्रज्ञापारमिता' और 'अवदानमत्तक' हैं। पहले दो में बुद्ध का देवाधिदेव रूप में चमत्कारिक वर्णन है। 'प्रज्ञापारमिता' में बोधिसत्व द्वारा प्राप्ति की जाने वाली ज्ञापारमिताओं का वर्णन है। प्रज्ञा का अभिप्राय शून्यवाद की अनुभूति होना है। यह ग्रंथ एक लाख, पच्चीस हजार, दस हजार और आठ हजार श्लोकों के चार रूपों में मिलता है और क्रमशः शत, पंचविंशति, दश तथा अष्ट—साहस्रिका प्रज्ञापारमिता कहलाता है। नागार्जुन को 'अतसाहस्रिका' का लेखक बताया जाता है। अवदान का मूल अर्थ है—महान् त्याग का उदार कार्य; इस प्रकार के कार्यों का परिचय देने वाली इन्त-कपार् भी अवदान कहाती है। इस प्रकार के दो प्रसिद्ध ग्रंथ 'अवदान-मत्तक' और 'विध्यावदान' भी इसी युग की कृतियाँ हैं।

इस युग में बौद्ध दर्शन के अनेक शाखाएँ हुए। इनमें सर्वश्रेष्ठ विलक्षण प्रतिभाशाली अवधोष या, जो एक साथ कवि, नाटक-लेखक, कथाकार, दार्शनिक और विचारक था। मेची के शब्दों में वह एक साथ मिल्टन, मेटे, काष्ट और वाल्टेयर का स्मरण कराता है। उसके काव्यों तथा नाटकों का पहले उल्लेख हो चुका है। 'बज्रसूची' में इसने जाति-भेद की ध्वजियाँ उड़ाई हैं। 'महायान' में महायान के दर्शन की विवेचना की है। नागार्जुन ने १५० ई० में माध्यमिक सूत्र लिखकर माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की, जो समूचे दुश्च जगत् की असत् मानता है। नागार्जुन के पट्टशिष्य आर्यदेव ने चतुःशतक द्वारा माध्यमिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की व्याख्या की।

प्राकृत—इस युग में दूसरी श० ई० ५० से दूसरी श० ई० तक समूचे भारत में अभिलेखों और सिक्कों पर एक ही प्राकृत पाई जाती है। यह उस समय भारत की राष्ट्र भाषा थी। यह कहा जाता है कि सातवाहन राजाओं के महलों में प्राकृत बोली जाती थी। इसमें सातवाहन राजा हाल ने 'गाथा सप्तशती' की रचना की, गुप्ताद्वय की 'बृहत्कथा' भी पैसाची प्राकृत में लिखी गई। इस समय मध्य-एशिया के खेतन आदि प्रदेशों में भी प्राकृत का प्रचार था। वहाँ से 'धम्मपद' का प्राकृत अनुवाद मिला है तथा प्राकृत के सैकड़ों अभिलेख मिले हैं।

तामिल—ईसा की पहली शतियाँ तामिल साहित्य का स्वर्ण युग थीं। इस समय मदुरा में एक साहित्यिक परिषद् या 'संम' था। जिसके सदस्यों ने बहुत उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया। तिरुवल्लुवर का सुप्रसिद्ध सूक्ति-संग्रह, जो 'तामिल वेद' कहा जाता है, इसी युग की उपज है। इसका समय १०० ई० के लगभग है। 'अणि मेखला' और 'शीतलपतिकारम्' नामक महाकाव्य इसमें १०० वरत बाद के हैं। इसी समय तामिल का 'तोटकप्पियम्' नामक व्याकरण भी बना।

विदेशी प्रभाव—इस युग से भारत के उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों पर चिरकाय तक ईरानी, तुनी, अफ, पहलव, कुषाण आदि विदेशी जातियों का शासन

रहा। कुशाण साम्राज्य के समय (ईसा की पहली दो शतियों) में रोमन साम्राज्य से भारत का शक्तिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क था। यतः भारतीय सम्प्रदाय पर इन विदेशी संस्कृतियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसमें ईरानी, यूनानी और रोमन ही अधिक सम्म थे। अतः उनके प्रभाव की ही वहाँ विशेष चर्चा की जायगी।

ईरानी प्रभाव—भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश लगभग सौ वर्ष तक ईरान के हुषामनी सम्राटों के विदेशी साम्राज्य का अंग रहा। सम्राट् दारा (५२१-४८५ ई० पू०) ने ५१६ ई० पू० में अपने एक जलसेनापति स्कुताक्स को सिन्धु नदी का रास्ता जीतने के लिए भेजा था। उसके बाद ईरान द्वारा कम्बोज (पामीर बदन्या), मन्धार का पश्चिमी भाग (पेशावर) तथा सिन्धु प्रदेश (देरा इस्मायली, देरा सावीखी तथा सिन्धु सागर) का होमाज जीत लिया गया। सम्राट् दारा ने वहाँ अपना एक प्रांतीय शासक (क्षत्रपावन या क्षत्रप) नियत किया। इस प्रांत से उसे लगभग एक करोड़ रुपये का सोता प्रतिवर्ष प्राप्त होता था, जो उसके अन्य सब प्रांतों से अधिक तथा एशियायी प्रांतों से प्राप्त होने वाले कुल सोने-चांदी का तृतीयांश था। ईरानी साम्राज्य अपने जमाने (५२१ से ४८५ ई० पू० तक) का सबसे बड़ा एवं सुव्यवस्थित साम्राज्य था। दारा ने साम्राज्य के विभिन्न भागों को परस्पर जोड़ने के लिए सड़कों का निर्माण कराया, अपनी राजधानी पत्थरों पर सुपवाई थी, राज्य की विशाल आय का उपयोग अपनी राजधानी पर्सिपोलिस में भव्य महल बनवाने में किया था।

अनेक पाश्चात्य ऐतिहासिकों की यह कल्पना है कि मीर्म साम्राज्य पर ईरानी सम्प्रदाय का निम्न प्रभाव पड़ा है—

(१) मीर्म राजाओं ने पाटलिपुत्र (पटना) में अपने महल ईरानी राजाओं के धनुकरण पर बनाये। मीर्म कला पर ईरानी कला का प्रभाव पड़ा। वह कहा जाता है कि अशोक ने ईरान से पत्थर का प्रयोग सीखा, उससे पहले भारतीय लकड़ी की इमारतें बनाते थे। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष व उनकी पानिस ईरानी शम्भों से मिलती है। अशोक के पण्डाकृत स्तम्भ-शीर्षों को ईरान से ग्रहण किया बताया जाता है।

(२) चन्द्रगुप्त मीर्म के राज-दरबार में अग्नि-पूजा तथा राज्याभिषेक के उत्सव की कुछ बातें ईरान से ग्रहण की गईं।

(३) अशोक की चट्टानों पर अपने लेख तथा धर्म-तिथियां खुदवाने की प्रेरणा हुषामनी सम्राट् दारा के अभिलेखों से मिली।

(४) भारत ने लेखन-कला का ज्ञान ईरान से प्राप्त किया।

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर ये चारों बातें ठीक नहीं जान पड़तीं। ईतिवत यादि यूनानी लेखकों ने मीर्म राजाओं के महलों की ईरान के मुसा और एकवटाता के राजमन्त्रियों से अधिक भव्य बताया है। ईरान और भारत की कला-चौखियों का भूरा अध्ययन करने वाले कला-मर्मज्ञ भारतीय कला पर ईरानी कला

का कोई प्रभाव स्वीकार नहीं करते। अग्नि-युजा और अग्निषेक की पद्धति भारत में वैदिक काल से प्रचलित थी। उसके लिए उसे ईरान का ऋषी होने की आवश्यकता नहीं थी। दारा प्रगोक से २०० वर्ष पूर्व ही चुका था; सम्भवतः उसका प्रगोक को ज्ञान भी न रहा होगा। उस जैसे प्रतिभाशाली राजा को धर्मलिपियों खुदवाने का विचार सहज ही स्फुरित हो सकता है। लेखन-कला के लिए भी भारत को ईरान का ऋषी होने की आवश्यकता न थी। ब्राह्मी लिपि का आविष्कार वैदिक युग में ही चुका था, अतः मौर्य युग में ईरान से भारत को लिपि लेने की जरूरत नहीं थी।

किन्तु ईरान के सम्पर्क के दो प्रभाव अवश्य हुए। उत्तर-पश्चिमी भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार हुआ, जो उर्दू की भाँति घाई घोर से लिखी जाती थी। अभी तक इसकी उत्पत्ति अनिश्चित है, किन्तु एक चीनी ग्रन्थ में कहा गया है कि भारत के पड़ोसी खरोष्ठी देश की वह भाषा थी। कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसकी प्राचीन पारस (ईरान) की अरमइक लिपि से उत्पन्न हुआ माना है। किन्तु यह लिपि दूसरी शती ई० के लगभग समाप्त हो जाती है। दूसरा प्रभाव क्षत्रप शब्द है। ईरानी इसका प्रयोग प्रान्त के शासक के लिए करते थे। भारत में अनेक शाक राजाओं ने इस पदवी को धारण किया और चौथी शती ई० तक इस शब्द का व्यवहार होता रहा।

यूनान का प्रभाव—सिकन्दर के समय से ईस्वी सन् के आरम्भ होने तक भारत का यवनों (यूनानियों) के साथ निरन्तर सम्पर्क रहा। मौर्य युग में चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस की कन्या से विवाह किया, उसका बेटा सीरिया के सम्राट से यूनानी शायोलिक मँगाने को उत्सुक था। अशोक ने यूनानी राज्यों में अर्पित भेजे थे तथा अपने पश्चिमी प्रान्त का शासन भी एक यूनानी शासक तुषालस को सौंपा था। मौर्य शक्ति के क्षीण होने पर यवनों ने उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किए तथा गान्धार, पंजाब और सिन्ध में शासन भी किया। इस प्रकार तीन सौ वर्ष तक इस युग में यूनानियों से अनिच्छ सम्पर्क रहा।

पाश्चात्य जगत् में यूनान सम्प्रदाय का आदिस्रोत समझा जाता था। सर हेनरी मेन का तो यहाँ तक दावा था कि प्रकृति की शक्तियों के सिवाय अन्य कोई ऐसी जंगम वस्तु जगत् में नहीं जिसकी उत्पत्ति यूनान में न हुई हो। इस प्रकार यूनान में अग्रगण्य भूमि रखने वाले अनेक विद्वानों ने भारतीय सम्प्रदाय पर गहरा यूनानी प्रभाव पड़ने की बात सिद्ध की है और यह बताया है कि भारत में सभ्यता की उत्पत्ति यूनानी सम्पर्क से ही हुई है। उदाहरणार्थ संस्कृत-नाटकों में धातु, यवनिका शब्द के आधार पर यह कल्पना की गई थी कि भारत ने नाट्य-कला यूनान से ग्रहण की है। बाद में यह पता लगा कि जिस यवनिका (पर्दे) के आधार पर यह कल्पना की गई है, यूनानी नाटकों में उसका प्रयोग ही नहीं होता था। अब यूनान का प्रभाव कला, मुद्रा और ज्योतिष के क्षेत्र में ही स्वीकार किया जाता है।

(१) कला—पचास ई० पूर्व से तीन सौ ई० तक उत्तर-पश्चिमी भारत में गान्धार-ग्रीकों का विकास हुआ। कृशे, विम्वेष्ट विम्व तथा सर जान मार्शल का मत है कि पंजाब में बसे तथा सीरिया से बुलाये गए यूनानी शिल्पियों ने गान्धार सचवा उत्तर-पश्चिमी भारत में सर्व प्रथम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया। इनसे भारतीयों ने अपने देवताओं की मूर्तियाँ बनाने की कला सीखी और गान्धार कला ने भारतीय मूर्ति-कला पर गहरा प्रभाव डाला। हैबल, जायसवाल तथा डॉ० कुमारस्वामी यह मत स्वीकार नहीं करते। इनका विश्वास है कि भगवान् बुद्ध की मूर्ति न तो पहले-पहल यूनानियों ने बनाई और न गान्धार कला में पाई जाने वाली मूर्ति यूनानियों की ही कृति है। इस कला का भारतीय कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारतीय शिल्पियों को बुद्ध की मूर्ति बनाने के लिए यूनानी कलाकारों की सहायता की कोई आवश्यकता न थी; जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ पहले से ही बनी आ रही थीं। जब महायान सम्प्रदाय तथा भक्ति के निष्ठान्त की प्रवृत्ति हुई और बुद्ध की मूर्ति की आवश्यकता हुई तो उसे जैन मूर्तियों के आधार पर तैयार कर लिया गया। यदि यूनानी कलाकार बुद्ध की मूर्ति तैयार करते तो इसमें वास्तविकता और यथार्थता होती, किन्तु ऐसा नहीं है। पद्मासन-स्थित बुद्ध के चरण वास्तविक दृष्टि से एक सरल रेखा में नहीं होने चाहिये थे। समाधि-मुद्रा में "एक पर एक रहे दोनों हाथ यदि वास्तविक बनाये जाते तो उनकी कुहनी जाँघों तक न पहुँचकर बहुत ऊपर पसली की सीध में रहती।" केशों का दक्षिणावर्त गुहाओं (घुँघरों) में बना होना भी सर्वथा अस्वाभाविक है। ऐसी मूर्ति यूनानी कलाकारों की कल्पना नहीं हो सकती। इसका परवर्ती कला पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) मुद्रा—भीम युग तक भारत की पुरानी मुद्राएँ बाह्य सिक्के होते थे। चाँदी और तँबे के टुकड़ों पर सूर्य, चन्द्र, बैल्य, चक्र आदि कुछ निशान ठण्डे से धातुत किये जाते थे। इन पर कोई राजा की मूर्ति या कोई लेख नहीं होता था। ये सिक्के पुराण या कार्यालय कहलाते थे। यूनानी राजाओं ने सर्वप्रथम राजा की मूर्ति तथा नाम वाले सिक्के चलवाए। शुरु में ये सिक्के यूनानी तोल के अनुसार थे तथा इन पर यूनानी लिपि थी, किन्तु बाद में इन पर खरोष्ठी प्राकृत में लेख लिखे जाने लगे। इसके बाद भारतीय सिक्के भी इसी शैली में बनने लगे। यूनानी सिक्के ड्रैकम (Drachm) का शब्द संस्कृत में द्रम्म तथा बाद में दाम के रूप में अपना लिया गया।

(३) ज्योतिष—अपने अध्याय में यह बताया जायगा कि भारतीय यूनानी ज्योतिषियों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने बहुत-से शब्द और बातें यूनान से सीखी थी। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यहाँ तथा उनके आधार पर सप्ताह के सात वारों की कल्पना पहले यूनानियों से ग्रहण की गई समझी जाती थी। प्लूट का यह मत था कि पाँचवीं श० ई० में भारतीयों द्वारा यूनानी ज्योतिष

अपनाने पर वहाँ का ज्ञान और वारों की गिनती भारत में आई। यह विचार उस समय तक ठीक था जब तक पाश्चात्य जगत् में वहाँ के विचार के आविष्कार का क्षेत्र पुनर्निर्माण को दिया जाता था, किन्तु अब यह माना जाता है कि वहाँ और राशियों की खोज बाबुली लोगों ने की थी और वारों की कल्पना सुमेरों ने। अतः यह मणित का ज्ञान न पुनर्निर्माण में पैदा हुआ और न वहाँ से आया। संभवतः उत्तर पश्चिम युग में यह सेबीलोम ने भारत में पहुँचा।

रोमन प्रभाव—रोम में सन् ६० ई० पू० में आगस्टस पहला सम्राट् बना। लगभग उसी समय सातवाहन मण्डप के स्वामी बने। तत्कालीन भारतीय राजाओं ने सम्राट् के पास अपने-अपने दूत-मण्डप भेजे। पैतालीस ई० में एक यूनानी नाविक हिप्पलस द्वारा मानसून हवाओं के नियमित बहने की खोज से भारतीय महासागर पैतालीस दिन में पार किया जाने लगा और भारत से रोम केवल सोलह सप्ताह में पहुँचा जाने लगा। इससे दोनों देशों में घनिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क स्थापित हुआ। रोमन साम्राज्य की सीमा जब दक्कन नदी पर पहुँच गई तो वह भारतीय सीमान्त से कुछ छः सौ मील रह गया। ऐसा की पहली बार अतियों में दोनों देशों में खूब सम्बन्ध रहा। इसका प्रभाव मुद्रा एवं ज्योतिष के क्षेत्र में ही विशेष पड़ा। कुशाणों ने रोम के सोने के सिक्कों के अनुकरण पर अपने सोने के सिक्के चलाने, संस्कृत का स्वर्ण-मुद्रावाची धीनार शब्द भी मूलतः रोमन है। ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में रोमक सिद्धान्त भारत में रोम से ही आया प्रतीत होता है।

गुप्त युग का समाज, साहित्य और विज्ञान

गुप्त युग की विशेषताएँ — गुप्त युग भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है और अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इसे भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है।

इसकी पहली विशेषता चार सौ वर्ष के विदेशी शासन के बाद देश का स्वतन्त्र होना, तथा एकछत्र शासन के नीचे संगठित होना था। १०० ई० के लगभग उत्तरी भारत में संयुक्त प्रान्त तक और पश्चिमी भारत में उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात और अधिकांश राजपूताने में कुशाणों और शकों का शासन था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रम में रमे जाने पर भी, जातीय दृष्टि से वे विदेशी थे। कुशाणों की संयुक्त-प्रान्त से मगध और नाग राजाओं ने सदैव तथा पूर्वो-पंजाब से योद्धों और कुनिन्दों ने; तीसरी शती में सासानी साम्राज्य के उत्कर्ष से कुशाण शक्ति विलकुल क्षीण हो गई। शकों की शक्ति का महाराष्ट्र में सातवाहनों ने और राजपूताना में मालवगण ने उच्छेद किया। तीसरी शती के अन्त तक समूचा भारत विदेशी दासता के पाश से मुक्त हो गया। किन्तु उस समय तक यह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था। गुप्तों ने चौथी, पाँचवीं शती में (३६० ई०-४६० ई०) इस देश के बड़े भाग में एकछत्र शासन और शान्ति की स्थापना की। काफी समय तक गुप्तों के दौलत खट्टे करके भारत की रक्षा की।

इस युग की दूसरी विशेषता अमृतपूर्व समृद्धि है। इन दिनों भारत का विदेशी व्यापार बहुत उत्तम था। इससे पहले सातवाहन युग में ही रोम का भारत से इतना माल भेजा जाता था कि उसका मूल्य चुकाने के लिए उसे कई करोड़ सोने के सिक्के भारत भेजने पड़ते थे। उस समय एक रोमन लेखक ने यह शिकायत की थी कि "भारत रोम से प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है और यह कीमत हमें अपनी विवाहिता और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है।" इस युग में व्यापार अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच गया और मुद्राद्वयों से मिले सोने के सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि अन्य देशों का सोना यहाँ बड़ा बला भा रहा था।

तीसरी विशेषता चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, कोचीन, चीन, अनाम और बर्मा तक भारतीय धर्म और संस्कृति का विध्व-व्यापी प्रसार है। यदि आज

चीन, जावा, और भारत में सांस्कृतिक एकता है तो इसका कारण गुप्त युग के कुमारजीव और गुणवर्मा-सदृश प्रचारक हैं।

चौथी विशेषता भारतीय प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास तथा अनुपूर्व बौद्धिक उत्कर्ष है। इसी युग में संस्कृत-साहित्य में कालिदास-जैसे महाकवि हुए, 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' नाटक बने, पौराणिक साहित्य ने अपना बहुत-कुछ वर्तमान रूप धारण किया। दर्शन में महायान के माध्यमिक और विज्ञानवादी सम्प्रदाय, तथा वसुबन्धु, धर्मग, भार्यदेव आदि बौद्ध तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, समन्त भद्र-जैसे जैन दार्शनिक उत्पन्न हुए और भारतीय दर्शन को इन्होंने अपने सर्वथा नवीन और मौलिक विचार प्रदान किये। विज्ञान के क्षेत्र में दशांश गणना-पद्धति और दिल्ली की लोहे की कीसी इसी युग की देन है।

पाँचवीं विशेषता ललित कलाओं की चरम सीमा तक उन्नति है। ध्वजन्ता के जगत्-प्रसिद्ध चित्र इसी युग में बने। इस काल की मूर्तियाँ अगले युगों के चित्रकारों के लिए आदर्श का काम करती रहीं।

छठी विशेषता यह है कि इस युग ने हिन्दू धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। गुप्त सम्राटों के प्रबल प्रोत्साहन से वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हुआ। सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का कोई अन्य युग इस युग की समता नहीं कर सकता।

गुप्त युग के धर्म, शासन-प्रणाली और कला का विवेचन छोटे, तेरहवें और चौदहवें अध्यायों में हुआ है। अतः यहाँ केवल सत्कालीन समाज, साहित्य और विज्ञान का विवेचन ही किया जाएगा।

१. सामाजिक दशा

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था समझी जाती है, किन्तु गुप्त युग तक यह बहुत लचीली थी। जात-पात का विचार परिपक्व नहीं हुआ था। खान-पान, विवाह और पैसे विषयक वर्तमान कठोर व्यवस्थाएँ चालू नहीं हुई थी। इस काल की स्मृतियों में केवल शूद्रों के साथ ही खान-पान का निषेध है, किन्तु इनमें भी अपने कृषक, नार्द, ग्वाले और पारिवारिक मित्र को अपवाद माना गया है। शूद्र होने पर भी इनके साथ खान-पान में कोई दोष नहीं है। उस समय समाज में प्रायः सबर्ण विवाह होने लगे थे किन्तु असर्ण विवाहों को भी रोक माना जाता था। अनुलोम (उच्च वर्ण के पुरुष के साथ निम्न-वर्ण की स्त्री का सम्बन्ध) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के वर के साथ उच्च वर्ण की कन्या का सम्बन्ध) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। नाकाटक राजा यदसेन ने कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी प्रभावती मुप्ता का विवाह वैश्य जातीय गुप्त कुल में किया। ब्राह्मण कदम्बों ने भी अपनी कन्याएँ गुप्तों को दी थीं। विभिन्न वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी विवाह

होता था। शान्ध के ब्राह्मण इक्ष्वाकु राजाओं ने उज्जयिनी के शक राज-परिवार की कन्या स्वीकार की थी।

गुप्त युग में पेशों की दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था के नियम सर्वमान्य नहीं हुए थे। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि स्मृति-प्रतिपादित छः कर्मों के अतिरिक्त व्यापार, शिल्प और नौकरी के पेशे करते थे। वे शक्तियों का काम करने, खुबा छोड़कर तलवार बकहने में भी संकोच नहीं करते थे। बाकायक और कदम्ब वंशों के संस्थापक विन्यशक्ति और भगूर शर्मा ब्राह्मण थे। गुप्त-सम्राट् वैश्य थे। अनेक क्षत्रिय व्यापार और व्यवसाय करते थे। इस युग में शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना नहीं था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम कर सकते थे। उनमें अनेक सेना में ऊँचे पदों तक पहुँचते थे।

इस काल में यद्यपि स्मृतिकार सबरां विवाहों पर बल दे रहे थे, किन्तु उनकी व्यवस्था सर्वमान्य नहीं हुई थी। इसीलिए इस समय हिन्दू समाज में बाहर से आने वाली विदेशी जातियों को अपने में पचा लिया।

विदेशियों को हिन्दू बनाना—गुप्त युग से पहले मौर्य तथा सातवाहन युगों में भारतीय समाज ने यूनानी, शक, पहलव और कुशाण अपने में विलीन कर लिये थे। १४० ई० तक मज्राव के कुशाण और पश्चिमी भारत के शक भारतीय बन चुके थे। तीसरी शताब्दी में शान्ध के इक्ष्वाकु राजा शक-कन्याओं के पाणिग्रहण में दोष नहीं समझते थे। गुप्त युग में भी हिन्दू समाज की पावन-शक्ति बड़ी जबरदस्त थी, वे एक पीढ़ी में ही विदेशियों को भारतीय बना लेते थे। हूण आक्रान्ता तोरमाण का बेटा निहिरकुल पक्का शैव था। इसी समय जाका, सुगाका, बोनियों आदि टाणुओं में तथा ईराक और सीरिया में हिन्दू धर्म फैला हुआ था। यह सम्भव है कि इन सब प्रदेशों में काफ़ी विदेशियों को हिन्दू बनाया गया हो। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस समय तक वर्तमान काल का यह विचार दृढभूत नहीं हुआ कि हिन्दू समाज में प्रवेश केवल जन्म द्वारा हो सकता है। हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित हो, वह हिन्दू आचार-विचार और संस्कार ग्रहण करके एक ही पीढ़ी में शादी-ब्याह द्वारा हिन्दू-समाज का अग्रिम बंधन बना जाता था। कट्टर ब्राह्मण भी विदेशियों के साथ विशाह कुरा नहीं समझते थे। इस प्रकार हिन्दू-समाज में दूसरी जातियों को अपने में विलीन करने की सामर्थ्य गुप्त युग तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। यह शक्ति सध्य युग में बिलकुल नष्ट हो गई।

अस्पृश्यता—किन्तु वर्तमान छूत-छात उस समय थोड़ी-बहुत मात्रा में अवश्य थी। साहित्य के वर्णन से स्पष्ट है कि चाण्डाल मुख्य बस्ती से बाहर रहते थे और बस्ती में आने पर सड़क पर लकड़ी पीटते हुए चलते थे ताकि उसके शब्द से सब लोगों को उनकी उपस्थिति का ज्ञान हो सके और वे उनके सम्पर्क से दूषित होने से बचे रहें।

विवाह—गुप्त युग में बाल-विवाहों का प्रचलन काफी हो गया था। इसमें पहले युगों के मनु आदि स्मृतिकार उपयुक्त वर न मिलने पर कन्या के पिता का उसे अविवाहित रखने की अनुमति दे दी है, किन्तु इस युग की याज्ञवल्क्य और नारद-वैसी स्मृतियाँ बहुत काल से पहले कन्या की शादी न करने वाले अभिभावक को तरकगामी बताती हैं। उस समय विधवा-विवाह भी प्रथा भी प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सम्भवतः ३७५ ई० में ध्रुतदेवी से इसी प्रकार का विवाह किया था। कुछ व्यवस्थाओं में स्त्री अपना पहला पति छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती थी। दूसरा विवाह न करने वाली विधवाएँ प्रायः ब्रह्मचरिणी रहती थीं। सती-प्रथा का व्यापक प्रसार और धार्मिक महत्त्व न था। इस युग में सती होने का केवल एक ही ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है; भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी चिता पर चढ़ी थी।

स्त्रियों की स्थिति—उच्च वर्गों में इस समय स्त्रियों की स्थिति बड़ी उन्नत थी। वे शासन-व्यवस्था में प्रमुख भाग लेती थीं। कुछ प्रान्तों में, विशेषतः कन्नड़ प्रदेश में, वे प्रान्तीय शासक और गाँव के मुखिया का भी कार्य करती थीं। दक्षिण में स्त्रियों को पुण्य पर्व में रत्नने की परिपाटी नहीं थी। वहाँ के राज-परिवारों की स्त्रियाँ अमिलेशों में न केवल संगीत और नृत्य में प्रवीण बताई गई हैं किन्तु के सार्वजनिक रूप से इन कलाओं में अपने जैष्ठ्य का भी प्रदर्शन करती थीं। कुलीन स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।

किन्तु यह उन्नत स्थिति उच्चवर्ग की नारियों की ही थी। साधारण स्त्रियों की दशा भिन्न रही थी। बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका उपनयन प्रसम्भव हो गया। याज्ञवल्क्य ने उन्हें उपनयन और वेदाध्ययन का अनुधिकारी माना। वैदिक शिक्षा न देने जाने पर भी स्त्रियों को कला और साहित्य की शिक्षा दी जाती रही। इस युग में चीन भट्टारिका आदि अनेक स्त्री-लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ हुईं। स्त्रियों के पुराने धार्मिकी और समानता के धारणों में इस युग में परिवर्तन आने लगा। स्त्रियों पर पति की प्रभुता बढ़ने लगी। कालिदास ने लिखा है—“पति ही स्त्री का स्वामी है, वह जो चाहे कर सकता है।”

जीवन का धारण—गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस समय तक भारतीयों का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन बड़ा सन्तुलित था। धर्म, धर्म, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का उचित उपभोग जीवन का सार्वभौम सम्भार जाना था। बाद में भारतीय जीवन में धर्म की प्रभावशाली हो गई। परलोक के लिए इहलोक की उपेक्षा की जाने लगी, अधिकांश समय व्रत तथा पूजा-पाठ को दिया जाने लगा, संन्यास की उच्च और काम की हृद्य दृष्टि से देखा जाने लगा, किन्तु गुप्त युग तक ऐसा नहीं था। धर्म और काम की धर्म और मोक्ष के समान महत्ता थी। समाज चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए समान रूप से चल करता था। गुप्त युग

की चौमुगी उत्पत्ति का मूल कारण यही है। इस काल में जहाँ धर्म और दर्शन में उत्पत्ति हुई, वहाँ साहित्य, सन्तति एवं उपयोगी कलाओं और विज्ञानों का भी उत्कर्ष हुआ।

२. साहित्य

गुप्त-काल में संस्कृत-साहित्य का अमूलपूर्व उत्कर्ष हुआ। संस्कृत के परम अनुरागी गुप्त राजाओं की शीतल छत्र-छाया उसकी सर्वाङ्गीण समुन्नति में सहायक सिद्ध हुई। इसके प्रचार का इतना उत्साह था कि राजकीय के कथनानुसार इन्होंने अपने अन्तर्पुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश दे रखा था। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल इस युग में ही संस्कृत राष्ट्रभाषा बनी। इनसे पहले के शातवाहन और इक्ष्वाकु राजा कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत के पोषक थे। जैन और बौद्ध भी पाली तथा प्राकृत भाषाओं का व्यवहार करते थे। किन्तु संस्कृत के विद्याल शब्दकोष तथा सर्वविध अभिव्यञ्जक सामर्थ्य के कारण वे इस और आकृष्ट हुए। बौद्धों ने पहली-दूसरी शती में संस्कृत को अपनाया। महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी अपूर्व रचनाएँ इसी भाषा में कीं। संस्कृत उस समय भारत के समूचे शिक्षित वर्ग की भाषा थी। गुप्तों को इस बात का गौरव है कि उन्होंने इसे राज-भाषा बनाया। पहले जो स्थान प्राकृतों को मिला था, वह अब संस्कृत ने पाया। सारे देश के दार्शनिकों, नवियों, शासकों की भाषा होने में संस्कृत भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हुई। भारत ही नहीं बृहत्तर भारत में, मलया, जावा, सुमात्रा, बांग्ला, बोर्नियो और चीन तक उसका प्रसार हुआ। केवल गुप्त युग में संस्कृत की यह स्थिति रही है। इससे पहले प्राकृतों का प्रचार था, छठी शती ई० से दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ राजकीय क्षेत्रों में इसका स्थान ले लेती हैं। संस्कृत-साहित्य की अनेक श्रेष्ठ कृतियाँ इसी काल में रची गईं।

संस्कृत के कवि और नाटककार—संस्कृत-साहित्य के अनेक प्रसिद्ध कवि इसी युग में हुए। महाकवि कालिदास इसी काल के माने जाते हैं। 'रघुवंश', 'कुमार-संभव', 'मेघदूत' नामक काव्य और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' तथा 'धर्मज्ञान शाकुन्तल' नामक नाटक उनकी अमर कृतियाँ हैं, इनमें भारतीय धार्मिक जिस पूर्णता से प्रगट हुए हैं, वैसे आपद आज तक किसी अन्य रचना में नहीं हुए, वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। विसाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', भारवि का 'किराताभूषण' आदि के 'नीति, शूङ्गार और वैराग्य अतक' इसी काल की कृतियाँ हैं। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन हरिवंश ने अपनी प्राञ्जल और प्रसाद युक्त पुस्तक संस्कृत में किया है। संस्कृत-कथा-साहित्य का एक अमर रत्न विश्वगुप्तों का 'वंचन' इसी युग की देन है, संसार की पचास से अधिक भाषाओं में इसके दो सौ से अधिक अनुवाद हुए हैं।

शास्त्रीय साहित्य—काव्य-साहित्य के अतिरिक्त इस युग में व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य विकसित हुआ। हिन्दुधर्म में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के ग्रन्थों का आदर था, किन्तु ब्रिह्म, चन्द्रगोपी नामक ब्रह्मसूत्री बौद्ध

भिक्षु द्वारा विरचित 'चन्द्र व्याकरण' बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसका आधार पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है, किन्तु वैदिक स्वर-प्रक्रिया और व्याकरण छोड़ दिया गया है। इसका समय छोटी शती ई० का पूर्वार्द्ध है। 'अमरकोश' एक बौद्ध अमरसिंह की कृति है। छन्दःशास्त्र का विवेचन इस समय 'भूतबीज' तथा ब्रह्ममिहिर की 'बृहत् संहिता' तथा 'धम्म पुराण' में हुआ। चित्रकला का प्रतिपादन 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में किया गया। 'कामन्दकीय नीतिसार' और कात्यायन का 'कामशास्त्र' भी इसी युग की रचना है।

धार्मिक साहित्य—पुराण भारत में वैदिक युग से चले आ रहे थे। उनका एक प्रधान अंग प्राचीन वंशों का वर्णन था। गुप्त युग के प्रारम्भ में इनका नवीन संस्करण हुआ, इनमें ३५० ई० तक की घटनाएँ जोड़ दी गईं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के माहात्म्य का वर्णन किया गया, किन्तु बतों और अनुष्ठानों को महत्त्व देने वाला भाग अभी तक इसमें नहीं जुड़ा था।

याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, पराशर और बृहस्पति की स्मृतियाँ इसी युग में बनीं। इनमें याज्ञवल्क्य स्मृति बड़ी सुखवस्थित और कमबद्ध है। इसमें आचार, व्यवहार (दीवानी कानून) और प्रायश्चित्तों का तीन भागों में पृथक् वर्णन है। इस समय के दीवानी कानून के विकास की सूचना नारद और कात्यायन से मिलती है।

शास्त्रीय साहित्य—गुप्त काल में यहाँ भारतीय दर्शनों पर भाष्यों और प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ईश्वर कृष्ण ने 'सांख्य दर्शन' के सबसे सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्य-कारिका' का प्रणयन किया। 'न्यायभाष्य' के लेखक वात्स्यायन और इस भाष्य पर 'न्यायवातिक' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखने वाले उद्योतकर इसी काल की विभूति हैं। 'वैशेषिक' का प्रसिद्ध ग्रन्थ, प्रवास्तपाद-कृत 'पदार्थ संग्रह', 'मीमांसा' के 'शाबर' तथा 'योग दर्शन' के 'व्यास भाष्य' इसी काल में बने। बौद्ध दर्शन के अधिकांश श्रेष्ठ आचार्य गुप्त युग में हुए। विज्ञानवाद के संस्थापक मैत्रेय, इस सम्प्रदाय के प्रवर्धक आचार्य समुद्रगुप्त, माध्यमिक न्याय के जन्मदाता दिङ्नाग की उत्पत्ति करने का श्रेय इसी युग को है। महायान के अन्य गुप्तकालीन आचार्यों में स्थिरमति, शंकरस्वामी, धर्मपाल, स्थविर बुद्धपालित आदिदेव (२००-२५०), भावविवेक, चन्द्रकीर्ति, वैभाषिक सम्प्रदाय के संघनद्र, स्थविरवाद सम्प्रदाय के बुद्ध-योग, बुद्धदत्त, धर्मपाल उल्लेखनीय हैं। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लिखने अभ्यास में निर्योक्त किया जा चुका है।

जैन साहित्य के विकास की दृष्टि से गुप्त काल असाधारण महत्त्व रखता है। इस युग में सर्वप्रथम जैन-धर्म के ग्रन्थों (आगमों) को ४५३ ई० में खतनी में लिपिकृत किया गया, यह कार्य देवाधिगण के सम्राटत्व में हुई जैन महायामा ने किया। इसके अतिरिक्त इस काल की दो अन्य बड़ी घटनाएँ जैन न्याय का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास और 'जैनेन्द्र व्याकरण' की रचना हैं। जैन न्याय के संस्थापक

आचार्य सिद्धसेन विद्याकर (पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध या छठी शती का पूर्वार्द्ध) थे। 'स्वाध्यायकार' की रचना करके उन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया। इनके ग्रन्थ 'समसि तत्के गुण' तथा 'तत्त्वार्थ टीका' हैं। ये केवल नीरस विषय पर लिखने वाले शुष्क दार्शनिक ही नहीं थे, किन्तु 'कल्याण मन्दिर' आदि अनेक सरस स्तोत्रों के निर्माता भी हैं। 'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता पूज्यपाद देवचन्द्रि थे। जिस प्रकार चन्द्रगोभी ने बौद्धों के संस्कृत-सम्प्रेषण के लिए 'चान्द्र व्याकरण' बनाया, वैसे ही उन्होंने जैन धर्मावलम्बियों के लिए 'जैनेन्द्र व्याकरण' की रचना की। यह 'पाणिनि व्याकरण' का ही साक्षिप्त संस्करण है। इसके छोटे और बड़े दो रूप हैं, छोटे में लगभग ३,००० सूत्र हैं और बड़े में ३,७६०। मुक्त युग के अन्य जैन आचार्य जिनभद्र गणि, सिद्धसेन गणि और समस्तभद्र उल्लेखनीय हैं। समस्तभद्र अपने समय (पाँचवीं श०) के प्रकाष्ठ जैन दार्शनिक थे। उन्होंने 'पुनरुद्देशासन' में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना की है। 'स्वाध्याय' की प्रतिष्ठ विचारधारा का जन्म इसी काल में हुआ।

उपसृत बरतों से यह स्पष्ट है कि मुक्त युग न केवल हिन्दु धर्म और साहित्य की उन्नति का काल था, अपितु बौद्ध और जैन संस्कृत-वाङ्मय का भी चरम उत्कर्ष इसी काल में हुआ था। यह तीनों धर्मों के साहित्य का समान रूप से स्वर्ण युग है।

३. वैज्ञानिक उन्नति

मुक्त युग में भारत ने वैज्ञानिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति की और अनेक नवीन आविष्कार किये। प्राचीन काल में इससे पहले या इसके बाद किसी अन्य युग में उपयोगी शिल्प तथा विज्ञानों का इतना उत्कर्ष नहीं हुआ। इसीलिए भारत उस समय वैज्ञानिक दृष्टि से संसार का नेता और अग्रगण्य देश बना। प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय सदा धाव्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन में ही डूबे रहते थे; किन्तु मुक्त युग में प्रायः सभी भौतिक विज्ञानों का उच्चतम विकास इस चारणा का लक्षण करता है।

गणित—संकगणित के क्षेत्र में मुक्त युग की सब से बड़ी खोज और देन दश-गुणोत्तर श्रृंखला लेखन-पद्धति थी। चौथी शती ई० में भारत ने इसका आविष्कार किया। इसमें पहले नौ संकों और शून्य द्वारा सब संख्याएँ प्रकट की जाती हैं, नौ संक समाप्त होने पर एक के आगे शून्य बढ़ाकर दस बना लिया जाता है, दस और शून्य जोड़कर दहाई, सिकड़ा, हजार आदि संख्याएँ प्रकट की जाती हैं, संकों का मान उनकी स्थिति पर होता है। अब हमारे लिए यह पद्धति इतनी स्वाभाविक हो गई है कि हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारे पूर्वजों को इस प्रणाली के आविष्कार से पहले १११ लिखने के लिए कितना भ्रमट करना पड़ता था। उन दिनों नौ संकों के प्रतिरिक्त दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार आदि के लिए पृथक् चिह्न थे, उपसृत संख्या लिखने के लिए उन्हें एक, दस और सौ के संकों को जोड़कर लिखना पड़ता था, ठीक वैसे ही जैसे पड़ियों पर रोमन संकों में छः या ग्यारह के

लिए कमरा: पाँच और एक के सूचक बी (V) तथा आई (I) और इस तथा एक के चिह्न एक्स (X) तथा आई (I) जोड़ने पड़ते हैं। इस भारतीय आविष्कार से पहले विभिन्न संस्थाओं के सूचक चिह्न जोड़कर अर्थों को बनाया जाता था। यह पद्धति बहुत ही जटिल थी। यूरोप में बारहवीं शती तक इसी का प्रयोग होता था। भारत से दशगुणोत्तर शंक-लेखन अर्थों ने सीखा और उन्होंने इसे यूरोप वालों को सिखाया। यूरोपियन इसीलिए उन्हें अरबी अक्षर कहते हैं और स्वयं अरब वाले भारत (हिन्द) से ग्रहण करने के कारण इसे 'हिन्दसा' का नाम देते हैं। इन्हें वजिया (नवीं शती) अल्मसूदी (दशवीं शती), अल्बेकनी (ग्यारहवीं शती) इस शंक-लेखन की खोज का श्रेय भारतीयों को देते हैं। यह अब तक ठीक तरह ज्ञात नहीं हुआ कि भारत में इसका आविष्कार किसने, कब और कैसे किया? किन्तु पाँचवीं शती के धार्यभट (४६६ ई०) के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है, अतः उससे कम-से-कम एक शती पहले इसका आविष्कार हो चुका होगा। इससे गणित की गणनाओं में बड़ी सुविधा हुई, अतः इसे सब गणितज्ञों ने ग्रहण किया। धार्यभट ने वर्गमूल और घनमूल निकालने की पद्धति इसी विधि के आधार पर दी है। सामान्य जनता में इसका प्रयोग प्रचलित होने में काफी समय लगा। ६६५ ई० के संक्षेप अभिलेख में सर्व प्रथम इसका व्यवहार किया गया है।

गुप्त युग के गणित पर प्रकाश डालने वालों केवल दो रचनाएँ हैं—'ब्रह्मगोपी' और धार्यभट का 'धार्यभटीयम्'। पेवावर शहर के पास ब्रह्मगोपी गाँव में जर्मोन खोदते हुए एक किसान को ६८८ ई० में पहली पोखी मिली थी, यह बड़ी खचित दशा में है। दूसरी पुस्तक प्रसिद्ध ज्योतिषी धार्यभट की ४६६ ई० में पाटलिपुत्र में लिखी हुई है। इनमें न केवल भिन्न, वर्गमूल, घनमूल आदि प्रारम्भिक विषयों का वर्णन है, किन्तु सामान्य संख्याओं, वर्गों और घनों की शंक-गणितीय श्रेणियों, घात क्रिया, मूल क्रिया आदि जटिल विषयों का भी विवेचन है। ज्यामिति के क्षेत्र में वृत्त और त्रिभुजों की महत्वपूर्ण विशेषताओं का संकेत होने से यह स्पष्ट है कि भारतीय गणितज्ञ की ज्यामिति की पहली चार पुस्तकों के अधिकांश साध्यों का ज्ञान रणजित से। धार्यभट के ग्रन्थ में प्रत्यक्षार्थक ज्यामिति के प्रयोगों का विवेचन है तथा पाई का (π) मान भी उस समय तक निकाले गए धर्म मानों से अधिक शुद्ध है। बीज-गणित में चार सजात राशियों के समकालिक समीकरणों तथा एकघातिक अभिव्यक्ति युक्तियों का हल दे दिया गया था।

सब विद्वान् इस बात की स्वीकार करते हैं कि भारतीय इस युग में गणित की सीढ़ी में से दो साखाधों—शंकगणित और बीजगणित में अपने समसामयिक यूनानियों से आगे बढ़े हुए थे।

ज्योतिष—गुप्त युग का सबसे बड़ा ज्योतिषी धार्यभट ४०६ ई० में पाटलिपुत्र में उत्पन्न हुआ। २३ वर्ष की आयु में इसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धार्यभटीयम्' लिखा। यह भारत के महान् वैज्ञानिकों में से है। उसने सिकन्दरिया के यूनानी ज्योतिषियों के

सिद्धान्तों का भी गहरा अध्ययन किया था। वह यह ज्ञात करने वाला पहला भारतीय था कि पृथ्वी अपने धरत के चारों ओर घुमती है। उसने सर्वप्रथम ज्योतिष में जीवा का उपयोग ज्ञात किया, यही तथा ग्रहणों सम्बन्धी अनेक गणनाएँ की। उसने जो वर्ग मान निकाला, वह ज्योतिषी टालमी द्वारा निकाले गये काल से अधिक शुद्ध है। यह सत्तावीन भारतीय ज्योतिष की उत्कृष्टता का पर्याप्त एवं पुष्ट प्रमाण है। इस काल का दूसरा ज्योतिषी ब्राह्मिहिर छठी शती के उत्तरार्द्ध में हुआ। उसने अपने 'ष्व सिद्धान्तिका' में तीसरी-चौथी शतियों में भारत में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इस समय भारत पर यूनानी ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा। संस्कृत ने केन्द्र, हारिज, त्रैकाल आदि शब्द यूनानी भाषा से ग्रहण किए। ज्योतिष के प्राचीन पाँच सिद्धान्तों में एक रोमक (रोमदेशीय) भी है। भारतीय यूनानी ज्योतिषियों का बड़ा आदर करते थे किन्तु यह सब होते हुए भी यूनान का प्रभाव अत्यल्प और गण्य था। भारतीय स्वतन्त्रतापूर्वक गणनाओं द्वारा जिन परिणामों पर पहुँचे थे, वे यूनानियों के परिणामों की अपेक्षा अधिक शुद्ध थे।

आयुर्वेद—चरक और सुश्रुत दूसरी शती ई० तक बन चुके थे, इस युग में छठी शती ई० में इन दोनों संहिताओं का सार चाम्बट्ट ने 'अष्टांग संह' में दिया। इस युग का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावनीतकम्' है। यह १-२० ई० में पूर्वी तुकिस्तान के कूचा में मिला था। इसमें भेल, चरक, सुश्रुत संहिताओं के उपयोगी मुक्त्यों और योगों का संग्रह है। जो बौद्ध प्रचारक मध्य एशिया में प्रचार करने जाते थे, वे संभवतः इस ग्रन्थ का प्रयोग करते थे। इसमें सहस्रगुन के गुणों का वर्णन तथा सर्प विष का प्रभाव दूर करने के मंत्र हैं। आयुर्वेद में प्रधान रूप से चिकित्सा के लिए वानस्पतिक औषधियों का प्रयोग होता था, किन्तु पारे तथा अन्य धातुओं के योग का प्रयोग प्रचलित हो रहा था। पशु-चिकित्सा पर भी इस युग के पिछले भाग में वालकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' लिखा गया। इसके १६० अध्यायों में हाथियों की प्रधान बीमारियों, उनके लक्षण तथा उनका औषध एवं शल्योपचार दिया हुआ है।

रसायन और धातुशास्त्र—दूसरी शती ई० में आचार्य नागार्जुन ने न केवल साध्यमिक सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया, किन्तु रसायन और धातुशास्त्र का भी गहरा अध्ययन करके इन शास्त्रों की उन्नति का श्रीगणेश किया। वे 'सोह शास्त्र' के प्रणेता माने जाते हैं। इस युग में उनके शिष्यों ने इसकी सोज जारी रखी होगी। हमें उसका विस्तृत ज्ञान नहीं, किन्तु इस युग के सोह शास्त्र की उन्नति का अवलम्ब प्रमाण कुतुब मोनार के पास की सोहे की कीली है। २४ फी० ऊँची और ६॥ टन भारी इस साठ ने पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य में डाला हुआ है। पश्चिम में सोहे के इतने बड़े स्तम्भों को इताई पिलनी शती से ही होने समी है, वेग-रहित सोहा इस सदी की सोज है। किन्तु यह कीली १,२०० वर्ष की वर्षों भेलने के बाद भी वैसी ही खड़ी हुई है। इसे किस प्रकार बनाया गया, यह रहस्यमयी गुप्ती आज तक नहीं गुलफ सकी। छठी शती के अन्त में मान्यता में २० फुट ऊँची

बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा थी, इस काल की ७॥ फुट ऊँची एक बुद्ध-मुर्ति वरमिषम में है । ये मूर्तियाँ भी धातु-शास्त्र की उन्नति सूचित करती हैं ।

शिल्प तथा ग्रन्थ विज्ञान—शिल्प-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मानसार' इसी युग की रचना मानी जाती है । बराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' से ग्रन्थ-ग्रन्थ विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है । यह ग्रन्थ एक प्रकार का विश्व-कोश है और बराहमिहिर प्रायः सब विज्ञानों में प्रवेश रखने वाले व्यापारिक विद्वान् थे । वे न केवल धातु-शास्त्र तथा रत्न विद्या का उल्लेख करते हैं, किन्तु वनस्पति-शास्त्र, भवन-निर्माण एवं स्थापत्य और श्रुति-विज्ञान का भी वर्णन करते हैं । यदि बराहमिहिर विविध विज्ञानों के अध्ययन के लिए सम्प्रदाय स्थापित कर जाते और उनकी शिक्षा-परम्परा गुरु की भाँति वैज्ञानिक शोध में तत्पर रहती तो भारत मध्य एवं वर्तमान काल में भी विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध होता ।

गुप्तयुगीन उन्नति के कारण—गुप्त युग में भारत की जो सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति हुई उसके प्रेरक कारण क्या थे ? इस काल में भारतीय प्रतिभा का सर्वतो-मुखी विकास क्यों हुआ ?

इसका पहला कारण गुप्त सम्राटों का प्रबल विद्यानुराग और विद्वानों का संरक्षण था । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में 'नवरत्न' विद्यमान थे, समुद्रगुप्त की कलाप्रियता उसके सिक्कों से स्पष्ट है, नालन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय कुमारगुप्त (४१४-४५ ई०) को है ।

दूसरा कारण इस काल की शांति और समृद्धि थी । साहित्य और कलाओं की उन्नति इन्हीं अवस्थाओं में होती है, 'सम्पूर्ण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-विद्या प्रवर्धते' ।

तीसरा कारण विदेशों से सम्बन्ध और संपर्क था । चीन और रोमन साम्राज्य से भारत के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे । इतिहास में प्रायः यह देखा गया है कि दो विभिन्न संस्कृतियों का संपर्क या संपर्क बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है । हम ऊपर देखा चुके हैं कि इस युग में हिन्दू और बौद्ध दार्शनिकों के विचार-विमर्शोत्पन्न व्यापारप्रत्यापार से उच्चकोटि का दार्शनिक साहित्य पैदा हुआ । यही दशा संस्कृतियों के संपर्क में होती है ।

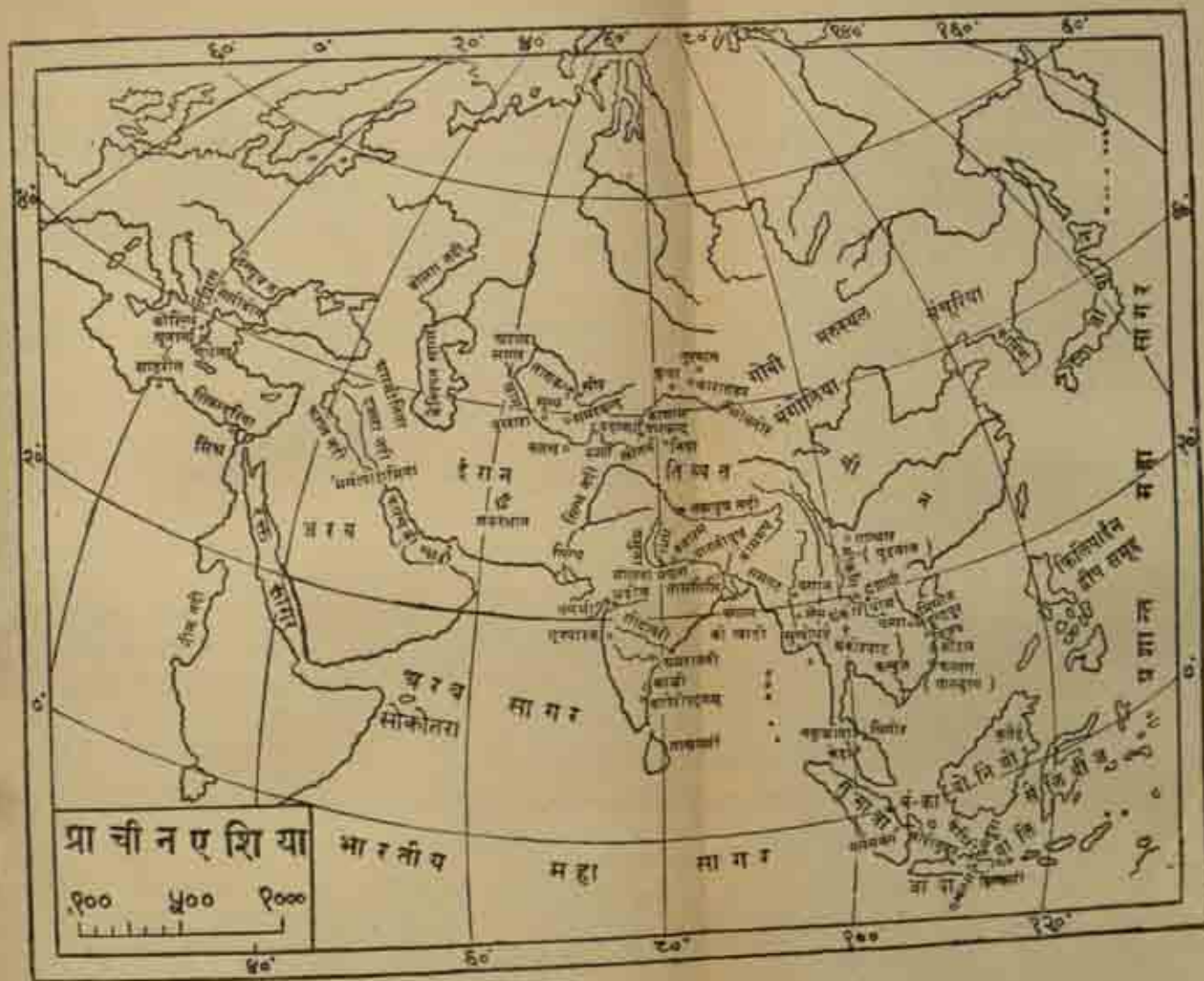
चौथा कारण भारतीयों के दृष्टिकोण की विशालता, आत्माभिमान का प्रभाव, ज्ञान का व्यापारण अनुराग और मञ्जता थी । वे प्रत्येक जाति से ज्ञान और सचाई लेने को उत्सुक रहते थे । बराहमिहिर ने लिखा है कि 'यवन (यूनानी) म्लेच्छ हैं, पर उनमें (ज्योतिष) शास्त्र का ज्ञान है, इस कारण वे श्रमियों को तरह पूजे जाते हैं ।' आर्यभट्ट ने म्लेच्छ यूनानियों के ज्योतिष का अध्ययन किया था ।

प्राचीन काव्य स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान और विज्ञान के अन्वेषण की प्रवृत्ति थी। बौद्धों ने किसी शास्त्र से बंधे बिना दर्शन के क्षेत्र में ऊँची-से-ऊँची उड़ानें लीं। धार्मिक ने यद्यपि अपने से पूर्ववर्ती भारतीय और ग्रीक दार्शनिकों के ग्रन्थ पढ़े, किन्तु उसने उनको परम प्रमाण नहीं माना, उनका अन्धानुसरण नहीं किया। उसका कहना था—
 ‘ज्योतिष के सच्चे और झूठे सिद्धांतों के समुद्र में मैंने गहरी डुबकी लगाई है, अपनी बुद्धि की नौका से मैं सत्य-ज्ञान के बहुमूल्य मोती निकाल लाया हूँ।’

बृहत्तर भारत

बृहत्तर भारत का स्वल्प और क्षेत्र—प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार करके बिल विस्तार प्रदेश में फैली, उसे बृहत्तर भारत कहते हैं। इसमें साइबेरिया से सिङ्गल (चीनका) और ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोनियो और बालि टापुओं तक का विस्तार भू-खण्ड है। पुराने जमाने में महत्वाकांक्षी भारतीय राजा अपनी विस्तार सेनाओं द्वारा भीषण रक्तपात करके चारों दिशाओं के भूपर्तियों को परास्त कर दिग्विजय किया करते थे। किन्तु भारतीय संस्कृति ने रक्त की एक भी बुँद बहाये बिना भारत के साहसी आक्रामकों, भिक्षुओं, धर्मदूतों और व्यापारियों द्वारा एक विलक्षण दिग्विजय की। सबसे पहले दक्षिण में लंका को भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा गया। पूर्व दिशा में यमो, स्थान, चम्पा (अनाम), कम्बोज (कम्बोडिया), मलाया, जावा, सुमात्रा, बालि, बोनियो तथा के भूखण्ड भारतीय आक्रामकों ने इसमें, यहाँ अनेक शक्तिशाली हिन्दू राज्य और साम्राज्य स्थापित हुए, यहाँ के मूल निवासियों ने भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ा। प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया का यह भू-भाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय पुनानी इसे 'गंगापार का हिंद' कहते थे, आजकल यह 'वरला हिन्द' कहलाता है। उत्तर दिशा में सम्पूर्ण मध्य एशिया और अफगानिस्तान में—जहाँ आजकल प्रधान रूप से इस्लाम की तूती बोलती है—भगवान् बुद्ध की उपासना होती थी। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि भारत के उत्तर में उसे इस प्रदेश को 'उत्तरी हिन्द' का नाम दिया जा सकता है। पश्चिम में ईरान को भारतीय आर्यों के सजातीय पारसियों ने आबाद किया, पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण मिस्री, पुनानी और धरख संस्कृतियों पर भारत ने पर्याप्त प्रभाव छोड़ा।

सांस्कृतिक प्रसार के प्रेरक कारण और साधन—सांस्कृतिक प्रसार के दो प्रधान प्रेरक कारण थे। (१) प्रायिक—वितरण और व्यापार मनुष्यों की दूर-दूर के देशों में जाने और भीषण संकट उठाने के लिए प्रेरणा देता था। हिन्द महासागर में भारत की केन्द्रीय स्थिति होने से, यह पुरानी दुनिया के सम्म देशों के समुद्री रास्तों के ठीक बीचों-बीच पड़ता था। यहाँ के निवासी पश्चिम में सिन्दरिया और





पूर्व में चीन के समुद्र तक व्यापार के लिए जाते थे। उन दिनों यह समझा जाता था कि बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा में सोने की खानें हैं और इस प्रदेश को सुवर्ण भूमि और सुवर्णद्वीप कहा जाता था। अन्य वहाँ भी कहीं सोने की या सम्पत्ति की आशा होती, भारतीय व्यापारी वहाँ जाते थे। इनका जिन-बनेचर और प्रसन्न्य जातियों से सम्पर्क होता, उनपर इनकी संस्कृति का स्वाभाविक रूप से गहरा असर पड़ता।

(२) दूसरा कारण सोक-कल्याण की कामना और धर्म-प्रचार की भावना थी। इनसे अनुप्राणित होकर ऋषि-मुनि और बौद्ध भिक्षु विदेशों की जंगली जातियों में जाते और भीषण बाधाओं के बावजूद उन्हें सभ्य और उन्नत बनाते। अशोक द्वारा प्रचलित धर्म-विजय की नीति से संघटित रूप से भिक्षुओं को दूसरे देशों में बौद्ध-मत का प्रचार करने के लिए भेजा जाने लगा। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रसार के तीन मुख्य साधन व्यापारी, उपनिवेशक और धर्मदूत थे। व्यापारी वहाँ जाते, वहाँ घात-कण्ठ उनके साथ भारत का सांस्कृतिक प्रभाव भी पहुँचता था। उपनिवेशन का आशय दूसरे देशों में भारतीयों का स्थायी रूप से बस जाना था। यह काम या तो शौण्डिभ्य और अगस्त्य-जैसे ऋषि-मुनि विदेशों में अपने आश्रम और तपोवन स्थापित करके करते या क्षत्रिय राजकुमार हिन्दू राज्यों की नींव डालकर। सुवर्णद्वीप में इस प्रकार के अनेक भारतीय राज्य स्थापित हुए थे। व्यापारी विदेशों में भारतीय संस्कृति का बीज डालते और हिन्दू राज्य इसे वहाँ सुदृढ़ करते थे। किन्तु चीन और अंगोलिया-जैसे देशों ने धर्मदूतों और प्रचारकों के अनभक्त अध्यवसाय और भगोरथ प्रयत्न से बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

सांस्कृतिक प्रसार का क्रम—भारत की सीमाओं से बाहर भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम श्रीलंका में फैली। दक्षिण दिशा में बृहत्तर भारत की वही सीमा थी, क्योंकि 'इसके बाद वह समुद्र आरम्भ होता है जिसका भूमण्डल की समानि के साथ भी अन्त नहीं होता।' उपरले हिन्द में तीसरी शती ई० पू० में भारतीयों ने मध्य एशिया में उपनिवेश बनाने शुरू किये, पहली श० ई० में भारतीय संस्कृति चीन पहुँची, वहाँ से कोरिया और छठी श० ई० में कोरिया से जापान। सातवीं शती में इससे तिब्बत में प्रवेश किया और तिब्बती धर्मदूतों ने इसे तेजहवीं श० में मंगोलों तक पहुँचाया। इनसे यह मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया तक फैल गई। 'परले हिन्द' में ईसा की पहली शतियों में हिन्दूचीन, मलाया प्रायद्वीप, जावा तथा सुमात्रा आदि टापुओं में हिन्दू राज्य स्थापित हुए और भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। ये राज्य लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक बने रहे। सोलहवीं श० में इस्लाम ने इनका अन्त किया और इनकी समानि के साथ वहाँ से हिन्दू संस्कृति का भी जोष हो गया। पश्चिम दिशा में भारत का दक्षिण, उत्तर और पूर्वी दिशाओं का-सा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु लघु एशिया, ईरान, ईसाइयत तथा इस्लाम पर बौद्ध-मत असर पड़ा। इन सबका अत्यन्त संक्षेप से समाक्रम वर्णन किया जाएगा।

श्रीलंका—भारतीय अनुभूति के अनुसार श्रीलंका में सबसेप्रथम भारतीय संस्कृति का संदेश वे जाने वाले श्री रामचन्द्र थे। किन्तु मिह्वी इतिहास यह बताते हैं कि छठी श० ई० पू० में काठियावाड़ के राजकुमार विजय के नेतृत्व में भारतीयों ने इस टापू का उपनिवेश धारम्भ किया। तीसरी श० ई० पू० के मध्य में सम्राट् अशोक ने लंका में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र को भेजा। लंका का राजा देवानाम्बिय तिस्र (२४७—२०७ ई० पू०) उसका विषय बना। रानी अनुला भी भिक्षु बनना चाहती थी, अतः तिस्र ने अशोक के पास दूत भेजकर यह प्रार्थना की कि वह स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के लिए अपनी पुत्री संघमित्रा को तथा बोधि वृक्ष की एक शाखा लंका भेजे। अशोक द्वारा भिजवाई बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधपुर के एक विहार में रोप दी गई, उससे उगा पेड़ आज भी विद्यमान है और वह संसार के प्राचीनतम वृक्षों में गिना जाता है। इसके साथ ही महेन्द्र और संघमित्रा द्वारा लंका में लगाई गई बौद्ध-धर्म की शाखा आज बोधि वृक्ष की भाँति विद्याल बन गई है।

तीसरी शती ई० पूर्व से लंका में बौद्ध-धर्म का तेजी से प्रसार होने लगा। राजाओं ने उसे पुरा संरक्षण प्रदान किया। उस समय में यह उस देश का राष्ट्रीय धर्म है। उसे इस बात का भय है कि उसने बौद्ध-धर्म की ज्योति को गिछले २,००० वर्षों में प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रबल भेजावात में भी अनवरत अश्रु रूप से प्रदीप्त रखा है। महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि-भारत में उनके धर्म का लोप हो गया, अतः जब अन्य देशों को इसका शालोक पाने की आवश्यकता हुई तो लंका ही उनका गुरु बना। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में संस्कृति का मूल आधार धर्म ही था, उसी के साथ वशांभावा, नाचा, नाहित्य, कला, विद्या आदि मनुष्य की सुसंस्कृत और सम्यक् बनाने वाली कलाएँ स्वतः पैदा होती थीं। बौद्ध-धर्म ने लंका को बाहरी विधि तथा पालि भाषा प्रदान की, वहाँ वास्तु, चित्र, मूर्ति कलाओं का श्रीमण्डल, विकास और परिष्कार किया, परस्पर संघर्ष करने वाली विविध जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करके उन्हें एक मूल में परिणीत। लंका में धर्म, साहित्य और कला आदि का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ भारत ने अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त न किया हो।

उपरला हिन्द

मध्य-एशिया—तीसरी शती ई० पूर्व में अशोक के समय से भारतीयों ने मध्य एशिया (चीनी मुकिस्तान या सिकियांग) में भारतीय बस्तियों बसाना शुरू कर दिया था। काहिपान के यात्रा-विवरण तथा इस प्रदेश की प्राच्युनिक खुदाइयों से यह प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शतियों में भारतीय वहाँ फैल रहे थे और पाँचवीं शती तक समूचा मध्य एशिया भारतीय बन चुका था। काहिपान के शब्दों में सोबनोर भील के पश्चिम की सब जातियों ने भारतीय धर्म और भाषा को ग्रहण कर लिया

था। चीनी मुस्लिमान का अधिकांश भाग मध्यम है, केवल दक्षिण और उत्तर में उदियों के किनारे कुछ वाइल प्रदेशों में वस्तियां बसी हुई हैं। दक्षिण में काश्मीर और पारकान तथा सोतन; उत्तर में कुचा, कराशहर और तुरफान प्रधान वस्तियों थीं। इनमें सोतन तथा कुचा ने चीन तक भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा महत्वपूर्ण भाग निभा, दक्षिण में खरोश्टी लिपि और प्राकृत का प्रचार था; उत्तर में बाह्य लिपि और संस्कृत का।

तीसरी शती ई० तक सोतन बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन चुका था। सोतन में तथा निचा, चर्चन आदि अन्य दक्षिणी वस्तियों में उत्तर-दक्षिणी भारत से इतने अधिक भारतीय धर्म बने थे कि यहाँ की राजभाषा प्राकृत और राजलिपि खरोश्टी हो गई, चीन की सीमा तक इसका प्रयोग होता था। इस प्रदेश से मिले ८०० के लगभग लेख छप चुके हैं और ये यहाँ पर भारतीय संस्कृति के गहरे प्रभाव को सूचित करते हैं। यहाँ से मिले पत्रों में न केवल भीम, धानन्दसेन, बुद्धयोग आदि भारतीय नाम हैं किन्तु लेखहारक, दूत, चर, दिबिर (लेखक) आदि भारतीय सरकारी पद और सम्पूर्ण भी मिलती हैं। राजा को महाराज, देवगुण, प्रियदर्शन, देवमनुष्य से पूजित के विशेषण दिये गए हैं। राजाशाहें प्रायः इस वाक्य से प्रारम्भ होती हैं— महाराजः निहति (महाराजः तिलति)। मूर्ति और चित्रकला के सब समूचे भारतीय आदर्श पर हैं।

उत्तरी वस्तियों में कुचा प्रधान थी। इसे बौद्ध धर्म का केन्द्र बनाने का बहुत बड़ा श्रेय कुमारजीव नामक बौद्ध भिक्षु को है। यह एक भारतीय राजा के मंत्री कुमारायन का बेटा था और माता ने इसे काश्मीर के महान् बौद्ध आचार्यों से शिक्षा दिलवाई थी। ३८३ ई० में चीनियों ने कुचा पर आक्रमण किया, वे कुमारजीव को पकड़कर ले गए, चीन के राजा ने इसका बड़ा सम्मान किया, इसे संस्कृत ग्रन्थों का चीनी अनुवाद करने का कार्य सौंपा। ४१२ ई० में अपनी मृत्यु तक ये ६८ ग्रन्थों का भाषान्तर कर चुके थे। कुचा तथा अन्य उत्तरी वस्तियों से महापान सम्प्रदाय के बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मप्रयोग के दो नाटकों के भी कुछ अंग मिले हैं। कुचा आदि वस्तियों के राजा बौद्ध धर्म के भक्त थे, वे हरिगुण, सुखगुण आदि भारतीय नाम रखते थे। चीनी शती ई० में कुचा में ही बौद्ध मन्दिरों की संख्या दस हजार के लगभग थी।

चीन—चीन जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का पहला और क्षेत्रफल की दृष्टि से दूसरा देश है। भारत ने इतनी अधिक जनसंख्या और इतने विस्तृत भू-भाग को अपनी संस्कृति के रंग में रखा, यह वास्तव में उसके लिए बड़े अभिमान की बात है। चीन में बौद्ध धर्म का संदेश ले जाने का श्रेय कवण मातंग और अमररत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को दिया जाता है। सच्चाई निगती (५७-७६ ई०) ने इनके लिए राजधानी वे पी-मा-सी नामक विहार बनवाया। इन धर्मदूतों ने यहाँ रहते हुए बौद्ध ग्रन्थों के

चीनी अनुवादों से इस महादेश को सांस्कृतिक विजय प्रारम्भ की। २१४ ई० तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा ३५० पोलियों का अनुवाद हो चुका था। १२०० वर्षों तक भारतीय विद्वान् अपार कष्ट भेलते हुए चीन जाकर संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषान्तर करते रहे। जापानी विद्वान् नानजियों के मिगबशीय विपिटक की प्रसिद्ध सूची में चीनी में अनुवित १६६२ संस्कृत ग्रन्थों का वर्णन है। इस सूची के छपने के बाद बौद्धों ग्रन्थ नये ग्रन्थ मिले हैं। 'सुत्रावली व्युह', 'बच्चल्लेदिका' आदि अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जो भारत में लुप्त हो चुके हैं, इनका उद्धार चीनी अनुवादों से हो रहा है। प्रत्यक्ष, नागार्जुन आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों की जीवनियों का ज्ञान भी हमें चीनी साहित्य से हुआ है।

२६५ ई० तक चीन में बौद्ध-धर्म का शनैः-शनैः प्रचार हुआ, तीसरी से छठी शताब्दी ई० तक यह वहाँ बड़ी तेजी से फैला। छठी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में चीन के प्रसोक कहे जाने वाले भू-ली (५०२-५४६ ई०) ने बौद्ध-धर्म को प्रबल राज-संरक्षण दिया। कुछ बातों में वह मौल्य सम्राट् से भी आगे बढ़ गया। उसने अपने राज्य में न केवल प्राणि-वध बन्द कराया; किन्तु कपड़ों पर नानवरों के चित्रों की बुनाई तथा कढ़ाई भी राजाजा द्वारा निषिद्ध ठहराई; क्योंकि कपड़ों की कढ़ाई होने पर उनकी हत्या की सम्भावना थी। ऐसे कट्टर बौद्ध सम्राटों के प्रबल संरक्षण का यह फल हुआ कि छठी शताब्दी में चीन में बौद्ध मन्दिरों की संख्या ३० हजार हो गई और २० लाख व्यक्ति बौद्ध पुरोहित बने। एक चीनी इतिहासकार के शब्दों में उस समय तक प्रत्येक घर बौद्ध बन चुका था। इतने शक्ति-व्यक्ति भिक्षु बनते थे कि मज्जपुरों के सभास में नेता का काम उपेक्षित हो रहा था। तांगवंश का समय (६१८-६७७ ई०) चीन में बौद्ध-धर्म का स्वर्ण-युग था। तांगवंशी सम्राटों की इस धर्म के प्रति भक्ति पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी। इसी वंश के समय में युआन-चांग भारत आया और यहाँ से ६५७ पुस्तकें ले गया, उससे पहले फाहियान आदि तथा बाद में इतिहास प्रभृति सैकड़ों श्रद्धालु चीनी भारत की तीर्थ-यात्रा करने आये। ६६४-६७६ के बीच में इनकी संख्या ३०० थी।

तेरहवीं शती में मंगोल सम्राटों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। मंगोलों द्वारा इसका प्रसार मंगोलिया, मन्चूरिया और साइबेरिया में हुआ।

कोरिया तथा जपान—बौद्ध-धर्म चीन से कोरिया पहुँचा, पाँचवीं शती तक सारा कोरिया बुद्ध का उपासक बन चुका था। छठी शताब्दी में कोरिया के एक राजा ने जापानी सम्राट् के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए उसे कुछ उपहार भेजे (५२२ ई०); इनमें बौद्ध-धर्म के ग्रन्थ तथा मूर्तियाँ भी थीं। इसके साथ ही एक पत्र में बौद्ध-धर्म स्वीकार करने का अनुरोध था। शुरू में जापान में इसका कुछ विरोध हुआ; किन्तु बौद्ध ही इन राज-संरक्षण मिलने लगा। सम्राट् शोम्मु (७२४-७५६ ई०) ने अपार धन-राशि का व्यय करके बुद्ध की एक बहुत बड़ी फाँस

प्रतिमा बनवाई। यह दुनिया की विशालतम प्रतिमा है, इसकी ऊँचाई ५३२ फीट है। मधुमे मन्त्रकाल में बौद्ध-धर्म को राजाओं का समर्थन मिलता रहा। १८६७ ई० तक जापान की शक्तिशाली उपजि का श्रेय बौद्ध-धर्म और भारतीय संस्कृति को ही था।

तिब्बत—सातवीं शती में श्रीगन्धर्व गम्पो ने छोटी-छोटी रियासतें जीतकर शक्तिशाली तिब्बत राष्ट्र का निर्माण किया। तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रवेश कराने का श्रेय इसी राजा को है। इसने चीन तथा नेपाल के राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। दोनों राजकुमारियाँ बौद्ध थीं और इस विवाहों का वास्तविक परिणाम तिब्बत और बौद्ध-धर्म का पाणिग्रहण था। तिब्बत को कर्मात्मता की धारण्यता थी, वह चीन संभोट नामक तिब्बती विद्वान् को काश्मीर भेजकर प्रान्त की गई, इसके बाद भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद में वहाँ आर्योन्नीय संस्कृति का आलोक फैलने लगा। सातवीं शती से तिब्बती राजाओं ने भारतीय विद्वानों को अपने देश में बुलाना शुरू किया। बौद्ध-धर्म के कट्टर भक्त सिम्तोङ् (७४३-७८२ ई०) ने मातृगन्ध के आचार्य शान्तरक्षित को निमन्त्रित किया (७४७ ई०)। आचार्य की धारु उस समय ७५ वर्ष की थी। इस अवस्था में उन्होंने धर्म-प्रचार के उत्साह में १६ हजार फीट ऊँचे दर्रे और दुर्गम पारिर्ता पार की। उदयपुरी (बिहार शरीफ) के अनुकरण पर तिब्बत में समये नामक पहला बिहार बनवाने वाले यही थे, उन्होंने सर्वप्रथम कुछ तिब्बतियों को मित्र बनाया तथा बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। इसी समय काश्मीर के आचार्य पद्मसंभव ने भारतीय तन्त्रवाद द्वारा तिब्बत में बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाया। १०२८ ई० में आचार्य दीपकर श्रीमान तिब्बत गए, उन्होंने तन्त्रयान का प्रचार किया। मन्त्रकाल में तिब्बत में राजाओं की शक्ति शीघ्र हो गई और उनका स्थान विहारों ने ले लिया। १४०० ई० से तिब्बत में सामावाद का उत्कर्ष हुआ।

तिब्बत को अन्तर्गत और कर्बुर दशा से निकालकर सम्भता का पाठ पढ़ाने वाला भारत ही था।

परला हिन्द

परले हिन्द अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारत ने न केवल अपना सांस्कृतिक प्रसार किया, किन्तु अनेक शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों की भी स्थापना की। वहाँ पहले इस प्रदेश के हिन्दु उपनिवेशों और बस्तियों का उल्लेख किया जायेगा और बाद में सांस्कृतिक प्रभाव का।

हिन्द-चीन के राज्य—हिन्द-चीन के प्रायद्वीप में भारतीयों के दो शक्तिशाली राज्य मीकांग नदी के मुहाने पर वर्तमान कम्बोडिया प्रान्त तथा अनाम में स्थापित हुए। कम्बोडिया प्रान्त में पहले तीसरी से सातवीं शती तक धृमान नामक हिन्दु राज्य प्रबल रहा और बाद में कम्बुज का उत्कर्ष हुआ। अनाम प्रान्त के हिन्दु राज्य का

प्राचीन नाम कम्पा था। इसे सम्मिलित हुए सभी कुल तथा सौ वर्ष हुए हैं। ये सभी राज्य षेड हजार वर्ष से भी अधिक काल तक टिके रहे।

फुनान—चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि फुनान में पहले जंगली जातिवासी रहती थीं, स्त्री-मुख्य नस्ल प्रभुत्व थी। उन्हें सम्मता का पाठ पढ़ाने वाला हुएन-तीन या कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण था। इसने वहाँ की सोमा नामक नायी (नामों को पुष्कने वाली आग्नेय जाति की कन्या) से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। १०० वर्ष तक इसके वंशज नदी पर बँटते रहे। इसके बाद अन्तिम राजा का सेनापति फन-ये-मन राजा बना (२०० ई०)। इसने शक्तिशाली नौसेना द्वारा अनेक पड़ोसी राज्य जीते और स्वाम, लमोस और मलाया प्रायद्वीप के कुछ भागों पर प्रभुता स्थापित करके इस प्रदेश में पहला भारतीय साम्राज्य स्थापित किया। चौथी स० ई० के अन्त में या पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कौण्डिन्य नाम का दूसरा ब्राह्मण भारत से आया और प्रजा ने इसे राजा चुना। इसके एक वंशज जयवर्मा ने ४८४ ई० में नारसेन नामक परित्राजक को राजपूत बनाकर चीन भेजा। उस समय फुनान में बौद्ध-धर्म की प्रधानता थी और बौद्ध-धर्म का भी बोझा-बहुत प्रचार था। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में कम्बुज के आक्रमणों से फुनान का अन्त हो गया।

कम्बुज—कम्बुज राज्य का मूल स्थान कम्बोडिया के उत्तरपूर्व में था। यह पहले फुनान के अधीन था, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में इसे अतुवर्मा ने स्वाधीन किया। स्वतन्त्र होने के बाद यह शक्तिशाली बना, किन्तु कम्बुज के ६७४ ईस्वी में ८०२ ईस्वी तक के इतिहास पर अभी तक सन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है। इसके बाद कम्बुज का स्वर्णयुग शुरू हुआ। इन्द्रवर्मा (८७७-८८६ ई०) का यह दावा था कि 'कम्पा प्रायद्वीप और चीन के समस्त उसको आजाधों का पालन करते हैं।' अमला राजा यशोधर्मा (८८६-९०८ ई०) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। राजाधर्मियों के शब्दों में वह 'द्वितीय मनु', परदुराम से भी अधिक उदार, धर्मान, भीम-जैसा वीर, सुभूत-सा विद्वान्, शिल्प, भाषा, लिपि और नृत्य-कला में पारंगत था। यह यशोधरपुर (बङ्कोर सोम) का संस्थापक था। इसने भारतीय तपोवनों और गुम्बजों के उग पर कम्बुज राज्य में आश्रमों की स्थापना की थी। इनका सम्पूर्ण कुलपति कहलाता था। इसका मुख्य कार्य अण्डयन-अध्यापन तथा ज्ञान की ज्योति को सदैव प्रज्वलित रखना था। कम्बुज में वे आश्रम हिन्दू-संस्कृति के प्रधान गढ़ थे।

ग्यारहवीं सदी में कम्बुज का अन्तपूर्व उत्कर्ष हुआ। जब भारत में महमूद गजनवी और बहाजुद्दीन खोरी के आक्रमणों से हिन्दू राज्य विध्वस्त हो रहे थे, उस समय कम्बुज का साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से चीन सागर तक विस्तीर्ण हो रहा था। जिस समय उत्तर भारत में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा मन्दिरों का विनाश हो रहा था, उस समय कम्बुज में बङ्कोर के विश्व-विख्यात मन्दिर बन रहे थे। सूर्यवर्मा द्वितीय (११४३-४५) ने बङ्कोरखत का तथा जयवर्मा सातम (११८६-

१२०० ई०) ने अङ्गुलीय शीम का निर्माण कराया। इसके बाद कम्बुज का ह्रास होने लगा, पहले वह स्वाम से पद-दलित हुआ और उन्नीसवीं शती में फाँस के अधीन हुआ।

चम्पा—वीतनाम (हिन्द-चीन) में दूसरा हिन्दू राज्य चम्पा था। यह पित्तली शती में १२२ ई० तक बना रहा। १८०० वर्ष तक आर्यप्राण चम्पा निवासी क्षत्री स्वतन्त्रता के लिए चीनियों, अनामियों, मंगोलों तथा कम्बुजवासियों से जुझते रहे। इनका पहला ऐतिहासिक राजा श्रीमार माना जाता है। इसका राज्य-काल दूसरी शती ई० का अन्तिम भाग है। इसके आरम्भिक राजाओं में भर्ममहाराज श्री भद्रवर्मा (३८०-४१३ ई०) और गंगाराज (४१३-४१५ ई०) हैं। पहला राजा शिव का परम भक्त तथा 'चतुर्वेदजाता' था; उसने भद्रेश्वर स्वामी के नाम से मिसोन में शिव का मन्दिर बनवाया। दूसरे राजा के समय आन्तरिक झगड़े काफी बढ़ गए और वह राज-पाट छोड़कर अपना अन्तिम जीवन गंगा के तट पर बिताने के लिए भारत चला गया। भद्रवर्मा का चारों वेदों का ज्ञाता होना तथा गंगाराज की तीर्थ-यात्रा चीनी-पाँचवीं श० में चम्पा पर सहरे भारतीय प्रभाव को सूचित करते हैं। इसवीं शती तक चम्पा पर कमथ; गंगाराज के बंसजों तथा पाण्डुरंग (७५८-८६० ई०) और भृगुवंश (८७०-९७२ ई०) के राजाओं ने शासन किया। ये सब हिन्दू-धर्म के कट्टर भक्त थे, नये-नये मन्दिरों की स्थापना करके, उन्हें खूब दान देते थे। चम्पा में भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन होता था। इन्द्रवर्म तीतीय (९११-९७२ ई०) को एक अभिलेख में पट्ट दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, शाक्यान तथा श्रौतों के उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित बताया गया है। इसवीं शती से चम्पा पर उत्तर से अनामियों के आक्रमण शुरू हुए तथा इसका ह्रास होने लगा। अगले आठ-सौ वर्ष तक चम अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे। १८२२ ई० में जब अनामी आक्रमणों का दौर तक प्रतिरोध असम्भव हो गया तो अन्तिम चमराजा स्वदेश छोड़कर कम्बुज चला गया और इस प्रकार मातृभूमि भारत से सैकड़ों मील दूर, भारत से कुछ भी सहायता न पाते हुए वेद हजार वर्ष तक प्रतिकूल परिस्थितियों और भीषण आक्रमणों में स्वतन्त्रता की पुण्य-पताका को सदा ऊँचा रखने वाले गौरवपूर्ण हिन्दू राज्य का अन्त हो गया।

मलाया द्वीप समूह (मुबर्ण द्वीप)—छठी श० ई० पू० से भारतीय व्यापारी इस प्रदेश में जाने लगे थे। पहली श० ई० से हमें भारतीय ग्रन्थों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों में इस बात के निश्चित संकेत मिलते हैं कि कस्तिन-तट के दन्तपुर आदि बन्दरगाहों से विदेश जाने वाले भारतीय मुबर्णद्वीप का आवासन करने लगे थे। कनै-लनै: इन्होंने मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बालि में हिन्दू राज्य स्थापित किये। हजार वर्ष तक इनकी सत्ता बनी रही। इस सहस्राब्दी में दो ऐसे अवसर भी आए जब सारा मुबर्ण द्वीप एक शासन-सूत्र में संगठित हुआ—पहली बार शैलेश्वरवर्मा के अधीन और दूसरी बार विस्वविक्रम (मजपहित) साम्राज्य के रूप में।

बालि—बालि द्वीप इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सुवर्णद्वीप के अन्य भागों में तो इस्लाम द्वारा भारतीय संस्कृति का अन्त हो चुका है किन्तु बालि में यह आज भी जीवित रूप में है। इस टापु में भारतीयों के अपने तथा राज्य स्थापित करने का श्रृङ्खलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता। छठी तथा सातवीं शताब्दी में यहाँ कौण्डिन्य नामक अन्तिम राजा राज्य करते थे और बीड़ों के मूल सर्वाधिकारी सम्प्रदाय की प्रधानता थी। दसवीं शताब्दी में उपसेन, कैसरी आदि भारतीय नामधारी राजाओं ने शासन किया। जावा के साथ लगा होने से यह प्रायः जावा के अधीन रहा। जब जावा के राजा अपने देश की मुस्लिम आक्रमणों से रक्षा न कर सके तो वे बालि चले गये और यहाँ हिन्दू-धर्म को परम्परा आज तक यथापूर्व बनी हुई है।

बोनिफो—सकुलपुर या वाण द्वीप (बोनिफो) के सुदूरवर्ती टापु को हिन्दू आवासका औषी शताब्दी ई० तक बसा चुके थे। इस द्वीप के कुतरे नामक स्थान से उपलब्ध चार अभिलेखों से यह ज्ञात हुआ है कि उस समय यहाँ बोनिफो में मूलधर्मों नामक भारतीय राजा शासन करता था। वह हिन्दू संस्कृति का परम भक्त था। उसने 'बहुभुवर्णक' नामक यज्ञ करके ब्राह्मणों को बीस हजार गौएँ तथा अन्य बहुत सा दान दिया था। १२२५ ई० में मध्य तथा पूर्वी बोनिफो में पुरातत्त्ववी अनुसन्धान से महादेव, लन्दी, कातिकेय, मरीस, अमरस्य, ब्रह्मा तथा स्कन्द की मूर्तियाँ मिली हैं। बोनिफो के निकटवर्ती सेन्तोब्रीज टापु में बुद्ध की सुविशाल विसल प्रतिमा पाई गई है। ये सब अवशेष इन द्वीपों में भारतीय संस्कृति के गहरे और व्यापक प्रभाव को सुचित करते हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव—जब भारतीयों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रवेश करके अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित किये, उस समय यह भूखण्ड बर्बर जातियों द्वारा आवासित था। यहाँ के निवासी जंगली, असभ्य और बड़े कुत्तार थे। हिन्दू आवासकों ने इन्हें अपने धर्म, वर्णमाला, भाषा, साहित्य, सामाजिक रीति-रिवाज, आचार-विचार, नैतिक व राजनैतिक आदर्श, मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं की शिक्षा देकर सभ्य बनाया। जीवन का शायद ही कोई पहलु ऐसा बचा हो, जो उनके प्रभाव से अछूता रह पाया हो।

सुवर्ण द्वीप के आवासन का श्रेय हिन्दू राजकुमारों और ब्राह्मणों को है, अतः यहाँ भी और वैष्णव धर्मों की प्रधानता रही। बोनिफो से मिली हिन्दू-देवताओं की प्रतिमाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जावा से शिव, विष्णु, लक्ष्मी, स्कन्द की सैकड़ों मूर्तियाँ मिली हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ काथोर्ड ने जावा के सम्बन्ध में लिखा था कि पुराणों का शायद ही कोई ऐसा देवता हो, जिसकी प्रतिमा जावा में न पाई गई हो। इस समय भी बालि के शिल्पी इन्द्र, विष्णु, कृष्ण की मूर्तियाँ बनाते हैं। यहाँ के निवासी भारतीय विधि से दुर्गा तथा शिव की पूजा करते हैं। कर्म-काण्ड और

पूजा-पद्धत बिलकुल हिन्दू है। इसमें जल-पात्र, माला, कुशा, तिल, पुत, मधु, अक्षत, धूप, दीप, पण्डी और मन्त्रों का प्रयोग होता है; जातकर्म, नामकरण, विवाह, अश्वमेध आदि हिन्दू संस्कारों का प्रचार है। वर्ण-व्यवस्था, मन्त्रों विवाह तथा सती प्रथा की पद्धति प्रचलित है। वर्तमान समय में बालि में दिखाई देने वाला यह हिन्दू प्रभाव प्राचीन काल में समूचे सुवर्णद्वीप में विस्तीर्ण था।

इस प्रभाव की पुष्टि साहित्य और कला से भी होती है। सुवर्णद्वीप में सर्वत्र बाह्यी वर्णमाला और संस्कृत भाषा का प्रसार था। कम्प्या से ७० तथा कम्बुज से ३०० के लगभग संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। ये संस्कृत काव्यों की शैली का अनुसरण करते हुए, निर्दोष, सलित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल भाषा में लिखे हुए हैं। इससे बात होता है कि इनके लेखकों का संस्कृत भाषा, व्याकरण, पुराणों, काव्यों से प्रगाढ़ परिचय था। मन्दिरों में प्रतिदिन रामायण, महाभारत और पुराणों के अन्तर्गत पाठ तथा कर्माग होता था। धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लौकिक साहित्य का भी अनुशीलन होता था। कम्बुज के राजा मसोवर्मा ने पातञ्जल महाभाष्य पर टीका लिखी थी।

भारतीय धर्म और साहित्य के साथ सुवर्णद्वीप में भारतीय कला का भी प्रसार हुआ। कम्बुज की मूर्ति-कला गुप्तयुगीन कला से श्रानुर्भूत हुई थी। किन्तु शनैः-शनैः अम्बास से मिली इस कला में इतने प्रवीण हो गए कि उन्होंने 'पापाणों में अमर काव्यों' की रचना कर डाली। कम्बोदिया तथा जावा के मन्दिरों में रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण के दृश्यों की मूर्तिकारों ने अपनी छेनीयों से पत्थरों पर बड़ी सफाई और सफलता के साथ कोटा है। वास्तु कला का उच्चतम विकास बङ्गाल और तथा बम्बुङ्गर के अद्वितीय मन्दिरों में मिलता है। इस प्रकार के देवालय न भारत में पाये जाते हैं और न किसी दूसरे देश में। वे विश्व की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं तथा इन प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के अमर स्मारक हैं।

पश्चिमी जगत—पश्चिमी जगत में भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्वी एशिया-जैना अधिका प्रभाव नहीं पड़ा। सम्भवतः अशोक द्वारा पश्चिमी एशिया की भेजे गए बौद्ध-प्रचारकों ने जंगलों में जाकर उपस्था करने वाले वैराग्य और समाधि पर बल देने वाले ब्रह्मचर्य व्रत के पातक ऐसनीय और वेराभूट सम्प्रदायों पर प्रभाव डाला। सिकन्दरिया में होने वाली हर्मीवाद, अधिष्ठानवाद और नव प्लेटोवाद नामक विचारधाराओं ने भारतीय प्रदर्शनों से कुछ बाले ग्रहण की। दूसरी शती ई० पूर्व में कृष्ण के उपनिषद् भारतीयों ने करात नदी के उपरले हिस्से में हिन्दू-मन्दिर स्थापित किये। चौथी शती ई० में ईसाई-प्रचारकों ने इनका विध्वंस किया। इस्लाम के मुस्लीमवाद पर बौद्ध-धर्म और वेदांत का प्रभाव है। अम्बासी खलीफाओं के प्रोत्साहन से जगदाद में आधुनिक, गणित, ज्योतिष आदि विविध विज्ञानों के संस्कृत ग्रन्थों का

अरबी अनुवाद हुआ, अरबी ने भारत की दशगुणोत्तर संकलन-व्यक्ति के साथ इन विज्ञानों को यूरोप पहुँचाया। सत्य-धर्म की बहुत-सी बातों के लिए पश्चिमी जगत भारत का ऋणी है।

उपसंहार—बृहत्तर भारत हमारे प्राचीन इतिहास की सबसे सुतहली कृतियों में से है। वेड़ हजार वर्ष तक भारतीय विश्व के बड़े भाग की जंगली जातियों के बीच में बसाकर उन्हें सम्भला और संस्कृति का पाठ पढ़ाते रहे। संसार में हजारों निर्दोष व्यक्तियों का कुल बहाकर दिम्बिज्य करने वाले तथा विशाल साम्राज्य बनाने वाले सिकन्दर, सीजर, चंगेजखाँ, तैमूर और नैपोलियन-जैसे विजेताओं की कमी नहीं। किन्तु विश्व के इतिहास में भारत की सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई दूसरी विजय नहीं हुई। “भारत ने उस समय धार्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किए थे। जब कि सारा संसार अंधारतापूर्ण कुरियों में डूबा हुआ था। पश्चिमी भाग के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत हैं पर उन्नतता की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़-चढ़कर थे; क्योंकि वे वर्तमान साम्राज्यों की भाँति तोपों, वायुयानों और विद्युत्-गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और अज्ञान के आधार पर खड़े हुए थे।”

मध्यकालीन संस्कृति

भवनति का प्रारम्भ—गुप्त युग भारतीय इतिहास की सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक समुन्नति का स्वर्ण युग था; किन्तु राजपूत युग अथवा मध्य-काल (५४०-१४२६ ई०) में सर्वतोमुखी भवनति शुरु हो जाती है। हमारे जातीय जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति-शीलता, नवीनता, मौलिकता और दृष्टिकोण की विचालता समाप्त हो जाती है, इनके स्थान पर भक्तता, प्रतिगामिता, शिथिलता और सर्वोन्नता की प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगती हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार दो हजार वर्ष तक निरन्तर प्रगति करने के बाद, हमारा राष्ट्र यकाम और बुझने का अनुभव करता है। शनैः-शनैः जीवन की क्रियाशीलता, उत्साह, साहस और पराक्रम लुप्त हो जाते हैं, दुःखावस्था की कटुता, घम-श्रेम, कृत्रिमता और अनुदारता के गुण प्रबल होते हैं। धार्मिक क्षेत्र में तम का कर्मकाण्ड बढ़ता और परलोकवाद की प्रधानता मध्य युग की मुख्य विशेषता थी। गुप्त युग तक भारतीय जीवन में 'धर्म' और 'काम' तथा 'धर्म' और 'मोक्ष' में संतुलन था, अन्य विचाराओं की प्रधानता नहीं थी, सामान्य हिन्दू का दैनिक जीवन व्रत, उपवास, पूजा-पाठ के नियमों से जड़ित नहीं बना था। तिथि, वार, मशय, ग्रहों की बहुत कम महत्ता थी, जीवन को क्षणिक और मशय मानकर उससे उर्वेक्षा नहीं की जाती थी। ६०० ई० के बाद के सैकड़ों में प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य और समृद्धि की निःसारता पर बहुत बल दिया गया है, किन्तु गुप्त-युग तक ऐसी बात नहीं थी। राजनीतिक क्षेत्र में पहले युगों में भारतीय युवानियों, शकों, कुशाणों तथा हूणों को पराभूत करते रहते थे, किन्तु इस युग के अन्त में विदेशी आक्रान्ताओं को हराने की बात तो दूर रही, उत्तर भारत पर उनकी प्रभुता स्थापित हो जाती है। सामाजिक क्षेत्र में भी यही भवनति दिखाई देती है, पहले युगों में विदेशी जातियों को पचाने तथा आत्मसात् करने वाला हिन्दू-समाज इस समय तक अपना पाचन-साध्य नहीं बैठता है, तुर्क और मंगोल उसका शत्रु नहीं बन पाते। बौद्धिक क्षेत्र में धन्येयता और मौलिकता की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, दार्शनिक धपना सारा पश्चिमी पुराने ग्रन्थों की टीकाओं में तथा बात की खाल निकालने में व्यय करते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में पुरानों प्रवाद-गुण-सम्पन्न काव्यवाचन आदि महाकवियों की रचना का स्थान माध और धीहृष की धलंकार-अभाव काव्य-शैली से लेती है। इस प्रकार सांस्कृतिक

जीवन के सभी पहलुओं में नवीनता और प्रगतिशीलता का स्थान क्षीयता और ह्रास ले लेते हैं।

किन्तु यह क्षीयता सहसा ही प्रारम्भ नहीं हो गई; जवानों से युवावस्था का परिवर्तन कई बरसों में होता है, हमारे राष्ट्र को इसमें कई छतियाँ लगीं। पूरे हजार वर्षों बाद ह्रास की प्रवृत्तियाँ प्रधान हुईं। किन्तु इस सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण हुआ। मध्यकाल की कला में गुप्त-युग की नवीनता नहीं, किन्तु जालित्य और मजबूती की दृष्टि से वे अनुपम हैं। शंकर का श्रद्धावादी भी इसी युग की देन है। यहाँ मध्यकालीन समाज, साहित्य और वैज्ञानिक उत्थिति पर ही विशेष प्रकाश डाला जावेगा। संस्कृति के अन्य धर्मों—धर्म, शासन तथा कला का वर्णन छोड़े, तोरहवें तथा चौदहवें सप्ताहों में हुआ है इसके साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में सांस्कृतिक ह्रास के कारणों की भी विवेचना की जायगी।

१. सामाजिक वशा

वर्ण-व्यवस्था—मध्यकाल के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान जात-पात का रूप ग्रहण करना था। नदों का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे-छोटे जोहड़ बन जाते हैं, वैसे ही भारतीय समाज में प्रगति बन्द होने से विभिन्न जातियाँ बन गईं। सामाजिक ऊँच-नीच के जितने दरजे थे उन्होंने अपने कुल गिन लिये, इनमें शादी-ब्याह का दायरा हमेशा के लिए सीमित कर लिया गया। इस प्रकार जातियों के बन जाने से हिन्दू-समाज को पुरानी पाचन शक्ति और सात्विकीकरण (Assimilation) की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो गई। जैसे पहले उसमें विदेशी जातियाँ आकर मिलती रही थीं, अब वंसा सम्भव न रहा। मध्य-युग में दो ऐसे बड़े उदाहरण हैं जिनमें हिन्दुओं ने विदेशियों को अपने में मिलाया। ११७८ ई० में शहाबुद्दीन गौरी को हराते के बाद मुजरातियों ने उसकी फौज का बड़ा घेरा कैंद कर लिया। कैंदियों को हिन्दू बनाकर अपनी जातियों में मिला लिया। तेरहवीं सदी में मंगोल-वंशीय बहोम आक्राम में आये, वे धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में पुनर्-मिल गए। यह सब पुराने पाचन-सामर्थ्य से हुआ, किन्तु साधारण रूप से हिन्दू-समाज जाति के बन्धन कड़े करके उसमें नये तत्त्वों का प्रवेश रोक रखा था। ये बन्धन प्रधान रूप से खान-पान, पेशे और विवाह के थे। पहले दो बन्धनों में अभी तक काफी लचकिलापन था और तीसरा बन्धन तेरहवीं सदी से सुदृढ़ होने लगा। आजकल अपनी जाति और बिरादरी में खान-पान होता है किन्तु 'व्यास-स्मृति' के अनुसार साईं, दास, खाले वंश-परम्परागत मित्र के शूद्र होने पर भी इनके साथ खाने में कोई दोष न था। पेशे की आजादी भी इस समय तक काफी बनी हुई थी, स्मृतियों में ब्राह्मणों को कुम्हिल करने तथा विशिष्ट व्यवसायों पर ब्राह्मण तथा वैश्य को उत्तर ग्रहण करने का भी अधिकार दिया गया है। शत्रु केवल तलवार ही नहीं चलाते थे, किन्तु जेलगी द्वारा गृहचतुर्ण नवीन रचनाएँ भी प्रस्तुत करते थे। चौहान राजा विग्रहाराज

का 'हरकेलि नाटक' सिखाओं पर खुदा हुआ आज भी उपलब्ध है, राजा भोज की विद्वत्ता जगद्वसिष्ठ है, पूर्वोक्त चानुक्त्य राजा विनयादित्य गणित का बड़ा प्रकाण्ड पण्डित था, इसीलिए उसे गुणक कहते थे। वैश्य भी इस समय कृषि-कार्य छोड़कर अन्य काम करते थे। उनके राज-कार्य करने, राज-मन्त्री होने, सेनापति बनने और मुर्दों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैश्यों ने दस्तकारी, कारीगरी आदि के श्राव्य सभी कार्य छोड़ दिए। हाथ के सब काम धूर्तों के पास चले गए।

जाति-भेद का सबसे जबरदस्त बन्धन अपनी ही जाति में विवाह का नियम है, यह इस युग में शर्नः-शर्नः कठोर हुआ। प्रारम्भ में सबसे विवाह श्रेष्ठ समझा जाने पर भी अन्य वर्णों से विवाह का नियम प्रचलित था। पहले यह बताया जा चुका है कि ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय वैश्य-कन्याओं के विहित होते हुए भी शूद्र-कन्या से पाणिग्रहण निषिद्ध समझा जाता था, किन्तु फिर भी समाज में इसका प्रचलन था। सातवीं शती में महाकवि वाण ने शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के पुत्र अपने गारक्ष्व भाई का उत्प्रेषण किया है। इस समय के धर्मिलेखों में अनेक प्रतिषेध (उच्च वर्ण के पुरुष का हीन वर्ण की स्त्री के साथ सम्बन्ध) विवाहों का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण-कवि राजशेखर ने बौद्धान-कन्या अचन्ति सुन्दरी से विवाह किया था। बारहवीं शती तक ऐसे विवाह बहुत होते थे। तेरहवीं शती से निबन्धकारों ने असम्पूर्ण विवाह को कलिवर्ष्य (कलियुग में निषिद्ध) कहकर उसकी निंदा करना शुरू की। 'स्मृति-चन्द्रिका' (१२००-१२२५) ने इसमें पहल की। 'हिमाद्रि' (१२६०-७७) ने भी इनका विरोध किया। बाद में रघुनन्दन व कमलाकर ने भी इसे कलिकात् में निषिद्ध ठहराया और यह व्यवस्था हिन्दू-समाज में सर्वमान्य हो गई।

किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि बाद में हिन्दू-विवाह में वर्णों की ही नहीं, किन्तु उपजाति की समानता भी आवश्यक समझी जाने लगी। बारहों में इसका कहीं उल्लेख नहीं। इनमें प्रधान रूप से वर्णों तथा कुछ संकर जातियों का वर्णन है किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की अन्तर्गत जातियों का कहीं संकेत नहीं। ३०० ईस्वी से १००० ई० तक ब्राह्मण विभिन्न जातियों से नहीं बँटे थे, उनमें शाला और गोष का ही भेद था। बारहवीं श० से इनमें प्रदेश तथा पेड़े के आधार पर भेद किए जाने लगे। द्विवेदी, चतुर्वेदी, पाठक, उपाध्याय आदि पेशों के तथा मामुर, गौड़, सारस्वत, क्षौदीन्य आदि प्रादेशिक भेदों को सूचित करने वाली ब्राह्मण उपजातियाँ बनने लगीं। इनका अनुकरण क्षत्रियों और वैश्यों ने भी किया। उपजातियाँ बनाने और उनके अन्तर बाँधी करने का नियम संवामक रीति की तरह समाज के सब वर्गों में फैल गया। उत्तर भारत के प्रदेशों में ही इस समय १,३५६ उपजातियाँ ऐसी हैं जो चापल से विवाह नहीं करतीं। हिन्दू समाज ३,००० उपजातियों में बँट गया। इस अंश में जाट-पाँत के गुण-दोष की विवेचना उचित जान पड़ती है।

वर्ग व्यवस्था का उद्देश्य तथा मूल—प्राचीन काल की वर्ग-व्यवस्था उसके धार्मिक रूप जात-पति से सर्वथा भिन्न थी। यह समाज के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने का सुन्दर उपाय था। प्राचीन भारतीय समाज में उच्च धार्मिक सत्य-चिन्ताओं में सन्तुष्ट रहने वाले ब्राह्मणों से लेकर निम्न वर्ग, जंगली जातियों तक—सभी प्रकार की विभिन्न संस्कृतियों वाले वर्ग थे। भारतीय दर्शन में विचारकों ने जिस प्रकार सदैवतत्वाद् द्वारा बहुत में एकत्व देखा था, उसी प्रकार उन्होंने समाज के माना-वर्गों में एकता का ठरवा दे देने के लिए वर्ग-व्यवस्था की कल्पना की। समाज के छोटे-बड़े सभी वर्ग एक ही विराट् पुरुष के विभिन्न अंग माने गए, ब्राह्मण उसके मुख थे, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य जघन तथा शूद्र पैर। यह विभाग कार्यपरक था, जन्ममूलक नहीं था। यह भी समझ लेना चाहिए कि यह शास्त्रकारों की एक आदर्श कल्पना ही थी, वास्तविक स्थिति नहीं। किन्तु इस कल्पना द्वारा उन्होंने प्राचीन भारत के पूवक् साधार-विचार, विभिन्न पूजा-पद्धति, धर्म-कर्म तथा नस्ल वाले विविध वर्गों को एक विशाल समाज का अंग बनाकर उनमें सहरी सांस्कृतिक एकता का बीजारोपण किया, उनमें एकानुभूति की भावना उत्पन्न करके उन्हें एक सूत्र में पिरोया। आर्यों के सामने विविध जातियों का अर्थ हल करने के तीन उपाय थे। पहला तो यह कि इन्हें विकास के लिए बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इससे भारत की सांस्कृतिक एकता न बनने पाती। यूरोपीय राष्ट्रों की भाँति यहाँ भी जातीय विद्वेष से कलुषित रक्त-रंजित भीषण गृह-युद्ध होते रहते। यूरोप में धर्म और संस्कृति की समानता होने से यूरोपियन एकता का आधार विद्यमान है, फिर भी वह छोड़ राष्ट्रों का समूह-मान है। भारत की विभिन्न जातियों में एकता लाने का दूसरा उपाय शक्ति का प्रयोग, दमन और पिरोधी तत्त्वों का उन्मूलन था। भारतीय विचारक स्वभावतः सहिष्णु थे, उन्हें यह हिंसक उपाय पसन्द नहीं था। अतः उन्होंने ऐसा तीसरा उपाय देखा, जिसमें प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति को पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता देते हुए उसे विराट् समाज का अंग माना गया। शुरू में वर्ग-व्यवस्था का संगठन बहुत ही लचकीला था सब अपने को एक ही समाज का अंग मानते थे; अतः उनमें उस वर्ग-संघर्ष नहीं हुए। अतः एक ही शरीर के अंग हाथ, पैर और पैर आपस में कैसे लड़ सकते थे? इसमें कोई संदेह नहीं कि "अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्ग-व्यवस्था एक विशाल देश में निवास करने वाले तथा विभिन्न विचार, विश्वास और नस्ल रखने वाले विविध वर्गों की एक सूत्र में पिरोने का सफलतम प्रयत्न था।"

जात-पति की हानियाँ—किन्तु जब वर्ग-व्यवस्था ने कर्म-मूलक के स्थान पर जन्म-मूलक रूप धारण किया, उसमें पुराना लचकीलापन न रहा तो वह अन्तर्हीन तथा देश के लिए बरदान की अपेक्षा अभिशाप अधिक सिद्ध हुई। प्रारम्भ में यह अवस्था कुछ मानप्रद थी। मध्यकाल में इसका प्रधान कार्य हिन्दू-धर्म और समाज की रक्षा था। मुस्लिम आक्रमणों में इसने अवर्द्धत क्षान का काम किया। भारत के अतिरिक्त

मिस्र, ईराक, ईरान आदि जिन देशों में इस्लाम गया, उसने सर्वत्र पुरानी जातियों और संस्कृतियों को भग्नसात् करके उन्हें हजरत मुहम्मद का अनुयायी बना दिया, किन्तु भारत में उसे ऐसी सफलता नहीं मिली। इसका प्रधान कारण जाति-भेद की कठोर व्यवस्था थी। जाति-भेद का यह उज्ज्वलतम पहलू है कि उसने हिन्दू जाति को नष्ट होने से बचा लिया।

जाति-पात के दुष्परिणाम—किन्तु इसके साथ ही हमें जाति-पात द्वारा होने वाले दुष्परिणामों और हानियों से भी अपनी दृष्टि ओझल नहीं करनी चाहिए।

इसका पहला दुष्परिणाम हिन्दू जाति को निर्बल तथा राष्ट्रीय एकता को अतन्त्र बना देना है। इसने हिन्दू-समाज को तीन हजार हिस्सों में बाँटकर बिलकुल दुर्बल बना दिया है, यह जातीय एकता और संगठन के मामले में अव्यवस्थित बाधा है। संयुक्तप्रान्त का एक बाढ़ाण अपने गाँव के किसान या चमार को बंगाला विहार या बंगाल के द्विज से अधिक एकात्मकता और सहानुभूति रखता है। बिरादरियाँ और जातियाँ प्रायः अपने क्षत्र संगठनों से ऊपर नहीं उठ सकतीं।

दूसरी हानि देश की अपार प्रतिभा का उपयोग न होना तथा कला-कौशल का ह्रास है। जन्म-मूलक वर्ग-व्यवस्था में निचली जातियों के ऊपर उठने का कोई अवसर नहीं रहता, वे उठने का प्रयत्न ही नहीं करती। न जाने, इससे देश की कितनी प्रतिभा भूल में भिलती रही है। दूसरे देशों में एक किसान का लड़का गारफील्ड अमरीका के राष्ट्रपति पद पर पहुँच सकता है, अपनी तूलिका द्वारा रैफल और माइकेल एञ्जेलो की भाँति उच्चतम सम्मान पा सकता है, "निम्नतम शिल्पी अपनी प्रतिभा और क्षम्यवसाय के बल पर वाट या स्टीवन्सन बन सकता है, किन्तु भारत में वह लड़की सौह शूद्रजातियों से बेधा हुआ है।" इसलिए गुप्त युग के बाद शिल्पियों ने कोई नया आविष्कार या कल्पना नहीं की, केवल पुरानी सीक ही पीटते रहे। हाथ के कामों को जब से नीची जातियों का पैसा माना जाने लगा, हस्त-कौशल की अवनति होने लगी।

तीसरा दुष्परिणाम बृहत्तर भारत में सांस्कृतिक प्रसार के गौरवपूर्ण कार्य का अन्त था। जाति-पात ने विदेश तथा समुद्र-यात्रा को पाप बना दिया। जिनके पूर्वजों ने विशाल महासागर पार करके दक्षिणपूर्वी एशिया की जंगली जातियों के बीच बैठकर और उनसे वैवाहिक सम्बन्ध करके भारत का सांस्कृतिक प्रसार किया था, वही अब अपने घर से निकलने में डरने लगे।

चौथा दुष्परिणाम दृष्टिकोण की संकीर्णता और मिथ्याभिमान था। मध्य युग में प्रत्येक जाति अपने को सर्वोच्च समझती थी; उसकी दृष्टि सदैव अपने हित-साधन की ही होती थी। अन्य जातियों को वह विरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखती थी। म्यारहवीं शती में फ्लोरेन्स ने हिन्दुओं की संकीर्ण मनोवृत्ति का एक सुन्दर चित्र खींचते हुए लिखा था—“हिन्दुओं की सारी कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती

हैं। वे उन्हें स्नेच्छ और अपवित्र कहते हैं। उनके साथ किसी प्रकार का विवाह या उठने-बैठने, खाने-पीने का कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायेंगे।”

हिन्दुओं की इस संकीर्ण मनोवृत्ति का पोंचर्ची परिणाम यह हुआ कि अन्य देशों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया, वे दूसरे देशों के वैज्ञानिक तथा रण-कला-सम्बन्धी आविष्कारों और प्रगति से अपरिचित रहने लगे और मध्य युग में वे मुस्लिम आक्रमणों का सफल प्रतिरोध नहीं कर सके। संकीर्णता ने न केवल उनके बौद्धिक विकास में ही बाधा डाली, किन्तु उनमें महत्वाकांक्षा और उत्साह विलुप्त समाप्त कर दिया। पहले वे शत्रुओं से पराभूत होने पर भी उन्हें अपने देश के बाहर धकेल देते थे, अब उनके बार-बार हमला करने पर भी उन्होंने उनके देश पर आक्रमण नहीं किया। कुमारगुप्त वंश (धाम्) के तीर पर हूणों से लड़ा था, किन्तु पृथ्वीराज के लिए मुहम्मद गोरी की राजधानी घोर पर आक्रमण करना अचिन्तनीय कल्पना थी। अपने देश के बाहर कदम रखते ही स्नेच्छों के सम्पर्क से जाति और धर्म भ्रष्ट होने का डर था।

जाति-भेद का छटा दुष्परिणाम असृष्ट्यता थी। उच्च जातियों ने श्राव्यभिमान के कारण असृष्ट्य जातियों का और उत्पीड़न किया, उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा, उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया। इससे उन्होंने अपनी जाति को ही मुक्तान पट्टी बनाया।

जाति-पात का सातवीं दुष्परिणाम अपनी को पराया बनाना तथा अपनी जाति को क्षीण करना था। जिससे एक बार कोई भूल हो गई, वह हिन्दू समाज से सदा के लिए विलुप्त कर दिया गया। विधर्मी प्रचारकों ने इसका पूरा लाभ उठाया, उच्च वर्गों से पीड़ित दलित जातियों को मुगलमान और ईसाई बनाया। पहले इस देश में १०० प्रतिशत हिन्दू थे, बीसवीं शती में ६५ प्रतिशत हो रह गए। हम धारम-सन्तोष के लिए भते ही यह दावा करें कि भारत में हिन्दुओं की बहुसंख्या है, किन्तु यह विलुप्त हो रही और भ्रान्त शर्तों पर है। “वास्तव में हिन्दू समाज आपस में लड़ते हुए अल्पसंख्यक समुदायों का कोई तीन हजार जातियों और उपजातियों का—बीसव भोजन और विवाह के विषय में एक दूसरे को असुख समझती हैं—एक प्रतिक्षण विरोधमान डेर है। वर्तमान रूप में जाति-भेद के रहते हुए भारत में सच्ची राष्ट्रीय एकता, समानता और प्रजातन्त्र की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।”

स्त्रियों की स्थिति—गुप्त युग की भांति मध्य काल में भी उच्च कुलों की स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक थी, किन्तु साधारण कुलों में उनकी दशा निरन्तर खराब हो रही थी। कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वंचित होने पर भी लौकिक साहित्य और दर्शन का अच्छा अध्ययन करती थीं। हर्ष की महान राज्यधरी की बौद्ध-सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए दिवाकर मित्र नामक गौड़ित नियुक्त किया गया था। नंदन मिश्र की प्रकाण्ड विदुषी पत्नी ने दार्शनिक शिरोमणि श्री शंकराचार्य की श्री

निरस्तार कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिमुन्दरी भी प्रसिद्ध पंडिता थी। उसने प्राकृत कविता में प्रयुक्त होने वाले देशी शब्दों का कोश बनाया, इसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के उसने स्वरचित उदाहरण दिये हैं। उस समय मरुस्वती के क्षेत्र में नर-नारी की पोम्पता मुख्य मानी जाती थी। राजशेखर के शब्दों में—“पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। संस्कार, तो आत्मा में होता है, वह स्त्री या पुरुष के भेद की धोखा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की पुत्रियाँ, वैश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कर्मिणी देखी जाती हैं।” इस समय की स्त्री संस्कृत-कवियों में कुछ के नाम ये हैं—दण्डुनेला, माकला, मोरिका, बिज्जिका, वीला, सुमद्रा, पद्मवी, मदानसा और लक्ष्मी। स्त्रियों को गणित-जैसे क्लिष्ट विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। भास्कराचार्य (बारहवीं शती का अन्तिम भाग) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिए लीलावती ग्रन्थ लिखा। स्त्रियों को संज्ञित कलाओं की शिक्षा तो विशेष रूप से दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत, नृत्य सिखाने का प्रवन्ध किया गया था। हर्ष द्वारा लिखित ‘रत्नावली’ में रातों का वस्तिका (बुझ) से रंगीन चित्र बनाने का वर्णन है, इसी नाटक में रातों को नृत्य, गीत, वाद्यदि के विषय में परामर्श देने वाली बताया गया है।

जलित कलाओं के प्रतिरिक्त, कुछ स्त्रियों ने उस समय शासन-प्रबन्ध तथा रण-कला-जैसे पुरुषोन्नित कार्यों में भी अपनी पटुता प्रदर्शित की। दक्षिण के पश्चिमी सोलंकी राजा विक्रमादित्य की बहन भक्कादेवी तीर प्रह्वति की थी और राज-कार्य में प्रवीण थी, वह बार प्रदेशों की शासिका थी, एक अभिलेख में ज्ञात होता है कि उसने मोकाने (मोकाक जि० केतगाँव) के किले पर घेरा डाला था। स्त्रियों में पर्दा-प्रथा का व्यापक प्रचार नहीं था।

समाज में विधवाओं का विवाह नयी-नयी रूढ़ि हो रहा था। बलदेवजी ने लिखा है कि एक स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती। विधवाएँ उस समय या तो तपस्विनी का-या जीवन व्यतीत करती थीं या सती हो जाती थीं। गुप्त युग में सती होने की केवल एक ही ऐतिहासिक घटना मिलती है, किन्तु इस युग में इसके अनेक उदाहरण हैं। हर्ष की माता यशोवती ने चितारोहण किया था, हर्ष की बहन राज्यश्री भी अग्नि में कूदने के लिए तैयार थी, किन्तु भाई ने उसे रोक लिया। इस काल के अन्तिम भाग में सती-प्रथा का प्रसार अधिक तेजी से होने लगा।

साधारण स्त्रियों की पराधीनता और परवशता इस काल में निरन्तर बढ़ती चली गई, सामन्त्य अधिकारों में विषमता आने लगी और सारी का बर्बाद निरन्तर गया। बाल-विवाह का प्रचलन और स्त्रियों को वैवाध्ययन का अधिकार न होने के युद्धों के समान समझा जाना इस दुरवस्था के प्रधान कारण थे। इसी समय यह सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ कि स्त्री सदैव परतन्त्र रहनी चाहिए, उसे दुर्धील और काम-वृत्त पति को भी सेवा करनी चाहिए, मौर्यकाल में पति पत्नी को तीन बार से अधिक

हाम या खपन्ची से नहीं पीट सकता था। किन्तु अब यह धारणा प्रबल हुई—“बोल, शवार, घूद, गधु, नारी ; ये सब ताइन के अधिकारी।”

२. साहित्य

इस समय संस्कृत साहित्य के समस्त सभी धर्मों की उन्नति हुई। अनेक प्रसिद्ध दार्शनिकों, कवियों तथा लेखकों ने इस काल को धत्तकृत किया, किन्तु दार्शनिकों में धर्मकीर्ति, चान्तरहित और संकर के बाद पहले की-सी मौलिकता और ताकती समाप्त हो जाती है। नये विचार के स्थान पर बाल की बात निकालने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। कविता में महज सौन्दर्य की बजाय धत्तकारों की कृत्रिम शैली प्रधान हो जाती है। कानून के क्षेत्र में नई स्मृतियों का निर्माण बन्द हो जाता है। इन काल में पहले तो स्मृतियों के भाध्य होते हैं और अन्त में पुराने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर निबन्ध ग्रन्थ बनने लगते हैं। इस काल की एक प्रधान विशेषता प्रांतीय भाषाओं के साहित्य का सम्युत्थान और विकास है।

काव्य—मध्यकाल में संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी धर्मों—काव्य, नाटक, वस्तु (गद्य-न्यायत्मक काव्य), धत्तकार काव्य, व्याकरण, कोष, दर्शन आदि का विकास हुआ। इस समय के काव्यों में भट्टिका ‘रावण-वध’ (छठी शती का उत्तरार्ध), माघ (लगभग १७५ ई०) का ‘सिन्धुपालवध’ तथा श्रीहर्ष का ‘नैषधीय चरित’ (बारहवीं शती का उत्तरार्ध) उल्लेखनीय हैं। इन सबने प्रायः नारद द्वारा प्रवर्तित पद्धति का अनुसरण करके काव्य को रसमय बनाने की अपेक्षा उसे अधिक-से-धार्मिक धत्तकारों से विभूषित करने का यत्न किया है। धत्तकृत शैली का चरम विकास श्रीहर्ष के काव्य में है, उसके एक-एक श्लोक में अनेकों धत्तकार हैं तथा कई श्लोकों में अनेकाधिक शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक ही पद्य के कई धर्म किये जा सकते हैं। इनके कथात्मक प्रायः रामायण तथा महाभारत की कथाओं से लिए गए हैं। इस समय कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित्र को रोचक, काव्यमयी भाषाओं में लिखकर उन्हें अमर करने का प्रयत्न किया तथा संस्कृत में ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा बानी। इनमें पद्यगुप्त परिमल (प्रक रचनाकाल १०५५ ई०) का ‘सप्तसाहसिक चरित’ (राजा भोज के पिता सिन्धुराज का चरित्र) और बिल्हण का ‘विक्रमांकदेव चरित’ (चातुल्यवंशी विक्रमादित्य गण्ट १०७७-११२७ ई० का वर्णन), जयानक का ‘गृध्वीराज-विजय’ और हेमचन्द्र का ‘कुमारपाल-चरित’ प्रसिद्ध हैं। किन्तु सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य कल्हण रचित ‘राज-तरंगिणी’ है। इसकी रचना काश्मीरी राजा जयसिंह (११२७-११४६ ई०) के समय में हुई, इसमें बारहवीं शती तक के काश्मीरी इतिहास का बड़ा सरस वर्णन है।

नाटक—मध्यकाल के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक हैं—हर्ष की ‘रत्नावली’, ‘प्रियदर्शिका’ और ‘नागानन्द’, भट्टनारायण का ‘विगीतहार’, भवभूति (आठवीं शती का पूर्वार्ध) के ‘उत्तर रामचरित’, ‘महावीर-चरित’ और ‘मातली-मायव’, मुरारि का ‘अनर्थ राघव’,

राजसेन (नवीं श० का उत्तरार्ध), के 'बाल रामायण', 'बाल भारत', 'कर्पूर मञ्जरी'। इनमें भवभूति की कृति 'उत्तररामचरित' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

संस्कृत के मुक्तक और गेय काव्यों की अधिकान्त प्रसिद्ध रचनाएँ इसी युग की हैं। सात बार संन्यास और गृहस्थ के बीच में डोलते बाले भृंगुहरि के शृङ्गार और वैराग्य शतकों में दोनों भावों का सुन्दर चित्रण है और नीतिशक्त में नीति-विषयक उत्तरों का उदात्त बरतन है। शृङ्गार रस का सर्वश्रेष्ठ मुक्तक 'अमरक-शतक' है। इसका एक-एक पद्य संस्कृत साहित्य का चमकीला हीरा है। ग्यारहवीं शती में महाकवि जयदेव ने कोमल कान्त पदावली में 'गीत-गोविन्द' की रचना की।

गद्य—संस्कृत में गद्य की अपेक्षा गद्य बहुत कम लिखा गया। सबसे बड़े गद्य-लेखक 'वासुदेवता' के प्रणोता मृगभु, 'कादम्बरी' और 'हर्ष-चरित' के रचयिता बाण (सातवीं शती) और 'दशकुमार-चरित' के लेखक इण्डी (सातवीं शती का उत्तरार्ध) हैं। इण्डी पद-नालित्य की तथा बाणभट्ट वर्णन-कोशल की दृष्टि से अनुपम हैं। गद्य-पद्यमिश्रित रचना चम्पू कहलाती है। चम्पूओं में विविध भट्ट (दसवीं शती का आरम्भ) का 'नलचम्पू' सर्वश्रेष्ठ है।

मध्ययुग में अलंकार-शास्त्र के विकास द्वारा काव्य के विभिन्न घणों-रस, ध्वनि, गुण, दोष और अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया गया। इसके पहले आचार्य भामह छठी शती के मध्य में हुए, इन्होंने इसके मौलिक सिद्धान्तों का 'काव्यालंकार' में सुस्पष्ट प्रतिपादन किया। उनके बाद इण्डी, वासन (आठवीं शती का अन्तिम भाग); आनन्दवर्धन (नवीं शती), अभिनव गुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने इस शास्त्र को प्रौढ़ता तक पहुँचाया।

इस युग में कथा-साहित्य भी काफी लिखा गया। पहली या दूसरी श० ई० में गुणार्दन ने 'बृहत्कथा' लिखी थी। यह पुस्तक खो चुकी है, इसके आधार पर ग्यारहवीं शती में जेम्स ने 'बृहत्कथा मञ्जरी' तथा सोमदेव ने 'कथा सरित्सागर' लिखा। पिछला ग्रन्थ बहुत बड़ा है और आकार में महाभारत का चतुर्थांश है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ 'बैतान मञ्जरी', 'सिंहासन शालिशिका' और 'शूक सप्तति' हैं।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में इस काल में नई स्मृतिओं का निर्माण बन्द हो गया, पुरानी स्मृतिओं पर टीकाएँ और भाष्य लिखे गए। 'मनुस्मृति' की पहली और प्रसिद्ध टीकाएँ मेघातिथि (नवीं श०) और गोविन्दराज (ग्यारहवीं श०) ने लिखी। विश्वनाथवर की 'मातृवन्धव स्मृति' की प्रसिद्ध व्याख्या 'मिताक्षरा' भी ग्यारहवीं शती की रचना है। वर्तमान हिन्दू कानून का यह प्रधान आधार है। बारहवीं शती से पुराने धर्मशास्त्रों के आधार पर निबन्ध-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इस प्रकार का पहला ग्रन्थ मनीष के राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-४५) के मंत्री लक्ष्मीधर का रचाया हुआ 'कृत्यमाला' था।

इस काल के आधुनिक साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। व्याकरण में जयदित्य और वामन ने ६६२ ई० के लगभग पाणिनीय सूत्रों पर 'काशिका-वृत्ति' के नाम से भाष्य लिखा। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय', 'महाभाष्य-दीपिका' और 'महाभाष्य विपरी' नामक ग्रन्थों की रचना की। साहित्य में विष्णु शम्भु व्याकरणों में इस काल में सर्वप्रथम का 'काव्य' बड़ा लोकप्रिय था। बृहत्तर भारत में मध्य एशिया से आने तक इसकी पुरानी पोथियाँ मिली हैं। जैन भाषा में हेमचन्द्र ने अपनी तथा अपने शिष्य-दादा भरत सिद्धराज की स्मृति सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'सिद्धहेम' नामक प्रसिद्ध व्याकरण का निर्माण किया। संस्कृत कोषों में 'धम्मर कोष' इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर ५० के लगभग टीकाएँ लिखी गईं। इनमें १०५० ई० के लगभग होने वाले औरस्वामी की टीका खूब प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तमदेव ने 'धम्मर कोष' के परिशिष्ट रूप में 'विकारण शेष' की रचना की, हारावली में नवे कठिन शब्दों का अर्थ दिया गया। अन्य कोषों में हेमचन्द्र का 'अभिधान चिन्तामणि', 'प्रमेकार्थ संग्रह', गायक का 'वैजयन्ती', हनुमन्त का 'अभिधान रत्नमाला' उल्लेखनीय हैं। राजनीति शास्त्र में इस काल की प्रसिद्ध रचना 'शुक्र नीति' है। कामशास्त्र में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर टीकाएँ लिखी गईं, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ कोका गणित का 'कोकशास्त्र' और बौद्ध पद्यों का 'नागर सर्वस्व' है। संगीत का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राजद्वैत' (१५वीं श०) 'संगीत रत्नाकर' है। ज्ञान तथा कला की समस्त कोई वाला ऐसी नहीं थी, जिस पर संस्कृत में ग्रन्थ न लिखे गए हों। यहाँ तक कि बोरी की कला पर भी साहित्य था। दुर्भाग्यवश, प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा नष्ट हो चुका है।

प्राकृत साहित्य—संस्कृत वाङ्मय की भाँति इस काल में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। प्राकृतों का विकास-काल पहलों से छठी श० ई० तथा अपभ्रंशों का उन्नति युग ६००-१००० ई० समझा जाता है। वैदिक भाषा के वन-साधारण में प्रचलित रूप के अन्तर में दी की दृष्टि से, पहले प्राकृतों का जन्म हुआ और बाद में अधिक अन्तर बढ़ने पर अपभ्रंशों का। यही प्रपञ्च आधुनिक भारतीय भाषाभाषी—हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि का पूर्व रूप है। प्रधान प्राकृतें मागधी, धोरसेनी, महाराष्ट्री और पञ्चाभी हैं। इनमें साहित्यिक दृष्टि से महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ है। इसी में सातवाहन राजा हल की 'भाषा सत्यशती' है। जैनों ने इनका बहुत विकास किया। मागधी और धोरसेनी के मिथिल धर्मशास्त्रों में उनके प्राचीन आगम ग्रन्थ हैं। सातवीं शती में अपभ्रंशों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पुरानी हिन्दी इसी से निकली है। इसमें दोहा प्रधान छन्द है। इस भाषा का सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध और बृहत् ग्रन्थ ८वीं श० ई० में धनपाल द्वारा लिखा 'भविष्यत्कहा' है। प्राकृत साहित्य का विकास होने पर इनके अनेक प्रामाणिक व्याकरण और कोष लिखे गए।

दक्षिणी भाषाएँ—दक्षिण की प्रधान भाषाएँ—तामिल, केनर और कन्नड़ में इस युग से काफी साहित्य बतने लगा था। तामिल का साहित्य जो ईसा की पहली

ष० से बनने लगा था। इसका साक्ष्य ग्रन्थों में उल्लेख हो चुका है। मध्य-युग में इसकी प्रसिद्धतम रचना कम्बन कृत 'रामायणम्' थी। तेलगू में सोलंकी राजा गज-राज ने नानिममट्ट से महाभारत का अनुवाद कराया। इन सब भाषाओं पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है।

३. वैज्ञानिक उन्नति

इस समय ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विद्याओं का साहित्य विकसित हुआ; किन्तु उसमें सर्वोच्च अनुसम्मान और मौलिकता का ह्रास हो गया। इस काल के प्रधान ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य थे। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के आस-पास 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'संक्षेपाद्य' ग्रन्थों में प्रायः प्राचीन साध्यों के सिद्धान्तों का समर्थन किया। भास्कराचार्य (जन्म-काल १११४ ई०) ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' के पहले दो भागों—'लीलावती' तथा 'बीजगणित' में गणित-विषयक तथा 'ग्रहगणिताध्याय' और 'गोलाध्याय' में ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया। इसमें उसने पृथ्वी के घोल होने तथा उसकी धारकर्म-शक्ति के सिद्धान्तों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। इसी काल में भारतीय ज्योतिषियों को खलीफा हार्क रशीद और धलमामुन ने बगदाद में बुलाया, उनके ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया। अरबों द्वारा भारतीय ज्योतिष का ज्ञान यूरॉप पहुँचा। गणित के सभी क्षेत्रों में भास्कराचार्य ने अपने पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थ में पुराने साध्यों के सिद्धान्त दिए हैं। त्रिकोणमिति का इस समय अच्छा विकास हुआ था। भारतीयों ने ज्या और उत्क्रम ज्या की सारनियाँ बना ली थीं। पश्चिम में स्पूटन (१५४२-१७२७) ने पाँच शती बाद जिस गुरुत्वाकर्षण नियम का और चलन गणित का आविष्कार किया, भास्कराचार्य गणि शती पहले भारत में उसकी खोज कर चुके थे। इनकी राशियों की गणना पूर्णतः ज्योतिषी आत्मिमीक्षित से प्राप्य शुद्ध है, ग्रह की क्षणिक गति के हिसाब में उन्होंने एक सैकण्ड के ३३७५ बं भाग की बूटि का भी उल्लेख किया है।

आयुर्वेद—मध्य काल में आयुर्वेद के कई प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गए। चाणक्य ने ८०० ई० के लगभग 'अष्टांगहृदय' और माधव ने 'माधव निदान' लिखे। 'माधव निदान' में रोगों के निदान अर्थात् उत्पत्ति-कारणों पर विचार से विचार है। १०६० ई० में बंगाल के जलकानिदय ने चरक, सुश्रुत पर टीकाओं के अतिरिक्त 'चिकित्सा-भारत-संग्रह' की रचना की। १२०० ई० के लगभग 'माङ्गल-परमहिता' लिखी गई, इसमें अर्क, चन्द्र और शीतलियों के वर्णन के अतिरिक्त माद्री-विज्ञान के भी नियम दिए गए हैं। जनसंख्या-शास्त्र के क्षेत्रों में 'सम्ब-प्रदीप' और 'सिध्द' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ शरीर और वायु-विद्या काफ़ी उन्नत थी। प्राचीन भारतीय द्रविम रोगों के बताने, लगाने तथा द्रविम नाक की बनाकर जोड़ने की कला भी जानते थे, भीतिषा विन्द की आधरेक्षण से दूर करते थे। पयरी, अन्धबुद्धि (हर्निया), भ्रमर, नाडी-वर्ण एवं सर्प की ठीक कर देते थे। रिषों के रोमों के सूख-से-सूख आधरेक्षण, वायु-विद्या द्वारा गर्भ-विमोचन की विधि भी उन्हें सुपरिचित थी। खलीफा धलमामूर

ने आठवीं शती में भारत के कई वैदिक ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया था। हाईरघोद में अनेक भारतीय वैद्य वमश्राद बुलाये। अरबों द्वारा भारतीय आयुर्वेद यूरोप पहुँचा।

विश्व में सर्वप्रथम चिकित्सालय सम्भवतः भारत ही में बने। यूरोप में इसकी श० में पहले औपचार्य की स्थापना हुई, किन्तु भारत में इनका सर्वप्रथम उल्लेख तीसरी श० ई० पु० के अशोक के अभिलेखों में है, पाँचवीं श० में 'काहिमाव' तथा सातवीं श० में मुद्रान-स्वर्ग में पाटलिपुत्र, लक्ष्मिला और मयूरा आदि की धृष्य-शालाओं का उल्लेख किया है, जहाँ निर्धनो तथा विधवाओं को भोजन और पत्र के अतिरिक्त मुक्त औषधि भी दी जाती थी।

धनु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी। हाथियों और घोड़ों की समर की दृष्टि से बड़ी महत्ता थी। अतः इन पर संस्कृत साहित्य में बहुत ग्रन्थ बने। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—'पातकाय' की 'गज-चिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गज वर्ण', 'गज परीक्षा', 'गज लक्षण'; 'अपस्तम्ब-कृत' 'अश्व-चिकित्सा'; नकुल का 'शालिहोत्रशास्त्र'; अथर्वतन्त्रगण-रचित 'अश्वायुर्वेद', 'अश्वलक्षण', 'हम सीलावती'। इनमें अधिकांश सुष्ठु ही बचे हैं, दूसरे ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ही इनका ज्ञान होता है। धनु-विज्ञान तथा कुम्भ-शास्त्र का प्राचीन ग्रन्थों में सूक्ष्म-वर्णन है। जैन पण्डित हंसदेव के 'मृग-पक्षिशास्त्र' में सिंह आदि पशुओं तथा शारस, उल्लू, तोता आदि पक्षियों का विस्तृत विवरण है।

इस समय विभिन्न उपयोगी शिल्पों—वास्तु, मूर्ति, हथि, रत्न-परीक्षा, धातु-विज्ञान पर बहुत पुस्तकें लिखी गई। भूमि-मापन के सम्बन्ध में 'क्षेत्रगणित शास्त्र' उपलब्ध होता है और नौ-निर्माण पर 'नौ-शास्त्र' आदि ग्रन्थ मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य में 'मयखिला', राजा भोज-कृत 'समसंगण सूत्रधार' और 'मुक्तिफलतर्क' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वैज्ञानिक धारणा के कारण—किन्तु हमारे पूर्वजों की यह उन्नति धीरे-धीरे जारी नहीं रही, मध्यकाल में हमारा सांस्कृतिक अवनत हो गया। इसके दो प्रधान कारण थे। पहला कारण धार्मिक प्रभाव की अत्यधिक शक्ति थी। पहले यह कहा जा चुका है कि मुगल युग तक भारतीय जीवन में एक और धर्म तथा भोज तथा दूसरी ओर काम और धर्म में संतुलन और सामंजस्य था। मध्यकाल में धर्म का पतन सारी होने लगा। इसका पहला परिणाम तो यह हुआ कि हमारे सांसारिक विषयों की ओर धार्मिक विषयों की अधिक महत्त्व देना शुरू किया, लौकिक एवं वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन उपेक्षित होने से उनकी प्रगति अवरुद्ध होने लगी। धर्म की अत्यधिक प्रभुता का दूसरा परिणाम यह हुआ कि धर्म-ग्रन्थों को परम प्रमाण माना जाने लगा। इससे स्वतन्त्र चिन्तन तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। वैज्ञानिक विषयों में भी पुराण प्रमाण माने जाने लगे। जनता उनमें अन्ध-विश्वास और अज्ञान रक्षती थी। भारतीय वैज्ञानिकों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए इन सिद्धान्तों

को गलत होते हुए भी स्वीकार किया और इससे स्वाधीन तर्क और अनुसंधान समाप्त हो गए। एक उदाहरण से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जायेगी। पुराणों के वर्णनानुसार सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण का कारण राहु और केतु है। किन्तु ज्योतिषी यह मानते हैं कि पृथ्वी की छाया पड़ने से ये ग्रहण होते हैं। पुराने भारतीय ज्योतिषियों को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि इनका वास्तविक कारण छाया है, राहु द्वारा घसा जाना नहीं। किन्तु वे अपने को इस लोक-प्रचलित पुराणानुमोदित धार्मिक धारणा का सफ़टन करने में असमर्थ पाते थे। यदि इतना ही होता तो भी गनीमत थी, किन्तु कुछ ज्योतिषियों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए सुलभ-सुल्ला यह कहना शुरू किया कि शास्त्रों में कहाँ बात भट्टी नहीं हो सकती। अतः वैज्ञानिकों की पृथ्वी की छाया वाली बात गलत है। ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त में उन व्यक्तियों की भर्त्सना की है जो ग्रहण का कारण राहु को नहीं मानते। उसकी मुख्य युक्ति यह है कि वेद और स्मृति की बात कंते मिथ्या हो सकती है। यूरोप में जब तक बाइबिल की वैज्ञानिक विषयों में प्रामाणिक माना जाता रहा, विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकी। भारत में जिस समय से शास्त्र-प्रामाण्य का प्राधान्य हुआ, स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसंधान बन्द हो गया। इसने न केवल विज्ञान, किन्तु अन्य सभी क्षेत्रों में घातक प्रभाव डाला। पुराने ग्रन्थ और आचार्य पूज्य समझे गए, सारी प्रतिभा और विद्वत्ता उनकी रचनाओं के माध्यम और वृत्ति बनाने में व्यय की जाने लगी। ८०० ई० के लगभग कादमीरी दार्शनिक जगन्नाथ भट्ट ने इस युग की भावना का परिचय देते हुए ठीक ही लिखा था—“हममें तर्क वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहाँ है।” सांस्कृतिक ह्रास का दूसरा बड़ा कारण संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रबल होना था। पुराने जमाने में भारतीय दूसरे देशों से उपयोगी कलाएँ और विज्ञान-ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करते थे। भारतीय कला और ज्योतिष ग्रीकानी प्रभाव से सम्पन्न हुई थी। पिछले अष्टाव्यस में इस विषय में बराहमिहिर का एक वाक्य उद्धृत किया जा चुका है कि जबकि ग्रीकानी म्लेच्छ हैं किन्तु ज्योतिषी होने के कारण आदरणीय हैं। अलबेल्नी के समय भारतीयों में संकीर्ण मनोवृत्ति तथा मिथ्याभिमान बहुत बड़ चुके थे। वे समझते थे कि उन-जैसे कोई देश नहीं, उन-जैसे कोई जाति नहीं, उनके अतिरिक्त किसी जाति को विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं है। ‘उनका अभिमान इतना अधिक है कि यदि शायद उनसे पुरातन या पारस के किसी विज्ञान या विद्वान् का उल्लेख करेंगे तो वे शाक्यों राजाओं और मुंडा दोनों समझेंगे।’ अलबेल्नी इनका प्रधान कारण भारतीयों का दूसरी जातियों से न मिलना-जुलना और विदेश-भाषा न करना समझता है। पानी का प्रवाह रुकने पर उसमें सड़ाई पैदा हो जाती है, भारतीय विचार में भी जब प्रगतिशीलता न रही, विकार शान्त शुरू हुआ तब २,००० वर्ष की किम्वदन्तता के बाद स्वाभाविक तन्त्र, शास्त्र-प्रामाण्य और संकीर्णता से उसमें ह्रास आने लगा और सांस्कृतिक अपकर्ष प्रारम्भ हुआ।

इसी समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उसके सम्पर्क और संघर्ष से भारतीय संस्कृति में जो परिवर्तन हुए, उनका बनने प्रभाव में वर्णन होगा।

इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव

इस्लाम का उदय—सातवीं शती ई० में अरब प्रायद्वीप में एक नये धर्म और नई शक्ति का धम्मोत्थान हुआ। उस समय तक अरब की मरुभूमि नाना देवी-देवताओं के उपासक, सामाजिक कुरीतियों में डूबे हुए, सदा परस्पर लड़ने-झगड़ने वाले जंगली खरबों और व्यापारियों का देश था। हजरत मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) ने उसमें एक निराकार ईश्वर (अल्लाह) की पूजा का प्रचार किया, बालिका-वध, वृत्त तथा मंदिरा-सेवन आदि बुराइयों तथा हानिकारक रुढ़ियों का खण्डन किया। उनके उपदेशों ने अरबों में नवजीवन का संचार किया। शीघ्र ही समूचा अरब जगत् उनके नेतृत्व में संगठित हो गया। ७५० ई० तक पूर्व में मध्य एशिया की पामीर पर्वत-माला और सिन्ध से पश्चिम में पिरैनीय पर्वत-माला (प्रायः) और स्पेन तक के विशाल भू-खण्ड में इस्लाम की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी।

भारत में इस्लाम के प्रचार के ढंग

(१) अरब व्यापारी—इस्लाम की विश्व-व्यापी लहर चौध ही सीमान्तों से भारत में प्रवेश करने लगी। इस देश में इसका प्रचार दो ढंग से हुआ, मान्तिपूर्वक और शक्तिपूर्वक। प्रथम तरीके से प्रचार करने वाले अरब व्यापारी, मुस्लिम कबीर और दरवेश थे। दूसरे के माध्यम से—अरब, तुर्क और मुगल शासकता। प्रायः यह समझा जाता है कि इस्लाम ततवार के जोर से फैला, किन्तु यह बात सर्वांग में सत्य नहीं है। भारत में सर्वप्रथम इसका प्रसार मान्तिपूर्वक ही हुआ। अरबों और भारतीयों का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले कई सदियों से था। वे नाविकों तथा व्यापारियों के रूप में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बन्दरगाहों पर आते थे। विशेषतः पश्चिमी तट पर नील, कल्याण और सुपारा तथा मलाबार में इतनी धनेक बस्तियाँ थीं। इस्लाम के प्रचार के बाद ये कट्टर मुसलमान होकर भारत आने लगे। इनमें से धनेक अरब व्यापारी भारत में ही बस जाते थे, भारतीय निचियों से घादी कर लेते थे। इन्हीं की सन्तान कोंकण की मटिया और मलाबार की मोपला जातियाँ हैं। उस समय के पश्चिमी तट के हिन्दू वासकों की विशेषतः सीरोपट्ट के बलभी वंश और कालीकट के जमोरिणों की नीति इन व्यापारियों

को अपने राज्य में पूरा प्रोत्साहन देने ली थी, क्योंकि इनसे उनके राज्यों को बड़ी शक्ति मिली थी। मल्लिकार्जुन के राजाधों ने इन्हें अपने राज्य में न केवल मस्जिदें बनाने की अनुमति दी अपितु स्वयं भी इनके लिए मस्जिदें बनवाईं। मल्लिकार्जुन के राजाधों ने इन्हें अपने राज्य में बड़ी रियासतें और जमीनें पद दिए। एक राजा ने तो यहाँ तक कहा कि हर हिन्दू मल्लिकार्जुन के घर कम-से-कम एक लड़के को बचपन से ही मुसलमानों की तरह शिक्षा दी जाय। इन कारणों से दक्षिण में इस्लाम का प्रचार तेजी से होने लगा।

(२) मुस्लिम फकीर—शान्तिपूर्वक धर्म-प्रचार में सबसे अधिक महत्व और सफलता मुस्लिम फकीरों तथा दरवेशों को मिली। ग्यारहवीं शती से इनका कार्य शुरू हुआ। इन फकीरों की पीढ़ी पर कोई राजनैतिक अधिकार नहीं था। इन्होंने अपने उपदेशों तथा चमत्कारों से ही हिन्दू जनता को मुस्लिम बनाया। ग्यारहवीं शती में शेख इस्माइल और अबुल्ला यमनी भारत आए। बारहवीं शती के प्रारम्भ में नूर सतारम ईरानी ने गुजरात की नीच जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध फकीर जलालुद्दीन बुखारी, सैयद बहमद कबीर, खाना मुईनुद्दीन चिश्ती थे। इनकी शिष्य-परम्परा में फरीदुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया (तेरहवीं-बीसवीं शती), खाना कुतुबुद्दीन, शेख अल्लाउद्दीन अली, बहमद साबिर पिरानकलियर आते प्रसिद्ध हैं। इन्हें हिन्दुओं की संकीर्ण जाति-प्रथा के कारण बहिष्कृत और पदचलित व्यक्तियों और नीच जातियों को मुसलमान बनाने में काफी सफलता मिली।

(३) अश्वपूर्वक प्रचार—अश्वपूर्वक इस्लाम-प्रचार का कार्य मुस्लिम शासकगणों ने किया। पहला शासकमण ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर किया। इसके तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं शती में महमूद गजनवी ने १७ बार हमले किए। इनके दो सौ वर्ष बाद बहाबुद्दीन खोरी ने घुणीराज को हराया (११६२ ई०)। बहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापना नौवें ठाली (१२०६ ई०)। १२२६ ई० तक दिल्ली पर तुर्कों और बहगान मुल्तावों का शासन रहा और इनके बाद दो सौ वर्ष तक मुगलों का। इन काल में फरीद शाह तुगलक (१३५१-८८ ई०), सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०), बाबर के सिकन्दर (१५६४-१५८६ ई०) तथा औरंगजेब (१६५६-१७०७ ई०) आदि बादशाहों ने इस्लाम के प्रचार के लिए राजमार्ग का मार्ग प्रयोग किया।

एक अभूतपूर्व घटना—किन्तु गुरीय काल तक मुस्लिम-शासन द्वारा धर्म-प्रचार तथा शान्तिपूर्वक प्रचार से भी इस्लाम को उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सम्पर्क से दोनों के इतिहास में एक नवीन तथा अभूतपूर्व घटना हुई। इस्लाम ने पहले भारत पर गजन, शक, हूण आदि अनेक जातियों के आक्रमण हुए थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज ने इन जातियों को आरम्भवात् कर लिया था। किन्तु मुसलमान ही ऐसी पहली आक्रमणवादी जाति थी जो हिन्दू जाति का धर्म न

वन सकी। दूसरी ओर इस्लाम भारत में आने से पूर्व जिन देशों में गया वहाँ उसे विवक्षण संकलता मिली थी। उन देशों की समूची जनता को उसने अपने रंग में रंग लिया। ईरान की पारसी, मिस्र की यूनानी सम्प्रदायों का स्थान अरब संस्कृति, अरबी भाषा और इस्लाम ने ग्रहण कर लिया। किन्तु भारत में इस्लाम कई सदियों तक प्रभाव डालने के बाव भी बहुत छोटे भाग को ही तब तक मुहम्मद का अनुयायी बना सका। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों के एक दूसरे को अपने रंग में न रंग सकने के दो प्रमुख कारण थे—(१) इस्लाम का कट्टर एकेस्वरवाद (२) हिन्दू धर्म की पावन-शक्ति की क्षीणता।

इस्लाम का एकेस्वरवाद—भारत में आने वाले मुस्लिम विजेता एक बात में अपने पूर्वजों सभी आक्रान्ताओं से भिन्न थे। शक, कुषाण और हूण आदि जातियों का अपना कोई विशिष्ट धर्म नहीं था। किन्तु मुसलमान न केवल एक कट्टर एकेस्वरवादी धर्म अपने साथ लेकर आये, अपितु उनमें अपने धर्म की फैलाने की अगव और जोश भी था। बुलपरस्तों से जहाँ उन्हें घोर गुणा थी, वहाँ वे बुतशिकन होने में गर्व भी अनुभव करते थे। हिन्दू समाज को इसमें कोई आपत्ति न थी कि उनके तैलीय करोड़ देशों में अस्लाह को भी शामिल कर लिया जाय, उन्होंने अल्लोपनिषद् की भी रचना कर डाली; किन्तु मुसलमानों का अस्लाह भावरीक या और शिरकत (अस्लाह के साथ अन्य देवताओं को सम्मिलित करना) इस्लाम की नजर में सबसे बड़ा दुक था। अतः इस्लाम के अनुयायी हिन्दू-धर्म में विलीन होने को तैयार न थे।

यदि यह किसी तरह सम्भव होता तो भी हिन्दू-धर्म इस्लाम को न पचा पाता। उसमें प्राचीन काल में दूसरों को मियालने, हजम करने, अपने रक्त, भाँस, मन्त्रा में मिश्रित करने तथा अपना धर्म बना लेने की जो विलक्षण शक्ति थी वह मुसलमानों के आगमन काल तक बहुत मन्द ही चुकी थी। जाति-नेष की कठोरता ने हमारी जाति की यह पुरानी विशेषता लुप्तप्राय हो रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन राजवंशों के पूर्वज पहले एक पीढ़ी में ही बाहरी जातियों को अपना धर्म बना लेते थे, वे अब प्लेच्छों के स्पर्श-मात्र से तबलाने लगे। विदेश-भाषा में उनका धर्म नाट होने लगा। जब उनका वर्ग हिन्दू अपने ही समाज के निम्न वर्गों से भी अलग रहने लगे तब वे विधर्मी मुसलमानों को जिन तरह अपने में मिला सकते थे ?

फिर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम का जो सम्पर्क हुआ उसका बड़ा महत्व है। इस प्रकार की दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क न केवल भारतीय, अपितु विश्व-इतिहास की एक विलक्षण घटना थी। सर जॉन मार्शेन ने ठीक ही लिखा है कि "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया जब इतनी विद्या, इतनी सुविकसित और साध हो मौलिक रूप से इतनी विभिन्न सम्प्रदायों का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो। इन संस्कृतियों और धर्मों के विस्तृत विवेक उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

सम्मिलन की प्रवृत्ति—वह भी दोनों धर्म एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, दोनों में उस राजनीतिक संघर्ष और भयंकर युद्ध हुए; लेकिन इसके बावजूद हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों को एक दूसरे के पास घाते हुए, मिलने के लिए धामे बघूते हुए पाते हैं। साधारण जीवन के सभी पहलुओं में सम्मिलन, सम्मिश्रण, सहयोग, सामीप्य, पारस्परिक प्रेम, सामन्तत्व और समन्वय की मंगलकारिणी प्रवृत्तियों के वर्धन होते हैं। इस्लाम का सूफीवाद बेदाग से प्रेरणा प्राप्त करता है, हिन्दू धर्म के सुधार-आन्दोलन इस्लाम की समानता और भातृत्व की भावना से प्रभावित होते हैं। सर्व-साधारण जनता में ऐसे पन्थों की पूजा शुरू होती है जिनमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं रहता। एक-दूसरे प्रत्येककी आदि विद्वान् संस्कृत पढ़ते हैं, तो दूसरी और राय मानासल जैसे हिन्दू फ़ारसी में मुस्लिम साहित्य की परम्पराओं पर प्रकाश डालते हैं। खमीर तुमरो और रसवाना आदि हिन्दी में कावितार्थ लिखते हैं और हिन्दू फ़ारसी में। दो सम्प्रदायों के सम्पर्क से वास्तु, चित्र, संगीत कलाओं में नई शैलियों का आविर्भाव हुआ, जिनके मूल तत्त्व तो भारतीय थे किन्तु बाह्य आकार ईरानी। मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के तुलादास आदि रिवाज ग्रहण किये, हिन्दू सरदारों ने फ़ारसी भाषा, मुस्लिम रहन-सहन, पोशाक और पहनावा संगीकार किया। राजनीतिक क्षेत्र में दोनों एक दूसरे के घोर विरोधी थे। किन्तु, मुस्लिम शासक हिन्दुओं के सहयोग के बिना नहीं चल सकता था, इसलिए इस समूच युग में मुस्लिम शासक हिन्दुओं की उच्च पदों पर भी रखते थे। गोलकुण्डा के सुल्तानों का शासन हिन्दू सन्तियों पर निर्भर था, बंगाल में हुसैनशाह (१४६३-१५१६ ई०) ने लख, सनातन और पुरन्दर आदि हिन्दू अधिकार निष्पन्न किये। मालवा के शासक अलाउद्दीन शाह द्वितीय ने पहले अलना मन्त्री बल्लभराय को बनाया और पीछे इस पद पर मेदिनी राय को नियुक्त किया। बीजापुर के बुरुग आदिलशाह के राज्य में अनेक हिन्दू उच्च पदों पर थे। द्वाहीम आदिलशाह हिन्दुओं को संरक्षण देने से 'असदगुरु' कहलाता था। राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में दोनों धर्मों के सम्पर्क से निम्न परिणाम उत्पन्न हुए। धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम ने हिन्दू-धर्म पर दो प्रहार डाले।—(क) अपने धर्म की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने जात-पाँत के बन्धनों को ढूँढ़ बनाया, (ख) समानता के तत्त्व पर बल देने वाले जाति-भेद-विरोधी सुधार आन्दोलन उत्पन्न हुए। इस्लाम पर हिन्दू धर्म का यह प्रभाव पड़ा कि उसमें कुछ कोमलता और सरसता आई। उसके स्वरूप में भी काफी परिवर्तन हुआ। किन्तु इस सम्पर्क का सबसे मुख्य धार्मिक प्रभाव यह था कि इससे कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के अन्तर को मिटाने वाले थे।

मुगलशाहों तथा हिन्दुओं के सम्पर्क के अन्य परिणाम निम्न थे—

(१) वास्तु कला में दोनों की सम्प्रदायों का प्रभाव मिले नई कला-शैलियों का विकास हुआ। चित्र और संगीत कला की उत्पत्ति हुई।

- (२) भारत ने मुसलमानों से बागवानी, कामज बनाना आदि कितनी ही नई कलाएँ सीखीं ।
- (३) साहित्यिक समृद्धि और वैज्ञानिक उन्नति ।
- (४) राजनीतिक एकता ।
- (५) साधारण जीवन पर प्रभाव—वेश-भूषा तथा खान-पान में परिवर्तन, कट्टरपन में वृद्धि ।

धार्मिक प्रभाव—(क) मुसलमानों की कट्टरता के कारण हिन्दू उन्हें अपने समाज का अंग नहीं बना सकते थे, लेकिन मुसलमान कट्टर होने के साथ-साथ अपने धर्म के प्रचार प्रसारक थे । यह भय था कि वे सब हिन्दुओं को इस्लाम का अनुयायी न बना देंगे । इसके प्रतिकार का उपाय कट्टरता ही सीखा गया । बोहा लोहे की काट्टा है, इस्लाम की कट्टरता का निराकरण हिन्दुओं की कट्टरता से ही हो सकता था । इस समय के धर्म-आस्थाकारों ने जाति-भेद के नियमों को कठोर बनाकर हिन्दू धर्म को इतना मुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयास किया जिसका भेदन इस्लाम न कर सके । इस प्रकार के लेखकों में 'पराशर-स्मृति' के टीकाकार साधव, 'मदन पारिजात' के रचयिता विश्वेश्वर, बंगाल के रघुनन्दन तथा 'मनुस्मृति' के प्रसिद्ध टीकाकार बुल्लुकभट्ट, नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट और हेमाद्रि मुल्ल हैं । हेमाद्रि ने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में साल-भर में करने के लिए २,००० अनुष्ठानों की व्यवस्था की । इस प्रकार के अनुष्ठानों से नियमित हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव पहुँचने की सम्भावना कम थी ।

(ख) हिन्दू-धर्म के सुधार आन्दोलन—किन्तु धर्मशास्त्रियों की व्यवस्थाएँ हिन्दू-धर्म की पूरी रक्षा नहीं कर सकती थीं । समाज की सीधी जातिपंक्ति तथा बहुत उच्च वर्गों द्वारा पद-वर्तित और उत्पीड़ित थे । इस्लाम समानता और आतृ-भाव पर और देता था । उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में उसके सीधे प्रसार का एक कारण यह भी था कि उन देशों के पद-वर्तित लोगों की अपने भाग का एक भाग उपाय इस्लाम ही प्रतीत हुआ । भारत में भी इस्लाम अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता यदि ठीक इसी समय समानता और भक्ति तत्त्व पर चल देने वाले आन्दोलन न होते । जाति-भेद विषमता की जड़ थी; उस पर सन्तों ने भक्ति के सिद्धान्त द्वारा प्रबल कुठाराघात किया । यह भक्ति सबको पवित्र करने वाली थी, इतने सीधों की भी जैसा उठा दिया । हिन्दू समाज में भेद ही भेद-साथ ही, लेकिन भगवान् के दरबार में सब भक्त समान हैं । यहाँ तो 'जात-पाँव भूखे नहीं कोई, हरि की भजे सी हरि का होई ।' इन सन्तों ने सब धर्मों की समानता तथा ईश्वर की एकता पर बल दिया, बाह्यात्मिक और कर्म-काण्ड की निन्दा की । जन्म के स्थान पर कर्म की महत्त्व दिया और धर्म के ठेकेदार गणितों, पुरोहितों और मुत्तासों की निन्दा की, मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति को माना ।

मध्य युग में पहले दक्षिण भारत और फिर उत्तर भारत में सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुए। दक्षिण के सुधार-आन्दोलनों के नेता शंकराचार्य (लगभग ७८८-८२० ई०), रामानुज (लगभग ११०० ई०) और वसुदेववर वे, तथा उत्तरी भारत में इसके प्रवर्तक थे रामानन्द। पहले यह बताया जा चुका है कि भारत में इस्लाम का शान्तिपूर्वक प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ, वहीं से सुधार-आन्दोलनों का शुरु होना सहस्रान्त करता है कि इनको इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। इस्लाम के अनुपायियों की उपस्थिति ने जाति-भेद, श्राद्धिक जीवन और ईश्वर के अस्तित्व आदि विषयों पर लोगों को विचार करने के लिए उत्तेजित किया। एकेश्वरवाद और समानता आदि के विचार हिन्दू धर्म में पहले से ही विद्यमान थे, किन्तु इस्लाम से उन्हें बल मिला। शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों पर यद्यपि इस्लाम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु जिगावत-सम्प्रदाय पर अवश्य ही पड़ा। हिन्दुओं का धर्म होते हुए भी वे जाति-भेद स्वीकार नहीं करते, इनमें तलाक और विधवा-विवाह की इजाजत है, मुर्दे फूँकने की जगह दफनाये जाते हैं, वे आढ़ तथा पुनर्जन्म को नहीं मानते, सब एक दूसरे के साथ आ-सी सकते हैं। इस मत का प्रसार इस समय बेलगाँव, बीवापुर और धारवाड जिलों, कोल्हापुर और कर्नाटक या मैसूर के राज्यों में है।

उत्तर भारत में जाति-भेद का खण्डन करने और भक्ति पर जोर देने वाले धार्मिक आन्दोलनों के संस्थापक रामानन्द थे। उन्होंने राम की भक्ति पर जोर दिया और हर जाति के लोगों को अपने शिष्यों में सम्मिलित किया। रामानन्द के शिष्यों में एक नाई, एक मोची और एक मुसलमान थे। नैकाजिफ के मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बतावर में विद्वान् मुसलमानों से रामानन्द की भेंट हुई थी। श्री रामानन्द के शिष्यों में महात्मा कबीर (१३८०-१४९० ई०) इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की जोड़ी खाई को पाटने तथा उसमें सहयोग और समन्वय की भावना उत्पन्न करने का यत्न किया। उन्होंने दोनों धर्मों के ब्राह्म भेदों, संक्षिप्त और आहम्बरों का खण्डन करते हुए आन्तरिक एकता पर बल दिया। हिन्दू मुस्लिम धर्मों की सही वृत्तता का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा :—

भाई रे दुई जगदीश कहां ते भाया, कहु कौन बोरामा ।
बल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम बरामा ॥
बहना एक कनक ते बहना, नामे भाव न हुआ ।
कहन सुनन को दुई कर भाये, एक समाज एक पूजा ॥
बहो महादेव बहो मुहम्मद, बहना आदम कहिये ।
को हिन्दू को तुरक कहाये एक जितनी परिहरिये ॥
वेद कितेब पढ़े ये कुतबा, ये मुस्ला ये पांढे ।
बेगर बेगर नाम बरामे, एक मिट्टी के भांढे ॥

दोनों धर्मों के बाह्य कर्मकाण्ड की निन्दा करते हुए उन्होंने हिन्दुओं से कहा :—

पाहन पूजे हरि मिले, जो मैं पूजूँ पधार ।
ताते या चाखी भली, पीस खान संसार ॥

और मुसलमानों से कहा :—

चाँकर पावर जोरि के मस्जिद तई मुनाम ।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे तथा बहुरा हुभा खुदाय ॥

कबीर की शिक्षाएँ रहस्यवाद से धीरे-धीरे थीं। उन पर मुसलमान सुफी फकीरों का स्पष्ट प्रभाव है। इस्लाम के समानता, भ्रातृ-भाव, विमुक्त एकेस्वरवाद और मूर्ति-भजन के सिद्धान्त महाराष्ट्र की जनता पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे थे। वहाँ ब्राह्मण और शूद्राह्मण दोनों तरह के प्रचारक इस बात पर बल दे रहे थे कि राम और रहीम को एक समझो, जाति-भेद के बन्धनों को तोड़ दो, मनुष्य-मान के साथ प्रेम करो। रामानन्द के समकालीन बिसोबा सेधर ने मूर्ति-पूजा का कट्टर विरोध करते हुए कहा—'पत्थर का देवता नहीं धोतता, वह हमारे इस जीवन के दुर्गों को किस तरह दूर कर सकता है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छा पूरी कर सकता है तो मिरले पर वह टूट क्यों जाता है?' सेधर के शिष्य नामदेव हुए। इन्होंने महाराष्ट्र में धार्मिक संकीर्णता और जात-पात के बन्धनों को तोड़ने पर बल दिया। इनके शिष्यों और अनुयायियों में लिन, धर्म, बगों और जाति का भेद नहीं था, उनमें स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्राह्मण, कुलबी, दबी, कुम्हार, धन्यज, सत्तार और भ्रमनिष्ठ वेश्याएँ तक सम्मिलित थे। नामदेव के महार शिष्य बील भेला को ब्राह्मण पुरोहितों ने जब पंढरपुर के प्रतिष्ठित मन्दिर में प्रवेश करने से रोका, तो उसने उत्तर दिया—'ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है। वह उनकी जाति की परवाह नहीं करता।'।

पंढरहवीं सदी में पंजाब में गुरु नानक ने कबीर की भाँति सब धर्मों की मौलिक एकता और हिन्दू-मुसलमानों के अभेद पर बल दिया—

बन्दे इष्क खुदाय दे हिन्दू मुसलमान ।
दावा राम रसूल कर, लड़वे बेईमान ॥

उन्होंने हिन्दुओं के संवा-स्तान, तीर्थ-यात्रा, जप-मूला-गात और प्रतिमानुजन आदि का विरोध करते हुए जाति-भेद की तीव्र निन्दा की और मुसलमानों को भी यह उपदेश दिया—'दया की अपनी मस्जिद बना, इस्लाम अपना कुरान समझ, मेक कामों की अपना काबा बना और परोपकार को कलना। खुदा की मरजी की अपनी तसबीह मान।'। गुरु नानक के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे।

नानक के समकालीन महात्मा बैतण्य (१४८२-१५३३ ई०) थे। उन्होंने बंगाल में हरि-भक्ति के प्रचार के द्वारा ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और जाति-भेद का

अवर्द्धत खण्डन किया। उनके सिद्धों में नीच जाति के लोग और मुसलमान भी सम्मिलित थे।

इस्लाम में परिवर्तन—आमिक धर्म में तीसरा प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय इस्लाम का रूपान्तर होने लगा। अरब के रेगिस्तान में उत्पन्न इस्लाम वहाँ की जनजाति की भाँति सरल, कठोर और शुष्क था; वह भारत के घाट्रं जलवायु में रूपान्तरित हुए बिना नहीं पनप सकता था। उस पर भारत की हरियाली का प्रभाव पड़ता अनिवार्य था। अतः हम देखते हैं कि भारत में इस्लाम के साथ ऐसी अनेक बातें जुड़ गईं, जो पैगम्बर की शिक्षाओं के सर्वथा प्रतिकूल और ग्रन्थ-विश्वासों से परिपूर्ण थीं। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी बंगाल में उन्होंने मीतला, काली, धर्मराज, वैद्यनाथ और इतर देवताओं की पूजा जारी रखी। इसके साथ ही उन्होंने नदियों के पवित्रता का स्वीकार किया, सुन्दर वन में गैर की सवारी करने वाली देवी के प्रेमी और अंग-रक्षक विन्दागावी आदि नये मुसलमान देवता बना लिये। पीरों के मजारों की पूजा चल पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि भारत में इस्लाम ने जो अनुयायी बनाये वे सहसा मूर्ति-पूजा और ग्रन्थ-विश्वासों की नहीं छोड़ सकते थे।

सम्मिश्रण की प्रवृत्ति—दोनों धर्मों के सम्पर्क का चौथा प्रभाव यह हुआ कि दोनों में सम्मिश्रण की प्रवृत्ति बढ़ी और ऐसे सम्प्रदायों और सुधारकों का जन्म हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। हिन्दुओं ने उदारतापूर्वक मुस्लिम देवी-देवताओं, पीरों और मजारों की पूजा शुरू की और मुसलमान हिन्दू दर्शन की सम्भिरता से प्रभावित होकर उसकी ओर झुके। भारत की जनगणना की रियायतों में पीरों के पूजाक हिन्दुओं का काफी उल्लेख है। इस शरी के शुरू में पंजाब में अजुल कादिर जिलानों के मुरोशों में रावलपिण्डी के बाह्य में, बहराइच में सैयद सानाद समूह के मजार के उपासक हिन्दू भी हैं। बकमेर में सेल मुर्दुद्दीन चिस्ती के मजार की भी यही रीति है। बंगाल के देहाती मुसलमानों द्वारा हिन्दू देवताओं की पूजाओं के उपासक पहले शिष्ट जा चुके हैं। सम्प्रकाश में अकबर और दारा शिकोह हिन्दू धर्म की ओर झुके थे। दारा शिकोह का तो यहाँ तक कहना था कि तोहोद (तक़ीयरवाद) का सर्वोत्तम रूप उपनिषदों में पाया जाता है। उसने पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया तथा 'मजमुअल् बहरैन' नामक एक ग्रन्थ की रचना कराई। ग्रंथ के शीर्षक का अर्थ है—'दो सामरों का संगम'। इसमें फारसी पढ़ने वालों के लिए वेदान्त की परिभाषाओं का स्पष्टीकरण था, साथ ही उनके सूफी पर्याय भी दिये गए थे।

हिन्दू-मुसलमानों के मेल और सामीप्य की लहरों का परिणाम यह हुआ कि सरयपौर, सातनामी, नाथ्यणी आदि ऐसे पन्थों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और जो दोनों में कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। बारहवीं शती में बंगाल में हिन्दुओं का मुसलमानों की दरगाहों पर मिटाई चढ़ाना,

कुरान पढ़ना और मुस्लिम त्योहार मनाना प्रारम्भ हो गया था। मुसलमान भी हिन्दुओं के धार्मिक रिवाजों के प्रति कृतार्थक सम्मान प्रदर्शित करते थे। इसी मेल-जोल से बंगाल में एक नये देवता 'सरस्वीदे' की पूजा शुरू हुई। कहा जाता है कि बीड़ का बाघशाह हुसैनशाह (१४६३-१५१६ ई०) इस सम्प्रदाय का संस्थापक था। औरंगजेब के समय सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों ने दोनों को मिलाने की कोशिश की। पिछले पन्च में हिन्दू मुसलमान दोनों लिमेली जाते थे, वे पूर्व की ओर मुँह करके दिन में पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में बल्लाह को भी मानते थे और मुर्दों को दफनाते थे। गुजरात के एक साधक प्राणनाथ ने जाति-भेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का खण्डन किया। उनसे हर गये दीक्षा लेने वाले को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। प्राणनाथ का मन्त्र था, सबका—वाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—एक ईमान होना चाहिए।

कला

वास्तु-कला (भवन-निर्माण)—सामोप्य तथा मेल-जोल की जो प्रवृत्ति धार्मिक विचारों में थी, वही विभिन्न कलाओं में वृष्टिगोचर होती है। वास्तु-कला इसका ठोस और ज्वलन्त उदाहरण है। मध्य-युग में कला के एक नवीन रूप का जन्म हुआ, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम कला-शैलियों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। इसे भारत-मुस्लिम (इण्डो-सारासैनिक) या पठान-कला कहा जाता है। दोनों कलाओं पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव था। 'भारत उत्तम पर्वतों, विस्तृत मैदानों, दुर्भेद्य जंगलों, प्रचण्ड ऋतुओं और घनी जनसंख्याओं का देश है; अतः भारतीय कला में विशालता, स्थूलता और विस्तार पर ध्यान बल था। जिस तरह भारतीय जंगलों में घनत्व फूल-पत्तियों से सारी भूमि ढकी रहती है, उसी तरह भारतीय मन्दिरों में कोई कच्चा संतकरण से खाली नहीं रहता। विस्तार, बाहुल्य और चित्रप्राचुर्य इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत अरब एक विशाल रेगिस्तान है, जिसमें भीखों तक कोई जनसंख्या नहीं दिखाई देती। अतः मुस्लिम कला की विशेषता बड़े-बड़े भवन, ऊँची मीनारें, साफ़ और सादी दीवारें थीं।' भारत में मुसलमान सुम्बद, मोनार और डाट लाये और उन्होंने भारतीयों से तम स्तम्भ-शक्तियों तथा भवन-कला के श्रेष्ठ अलंकरण ग्रहण किये। मुसलमानों को मेहराब का ज्ञान था, अतः उन्हें लम्बों की आवश्यकता नहीं थी। हिन्दुओं को डाट का ज्ञान न था, अतः उनके लिए स्तम्भ अनिवार्य थे। सल्तनत युग तथा मुगल युग की वास्तु में इन दोनों का सम्मिश्रण हुआ। इस सम्मिश्रण में दो कारण सहायक सिद्ध हुए—(१) मुस्लिम भवनों के शिल्ली हिन्दू थे, जो मुसलमान बादशाहों की देख-रेख में भवन-निर्माण करते थे, (२) नये मुस्लिम भवन पुराने हिन्दू मन्दिरों की विष्वस्त सामग्रियों से बने थे। अतः मुस्लिम वास्तु पर हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

हिन्दू प्रभाव की भाषा विभिन्न कला-शैलियों में परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी। सल्तनत युग की दिल्ली-दौली में कुतुबुद्दीन और अलाउद्दीन के मुस्लिम तत्वों की प्रधानता है, किन्तु जौनपुरी, बंगाली, गुजराती तथा बीजापुरी शैली में हिन्दू तत्वों की प्रधानता है। जौनपुर में शर्की मुलतानों के मंत्रकारी और हिन्दू थे। इनके धनवाये हुए भवनों की भीमकाय भित्तियाँ, बर्गोकार स्तम्भ और छोटी गैलरियाँ स्पष्ट रूप से हिन्दू प्रभाव की सूचक हैं; और जौनपुर की मस्जिदों में मुस्लिम कला की एक प्रभाव विशेषता भी नदार बिल्कुल नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण १४०० ई० में पूर्ण हुई जौनपुर की 'अलाउद्दीन की मस्जिद' है। बंगाल में हिन्दू प्रभाव प्रबल रहा और इसका सुन्दरतम उदाहरण पाण्डुघा में शिकन्दर द्वारा (१३६० ई०) बनवाई हुई ध्वनी मस्जिद है। गुजरात, मालवा, काश्मीर और बीजापुर की मुस्लिम वास्तु भी हिन्दू प्रभाव से ओत-प्रोत है।

मुगल युगों की इमारतों में ईरानी और भारतीय दोनों शैलियों का सामञ्जस्य बड़े सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होता है। अकबर द्वारा धनवाये फतहपुर सीकरी के भवनों, आगरा के जहाँगीरी महल, मुहम्मद गीस और हुमायूँ के भवनों में यह प्रभाव सुस्पष्ट है। इसका चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की इमारतों—आगरे के ताजमहल और मोती मस्जिद—में दिखाई देता है।

संगीत—इस्लाम के संसर्ग का भारतीय संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह नये रास यन्त्रों तथा नये रागों से समृद्ध हुआ। प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण ने एक नई संगीत-शैली को जन्म दिया जो दोनों शैलियों से अधिक उत्कृष्ट और मनोहारिणी थी। अमीर सुसरो की असाधारण प्रतिभा से भारतीय-संगीत को एक अनुपम विशालता और एकता मिली। भारत में वह सितार का धारम्भकर्ता माना जाता है। इससे उसने भारत की उत्तरी और दक्षिणी संगीत-शैलियों में सामञ्जस्य स्थापित किया। कब्जाली भी उसी ने शुरू की, वह पद्यति अब तक लोकप्रिय है। जौनपुर के शर्की दरबार की सबसे बड़ी देन 'सवाल' है। अकबर के दरबार में ईरानी, तुरानी, काश्मीरी और हिन्दू स्त्री-पुरुष अनेक उत्कृष्ट गवैये थे; किन्तु उस युग का सबसे बड़ा रागी तातसेव था। अमीर सुसरो से मुहम्मदशाह रंगीले के समय तक औरमजेद के एक-मात्र अपवाद को छोड़कर मुस्लिम दरबारों में भारतीय संगीत को प्रोत्साहन मिला; इसमें तराना, ठुमरी, गजन, कब्जाली आदि का उसमें प्रवेश हुआ।

चित्र-कला—मुगल चित्र-कला के उद्भव तथा प्रेरणा का मूल स्रोत ईरान था; किन्तु वास्तु कला की भाँति वह भी ईरानी और हिन्दू कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण था। अकबर के दरबार के चित्रकारों में बहुसंख्या हिन्दुओं की थी। १७ प्रधान चित्रकारी में १३ हिन्दू थे जो छवि-चित्रण में अत्यन्त कुशल थे। इनमें असावन, माल और दसवत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उद्यान-निर्माण-कला—प्रसिद्ध कला-भर्मज हैवल ने उद्यानों की योजना और निर्माण की भारतीय कलाओं में मुगलों की सबसे बड़ी देन कहा है। भारत में मुगलों के आने से पहले भी बाग थे, किन्तु वे मुख्य रूप से फलों के लिए थे और प्रायः बन जैसे होते थे। मुगलों के आने पर ईरान और तुर्कस्तान में विकसित उद्यान-कला के अनुसरण से। इनकी विशेषताएँ ये थीं—नहरों को ऊँचाई से लाकर उनसे सात-साठ प्रपात बनाये जाते थे, इसमें फव्वारे लगे होते थे, नहर की पटरियों के दोनों ओर फूलों की बगारियाँ होती थीं। सबसे ऊँचे या निचले फव्वारे पर बारह दरी होती थी, जहाँ से सारे दृश्य का अवलोकन किया जाता था। काश्मीर के शालामार, निशात, अजमल, बैरोनाग और लाहौर के शालामार बगीचे इसी ढंग पर मुगलों के बनवाये हुए हैं।

साहित्यिक उन्नति

अन्य प्रभाव—इस्लाम ने मध्ययुग में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक उन्नति और राजनीतिक एकता के विकास में बड़ा भाग लिया। उसने जन-साधारण के जीवन, रहन-सहन, वेश-भूषा और ज्ञान-गान पर भी प्रभाव डाला। हिन्दी में विद्यापति, तुलसीदास और सूर की रचनाएँ इस युग की हैं। बंगला भाषा को साहित्य के पद पर पहुँचाने में अनेक कारण थे। इनमें निस्सन्देह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हेतु मुसलमानों का बंगाल विजय करना था। यदि हिन्दू राजा स्वार्थीन बने रहते तो बंगला भाषा को राजाओं के दरबारों तक पहुँचने का अवसर मुश्किल से ही मिल पाता। चौदहवीं सदी के शुरू में नसीरशाह ने महाभारत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराया। रामायण के अनुवादक कृतिवास को मुस्लिम दरबार से पूरी सहायता मिलती थी। सन्नाह हुसैनशाह ने मलबर वगु से भागवत का बंगला में अनुवाद कराया। मुसलमानों के द्वारा संस्कृत ग्रन्थों के बंगला अनुवादों के अत्यधिक उदाहरण हैं। बहमनी बादशाहों ने मराठी को पूरा प्रोत्साहन दिया। इसी काल में उर्दू का विकास हुआ। सोलहवीं सदी में उसका जन्म हुआ और अठारहवीं सदी में वह साहित्यिक भाषा बनी। फारसी तबारीकों से देश में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

वैज्ञानिक उन्नति—वैज्ञानिक उन्नति विशेष रूप से सामरिक कला में हुई। मुगलों ने यूरोपीय रण-कला तथा बारूद, बन्दूक और तोपों का प्रयोग तुर्कों और ईरानियों से सीखा तथा उसका भारत में प्रसार किया। बुद्ध विद्या, सैनिक व्यवस्था और किलेबन्दी की इस समय विशेष उन्नति हुई। कामर बनाने की कला मुसलमान ही भारत में लाये। इससे विद्या-प्रसार के कार्य में बड़ी सहायता मिली। मुगल शासन ने सारे देश में सुदृढ़ शासन द्वारा राजनीतिक एकता उत्पन्न की।

उत्तर भारत की भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन और ज्ञान-गान में मुस्लिम प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बंगला, मराठी में सैकड़ों फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों

से बुद्धि हुई है। हिन्दुओं के विवाह-जैसे पवित्र संस्कार में सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा। हमारी अधिकांश मिठाइयाँ इसी काल की ईजाद हैं। बानुशाही, गकर-पारा, कलाकन्द, गुलाब जामुन, बरफी, हलवा सब सुसज्जमानी साम हैं। प्राचीन साहित्य में मोदक (जह्दू) और प्रपूष (मालपूके) के अतिरिक्त बहुत कम मिठाइयों का उल्लेख मिलता है।

इस्लाम के साथ हिन्दू धर्म के सम्पर्क ने भारत में जो प्रभाव पैदा किये वे अनुपम हैं। इसने एक नई समन्वयात्मक सम्मेलन देने का प्रयत्न किया, जो न हिन्दू थी और न मुसलमान; अर्थात् हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियों के सुन्दर तत्वों को लिये थी। इसने वह विभाजित मानव धर्म दिया जो जात-पात और संकीर्णताओं से मुक्त, पुरोहितों के प्रभुत्व से स्वतन्त्र, कर्मकाण्ड के बाह्य आडम्बर और विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा से रहित था, जो एकेश्वरवाद, विश्व-बन्धुत्व, प्रेम, संयम, सदाचार और आत्म-शुद्धि पर बल दे रहा था। इसने हमें वास्तु के क्षेत्र में ताजमहल दिया, जिसके तुल्य भव्य भवन संसार में देने-गिने ही हैं। इसने हमें सूर, तुलसी, विद्यापति और कृष्ण-दास दिये। इस्लाम और हिन्दू धर्म के राजनीतिक संपर्क का विषय बन गए हैं, किन्तु उस समय का कलात्मक वास्तु-वैभव—फतहपुर सीकरी और मौली मस्जिद तथा उस समय के मन्तों की चाणी हमें उस स्वर्णिम युग को याद दिलाती है, जब हिन्दू और मुसलमान एक होकर सहिष्णुता, प्रेम और सहयोग से समस्त भारत में एक उज्ज्वलतर, पवित्रतर संस्कृति का निर्माण कर रहे थे।

शासन-प्रणाली

प्राचीन भारत में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं; किन्तु प्रधानता राजतन्त्र की ही थी। गुप्त युग में ४०० ई० के बाद प्रजातन्त्रों का अन्त हो जाने से देश की एक-मात्र शासन-प्रणाली राजतन्त्र ही रह गई। यहाँ दोनों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

राजतन्त्र

वैदिक युग—राजतन्त्र की प्रणाली भारत में वैदिक युग में प्रचलित है। उस समय राजा की उत्पत्ति का कारण सम्भवतः सामाजिक आवश्यकता थी। कुछ में सफल नेतृत्व करने वाले व्यक्ति स्वभावतः राजा का पद धारण करते थे और उनके पुरोषों के योग्य होने पर यह पद धानुवंशिक बन जाता था। वैदिक राज्य प्रायः जनराज्य होते थे, इनका आधार कुल या परिवार होता था। कई कुलों में 'विश' का निर्माण होता और कई विशों से जन की रचना होती। एक जन या कबीले के व्यक्ति अपना मूल पुरुष एक ही मानते थे, उनका मुलिया राजा होता था। वैदिक युग के प्रारम्भ में राजा का निर्वाचन होता था किन्तु सम्भवतः साधारण जनता इसमें भाग नहीं लेती थी। जनता के नेता—कुलपति और विपति—ही राजा का चरण करते थे। चरण का अर्थ राजा बनने की स्वीकृति देना था। चरण होने पर राज्याभिषेक होता था और राजा प्रजा-पालन की 'प्रतिज्ञा' करता था। प्रतिज्ञा सोढ़ने पर राजा निर्वासित और पदच्युत किया जा सकता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक का वर्णन करते हुए इस प्रतिज्ञा का विवरण वर्णन है। इस समय राजा बड़ी श्रद्धा के साथ इस प्रतिज्ञा की उद्घोषणा करता था—'मैं जिस रात्रि को उत्पन्न हुआ था और जिस रात्रि की मर्त्यता इन दोलों के बीच में मैंने जितने यज्ञीय अनुष्ठान और पुण्य कार्य किये हैं, मैं उनमें, स्वर्गलोक में तथा अपनी संतान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं प्रजा से झोह करूँ।' (भा० ब० राशि-महाषोड्श या ब० श्रेतास्मि सधुमयमन्तरेण इष्टगृहं तं लोकं मुकृतमप्युः अथां पुनर्जीवा यदि ते दृष्टो वसिति। ऐ० ब्रा० अष्टम पत्रिका, अध्याय ४, श्लोक १४)। राज्याभिषेक के समय राजा के सिने इससे अधिक कठोर प्रतिज्ञा की कल्पना नहीं की जा सकती। इसमें राजा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यपालन की विधिवत्ता की अवस्था में

संपत्ते सब शुभ कर्मों के पुष्प फल की प्राप्ति से तथा प्रियतम सन्तान से वंचित होने का संकल्प करता है। इससे इस प्रतिज्ञा को गुस्ता और संभरीता स्पष्ट है। इस पीपणा के बाद ही राजा को व्याघ्रचर्म से आच्छादित घामन्दी या काण्डनिर्मित सिंहासन पर बैठने की अनुमति दी जाती थी तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने की धाती से सौ या नौ छिद्रों से बहने वाले जल के द्वारा उसका अभिषेक करता था। इस प्रकार प्रतिज्ञा एवं अभिषेक द्वारा राजा के चित्त पर प्रजापालन के कर्त्तव्य की महत्ता मनी भाँति संक्षिप्त कर दी जाती थी।

समिति और सभा—वैदिक काल में राजा निरंकुश नहीं था, उसका नियंत्रण समिति द्वारा होता था। यह वर्तमान काल की केन्द्रीय लोक सभा समझी जा सकती है। यह समूचे जन की संस्था थी। इसमें कौन-कौन जाते थे, यह कहना कठिन है। किन्तु घामणी, सूत, रथकार और कम्मरि इसमें अवश्य सम्मिलित होते थे। राज्य की असल बागडोर इसी के हाथों में थी। राजा की स्थिति इसी के समर्थन पर अक्ष-स्थित थी। राजाओं की यही इच्छा रहती थी कि समिति सदा उनका साथ दे। इसके बिछड़ होने पर वे घोर संकट में पड़ जाते थे। इसको सद्भावना और सहयोग पाने के लिए राजा समिति की बैठकों में भाग लेता था।

सभा का कार्य कुछ विद्वानों ने 'समान कांति (भा) वाले' व्यक्तियों का संगठन किया है। इनके अनुसार सभा एक प्रकार की बृद्ध परिषद् थी, इसमें पुरोहित, धर्मिक आदि उच्चवर्ग के व्यक्ति सम्मिलित होते थे और 'समिति' में साधारण व्यक्ति। सभा और समिति को प्रजापति की जुहवाँ कल्पार्थ समझा जाता था। केन्द्रीय सभा के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में भी सभा होती थी।

१००० ई० पू० से समितिमां वृद्ध होने लगी। इसका प्रधान कारण यह था कि पुराने जन-राज्य विस्तीर्ण होकर प्रादेशिक राज्य बन रहे थे। पहले इनका विस्तार वर्तमान जिलों के बराबर था, साक्षात् जनने पर ये कमिश्नरियों के बराबर हुए। इन विस्तृत राज्यों में समिति-जैसी केन्द्रीय लोक सभा के सदस्यों का इकट्ठा होना तथा काम करना कठिन था। उस समय न तो यातायात के साधन इतने उन्नत थे और न प्रतिनिधि-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था, अतः वैदिक युग के बाद समिति का अन्त हो गया।

वैदिक राजा रत्नियों की सहायता से शासन करता था। इनमें राजा के सख्ती, भारी, विभागों के अध्यापक और दरबारी सम्मिलित होते थे। इस युग के प्रधान अधिकारी सेनापति, संघीता (गोपाध्यक्ष) भागयुक् (पर-संघाहक वा धर्म-सन्धी), घामनी (गाँवों का मुखिया) और सूत (रथ सेना का नायक) थे। सरकार का प्रधान कार्य आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करना था। वर पहले ऐच्छिक और बाद में आवश्यक हो गए। राजा का प्रधान कर्त्तव्य प्रजा की

आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति करना था। राज्यों का आकार छोटा होने से इस समय तक प्रांतीय और स्थानीय शासन का विकास नहीं हुआ था।

मौर्य युग—मौर्यकालीन राजतन्त्र वैदिक काल की अपेक्षा अधिक सुविकसित और उन्नत था। उस समय तक राजा के अधिकारों में बहुत वृद्धि हो गई, राज्यों के अधिक विस्तृत होने तथा यातायात की कठिनाई के कारण राजा पर संकुश रखने वाली समिति का अन्त हो गया। राजा सेना, शासन, न्याय आदि सब विभागों का अधीश्वर बना, उसे कानून बनाने का भी अधिकार मिला। इस काल में राजतन्त्र की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) शासन-तन्त्र का विकास (२) राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार।

शासन-तन्त्र—मौर्य साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत ही व्यवस्थित था। केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन का स्पष्ट भेद और पिछले का विकास सर्वप्रथम इसी युग में हुआ है। केन्द्र में राजा मंन्त्रिपरिषद् के साथ शासन करता था। मौर्य सम्राट् अपने को केवल 'राजा' कहते थे और अपने साम्राज्य को 'विजित'। वैदिक काल के रत्नियों या राजा के परामर्शदाताओं ने अब मंन्त्रिमण्डल का रूप धारण किया। वैधानिक दृष्टि से यद्यपि यह राजा के प्रति उत्तरदायी था; किन्तु सौकुम्य का इस पर काफ़ी प्रभाव था और राजा को कई बार बाधित होकर अविच्छापूर्वक मंत्रियों की बात स्वीकार करनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त मौर्य अपने मंत्री कौटिल्य की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। सम्राट् अशोक बौद्ध संघ को अनावुन्य दान देने जा रहे थे, मंत्रियों ने इसका विरोध किया और अन्त में एक बार अशोक को 'बन्धूहीनेश्वर' होकर भी संघ की आगे आँखों का दान करके ही संतोष करना पड़ा।

प्रांतीय शासन की विस्तृत व्यवस्था भी सर्वप्रथम इसी काल में हुई। मौर्यों का 'विजित' पाँच प्रांतों (मण्डलों) में बँटा था, इन्हें संभवतः चक्र कहते थे।

(१) मध्य-देश—इसमें उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रांत का हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र सम्मिलित था। इसकी राजधानी पटना थी।

(२) प्राची—कलिंग-बंगाल आदि पूर्वी देश प्राची कहलाते थे। इनका शासनकेन्द्र ताम्रली (पोली जि० पुरी) थी।

(३) तम्रंदा के दक्षिण का प्रदेश दक्षिण-पथ था। इसकी राजधानी मुक्खं गिरि थी।

(४) मारवाड़ सिन्ध, गुजरात, कोंकण के प्रदेश 'अपर जनपद' या पश्चिम देश में होते थे। इसका शासन-तन्त्र उज्जयिनी से संचालित होता था।

(५) उत्तराथ—पंजाब, काश्मीर, काबूल आदि उत्तराथ में मिले जाते थे। इसकी राजधानी लक्ष्मिणा थी। इन पाँचों प्रांतों (चक्रों) में राजा की ओर से नियत 'कुमार' (राजकुमार) या महामात्य (सचिव) शासन का सम्पूर्ण निरोक्षण

करते थे। अशोक मुचरालावस्था में उज्जयिनी का शासक रहा था और उसने अपने पुत्र कुणाल को तक्षशिला का शासन-प्रबन्ध सौंपा था।

राज्य के कार्यक्षेत्र में भी उस युग में आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। पहले उसका प्रभाव उद्देश्य धातुतिक उपद्रवों से तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था, अब उसका आदर्श राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति समझा गया। धार्मिक उन्नति तथा भौतिक दृष्टि से देश को समृद्ध करने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धन्ये चलवाने, नई बस्तियाँ बसाने, नई जमीन कृषि योग्य बनाने, बाँध बनवाने, नाने सुदवाने, कारीगरों और मिलियों को संरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई। सामान्य जनता तथा उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हुए नाप तथा तौल का मान स्थिर करने, वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियत किये जाने लगे। राज्य वर्तमान काल में जिस आबोवित्त प्रबंध-व्यवस्था (Planned Economy) को अंग्रेज़र समझकर, उसे स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं, जर्मन विद्वान् उसका जन्मदाता चन्द्रगुप्त के मंत्री नाणक को मानते हैं। बुनिया में धर्म-कानूनों का प्रतिपादन सबसे पहले उसी ने किया। कारीगर का हाथ या धातु बेकार कर देने वाले को प्राण-दण्ड मिलता था। भौतिक समृद्धि के साथ-साथ जनता की नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया। वैधवा-भूति, घूस, मदिरा-पान आदि दुष्टाचर्यों का राज्य की ओर से नियन्त्रण किया गया। धर्म और सदाचार के प्रोत्साहन के लिए 'धर्म महामात्य' नामक राज-कर्मचारी नियत किये गए, विद्वानों, धर्म-प्रचारकों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया। दीन-दुष्टियों के कष्ट-निवारण के लिए धर्मशालाएँ, शालुराज्य (हस्पताल) तथा अन्न-क्षेत्र सोते गए।

इन सब कार्यों के लिए केन्द्र, प्रान्त तथा नगरों में जटिल शासन-व्यवस्था का विकास हुआ। पाटलिपुत्र नगर का प्रबन्ध तीन आदमियों की एक-सभा करती थी। इसके पाँच-पाँच आदमी छः छोटे वर्गों में विभक्त होकर शिल्प, वैदेशिकों की देख-भाल, जन-संयत्ना, प्राणिक-व्यवस्था, वस्तु-निरीक्षण और कर-वसूली के कार्य करते थे। केन्द्र में भीमों का सेना और गुप्तकर विभाग बहुत मजबूत और व्यवस्थित था। सेना के छः विभाग—पैदल, सवार, हाथी, रथ, जल-सेना और रसद के थे। न्याय-प्रबन्ध के लिए कटकपोषण या फौजी और धर्म-सर्व दीवानों न्यायालय थे। केन्द्र में राज्य के आय-व्यय हिसाब आदि रखने, उद्योगों की उन्नति के लिए अनेक अधिकार थे। इनसे उस समय केन्द्रीय शासन तथा सचिवालय का पर्याप्त विकास सूचित होता है। परबर्षों युगों का राजतन्त्र जगभर भीड़ आदर्श पर ही बना रहा।

साम्राज्य-युग—इस युग में भारत पर मुगलानी, राजा और कुशाओं के आक्रमण हुए—इनसे शासन-पद्धति तथा राजतन्त्र में कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए। इस काल की दो विशेषताएँ हैं।

(१) राजाओं के देवत्व का विचार सदा और उन्होंने लम्बी-लम्बी उपाधियाँ धारण करनी शुरू कीं। कनिष्क की देवपुत्र की उपाधि से सूचित होता है कि राजा की दिव्यता की भावना पहली श० ई० तक काफी प्रबल हो चुकी थी। कुशाण राजा देवकुलों या मन्दिरों में अपने वंश के मृत राजाओं की मूर्तियाँ स्थापित करते थे। राजाओं में उपाधियों का व्यसन बढ़ रहा था। मौर्य युग में कन्द्रगुप्त और कपिल जैसे शक्तिशाली नरेश केवल 'राजा' कहलाने से संतुष्ट थे, किन्तु कनिष्क ने 'महाराजा', 'राजाधिराज' की गौरवपूर्ण पदवियाँ धारण कीं। इसका अनुकरण करते हुए परवर्ती हिन्दू राजाओं ने भी 'महाराजाधिराज' की शानदार उपाधियाँ अपने नामों के साथ जोड़ना शुरू किया।

(२) शक कुशाण राजाओं की दूसरी विशेषता राजा और युवराज, पिता तथा पुत्र का संयुक्त शासन या 'द्वैराज्य' पद्धति थी। इस प्रकार के उदाहरण मौजोफर, कनिष्क द्वितीय तथा हुविष्क के शासन हैं। शकों में पिता महाक्षप और पुत्र क्षत्रप की पदवी धारण करता था और दोनों अपने नाम से निकले चलते थे। यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। एक म्यान में दो सलबारी का तथा एक जंगल में दो शेरों का रहना असम्भव है। इसी तरह एक राज्य में दो राजा नहीं रह सकते। इस काल में केन्द्र, प्रान्त, जिले और नगर का शासन वधापूर्व चलता रहा।

गुप्त युग—गुप्त युग में भारतीय राजतन्त्र और शासन-पद्धति लगभग अपरिवर्तित ही रही। शासन की जागहोर सामुदायिक राजा के हाथ में थी, सारी प्रभुता और शक्ति का स्रोत वही था। शासन, न्याय, सेना के सर्वोच्च अधिकार उसी की प्राप्ति थे। मन्त्रि-परिषद् मौर्य युग की तरह प्रधान रूप से उसे परामर्श देने वाली थी, किन्तु इसमें राजा को प्रभावित करने की पर्याप्त शक्ति थी। मुद्यान न्याय के कथनानुसार राजा विष्णुवर्धन प्रतिदिन पाँच लाख मुद्राएँ दान देना चाहते थे पर मन्त्रियों ने इस आधार पर दान का विरोध किया कि इससे राज-कोष खींच ही समाप्त हो जायगा और नये कर लगाने पड़ेंगे। राजा के दान की मर्यादा स्तुति होगी किन्तु मन्त्रियों की प्रजा की शान्ति में मुननी पड़ेंगी। केन्द्रीय सचिवालय पिछले युगों की भाँति काम करते रहे। राज्य द्वारा देश की भौतिक, धार्मिक, नैतिक और मानसिक उन्नति की ओर पूरा ध्यान दिया गया। नैतिक उन्नति के लिए एक विशेष मन्त्री होता था, इसका प्रधान कार्य लोगों के आचार की देख-भाल, धार्मिक संस्थाओं और मन्दिरों को दान देना, सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देना था। राज्य की ओर से शिक्षा-प्रसार एवं ज्ञान-वृद्धि के लिए सहायता की जाती थी। तासन्दा विश्वविद्यालय का विकास गुप्त सम्राटों के उदार दान से हुआ। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय राज्य शिक्षा-संस्थाओं के आन्तरिक प्रबन्ध और पाठ्यक्रम आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। राज्य द्वारा मन्दिर बनवाने की प्रवृत्ति से स्वायत्त, मूर्ति, चित्र आदि ललित कलाओं की बहुत प्रोत्साहन मिला।

राजाओं द्वारा विद्वानों का संरक्षण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। समूचे मध्यकाल में राज्य की ये प्रवृत्तियाँ जारी रहीं।

ग्राम पंचायत—गुप्त युग के राजतन्त्र सम्बन्धी दो परिवर्तन स्मरणीय हैं। पहला तो यह कि ४०० ई० से भारत में गणराज्यों का अन्त हो गया। अग्रे इनके विलुप्त होने के कारणों पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। दूसरा परिवर्तन स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं—ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं—के कार्यों और अधिकारों में आश्चर्यजनक वृद्धि है। ये संस्थाएँ मौर्यकाल से और उससे भी पहले से चली आ रही थीं किन्तु ज्यों-ज्यों राज्य के विस्तार और केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई, स्थानीयों इनका अधिक विकास हुआ। सन्धि-विग्रह को छोड़कर इन्हें सब अधिकार प्राप्त थे। वे ग्राम की रक्षा की व्यवस्था तथा राजकीय करों का संग्रह करतीं, नये कर लगातीं, गाँव के भूमिद्वों का फैसला करतीं, लोक-हित की योजनाएँ बनाने हाथ में लेतीं, धार्मिक ऋण आदि लेकर अकाल और अन्य संकटों के प्रतिकार का उपाय करतीं, पाठशालाएँ, अनामालय, विद्यालय चलातीं, मन्दिरों द्वारा विविध सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य करतीं। इन संस्थाओं पर वर्तमान केन्द्रीय सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण होता था किन्तु प्रधान रूप से ये ग्राम की साधारण जनता द्वारा चुनी जाती थीं। दक्षिणी भारत के लेखों से इनकी निर्वाचन-प्रणति तथा कार्य-प्रणाली पर अधिक प्रकाश पड़ा है। उदाहरणार्थ चिगलपट्ट जिले के उत्तर मैदुर गाँव की कार्य-कारिणी के सदस्य बिट्टो डालकर चुने जाते थे। ग्राम के तीनों बाजों (विभागों) में प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे। प्रत्येक उम्मीदवार का नाम कामज के पुनक पुर्जों पर लिख लिया जाता था। हर एक बाई के पुर्जों या पत्तियों एक वर्तन में रख दी जाती थीं और किसी अवधि शिबु में एक पत्ती उठाने को कहा जाता था। जिसके नाम की पत्ती आती वह उस बाई का प्रतिनिधि घोषित होता था। इस चुनाव में किसी प्रकार के प्रचार, पैरवी या पार्टीबाजी की जरूरत ही न होती थी। इस प्रकार साधारण जनता द्वारा निर्वाचित ग्राम-पंचायतें उन दिनों प्रजातन्त्र का सुपुङ्गु दुर्ग थीं। वैदिक काल की भूमिगत का कार्य ये भारी मध्ययुग में करती रहीं। राजा प्रायः ग्राम-पंचायत के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। यदि करता था तो पंचायतें अपनी जागरूकता से उसकी रोक-बाम करती थीं। पंचायतों के हाथ में राजा की नियन्त्रित करने का एक ब्रह्मास्त्र था, जनता से कर वसूल करके, उसे राजा तक पहुँचाना इन्हीं का कार्य था; यदि राजा अनुचित, नपे और अन्याय कर लगाने लगे थे उनको वसूल करने से ठीक वैसे ही इन्कार कर सकती थीं जैसे भोज राज्य-काल से पहले राजा के अनुचित-करों को फौज पार्लमेंट (न्यायालय) जैसे मानना अंगीकार नहीं करते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में ग्राम पंचायतें प्रजातन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त को विपरीत रूप प्रदान कर रही थीं कि कोई कर प्रजा के प्रतिनिधियों की सहमति के बिना नहीं लगाया जा सकता। इन ग्राम पंचायतों के कारण उस समय राजतन्त्र होते हुए भी साधारण जनता प्रजातन्त्र के सभी लाभ

उठा रही थी, क्योंकि स्थानीय स्वशासन में उसे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ब्रिटिश युग की शक्तियों ने पंचायती और ग्राम-सभाओं का अन्त कर दिया। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्र भारत में इनका पुनरुद्धार हो रहा है। उन्हें न केवल न्याय किन्तु सार्वजनिक स्वास्थ्य, निर्माण, विकास योजनाओं, शिक्षा, कर-संग्रह आदि के कार्य सौंपे जा रहे हैं।

प्राचीन राजतन्त्र की समीक्षा—राजतन्त्र लोकतन्त्र का युग है, राजतन्त्र को प्रजातन्त्र की भाँति जनता के लिए उतना कल्याणकारक नहीं समझा जाता। इस अवस्था में यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र प्रजा के लिए कितना उपयोगी और हितकर सिद्ध हुआ। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें सारी शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है, यदि उस पर कुछ प्रतिबन्ध न हों तो वह उसका मतमाना दुरुपयोग करने लगता है और प्रजा कष्ट पाती है। यूरोप में मध्यकाल में जब राजाओं ने अपने घसीम अधिकारों का दुरुपयोग करके प्रजा के हाथे पसीने से कमाये धन को भोग-वििलास में अन्धाधुन्य फूँकना शुरू किया; निरपराध व्यक्तियों को जेल में डालना तथा प्रजा पर अशुचित कर लगाना शुरू किया तो जनता ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह किया और वहाँ राजतन्त्र का अन्त हो गया। भारत में राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करते हों, सो बात नहीं; किन्तु उनकी शक्ति पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे। इनके कारण प्रजा प्रायः निरंकुश राजतन्त्र की बुराइयों से बची रहती थी।

राजतन्त्र पर प्रतिबन्ध—पहला प्रतिबन्ध—राज्य-सम्बन्धी अनेक उदात्त आदर्श और उच्च धारणाएँ थीं। ये राजा को निरंकुश या स्वेच्छाकारी होने से रोकती थीं। पहली धारणा यह थी कि राजा प्रजा का सेवक है उसका प्रधान कार्य जनता की प्रसन्न रखना है। राजा कहते ही उसे हैं जो प्रकृति का अनुसरण करे। कौटिल्य के मतानुसार प्रजा के हित में राजा का हित है और प्रजा के सुख में राजा का सुख है।

दूसरी धारणा यह थी कि धर्म का पालन राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है। संसार के सबसे पहले राजा धर्म को मह प्रतिष्ठा करनी पड़ी थी कि मैं धृति-स्मृतियों में बताये धर्म का पूरा पालन करूँगा और कभी मनभागी न करूँगा। प्राचीन काल में प्रजा में रोम, शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्त्तव्य-व्युत्त होना समझा जाता था। अतः राजा से धर्म पालन की पूरी आशा रखी जाती थी।

तीसरा विचार यह था कि राज्य राजा की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं किन्तु पवित्र धरोहर है। यदि राजा सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग करता है तो वह नरकगामी होता है। केवल इतना ही नहीं कि उसे राज्य से स्वार्थ-सिद्धि नहीं करनी चाहिए, किन्तु उसके लिए स्वार्थ-त्याग भी करना चाहिए। 'धर्म पुराण' के शब्दों में जिस प्रकार नरमेवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुँचाने की धारणा से अपनी इच्छाओं का नियंत्रण

धीरे-धीरे मुखों का त्याग करती है, वैसे ही राजा को भी प्रजा के हित के लिए अपने मुखों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि धीराम धीरे धीरे जैसे राजाओं ने इन उदात्त आदर्शों का पालन किया। प्राचीन काल में नरक के भय से अधिक भोषण कल्याण बड़ी कठिन थी। अतः यह साधा रानी जा सकती है कि अधिकांश राजाओं से अपनी सत्ता का दुरुपयोग नहीं किया होगा।

दूसरा प्रतिबन्ध मन्त्रि-मण्डल द्वारा राजा का नियन्त्रण था। पहले अशोक धीरे-धीरे विष्णुधर्म्य के धर्म्याचरण धर्म के विरुद्ध मन्त्रियों के सकल विरोध का उल्लेख किया जा चुका है। 'राजतरंगिणी' में उनके प्रभाव के अनेक उदाहरण हैं। राजा सत्यवती के मन्त्रियों के निर्णय से पदच्युत किया गया। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ कलश अपने पूजार्थों को मुखराज बनाना चाहता था, पर मन्त्रियों के विरोध के कारण असफल हो सका। वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी मन्त्रि-मण्डल राजा को स्वेच्छाचारिता पर काफी संकुल रखता था।

तीसरा प्रतिबन्ध प्रजा को राजा के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार था। प्राचीन शासक यह कल्पना नहीं करते थे कि प्रजा राजा के सत्याचार को चुनचाप सहन कर लेगी। उन्होंने उसे राजा को चेतावनी देने तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार दिया है। पहले तो प्रजा वह धमकी देती थी कि यदि तुम अपना रवैया नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़कर चले जाएंगे और यदि राजा पर इसका कोई असर न पड़े तो वह अयोग्य राजा को गद्दी से उतार कर अन्य गुणवान् व्यक्ति को उस पद पर अधिष्ठित कर सकती थी। महाभारत में धर्म्याचारी राजा के रूप तक की शान्ति दी गई है। वेन इस प्रकार के धमकाने राजाओं में से था। नहुष, सुदास, धुम्बक, निमि प्रजा की प्रकीर्णमि का शिकार हुए थे। कौटिल्य ने राजा को प्रजा के रोष से सर्वत्र सावधान रहने का आदेश दिया था। प्राचीन काल में राजा के विरुद्ध विद्रोह करना धीरे-धीरे असफलता पाया बहुत कठिन न था। मौर्य धीरे-धीरे शुद्ध वंश के अन्तिम शासकों तथा राष्ट्रकुट राजा तोकिन्द चतुर्थ का अन्त जनता, सामन्ती और सेनापतिओं के विद्रोह द्वारा ही हुआ।

चौथा प्रतिबन्ध ग्राम-पञ्चायतों का विकास था। इनमें जनता का पूरा शासन था और वे राजा के स्वेच्छाचार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थीं। राजा चाहें कितने ही मनमाने कर क्यों न लगा दे, उसे बड़ी कर मिल सकते थे जिन्हें ग्राम-सभाएँ वसूल करके देने को तैयार हो। इन्हें न्याय के भी पर्याप्त अधिकार थे। अतः राजा इस क्षेत्र में भी मनमानी नहीं कर सकता था। 'ग्राम धीरे नगर संस्कार' बहुत अर्थों में छोटे-छोटे प्रजातन्त्र हैं, जिनमें जनता की इच्छा के अनुसार शासन होता था। अतः राजा यदि धर्म्याचारी होता तो भी उसका प्रभाव राजधानी तक ही सीमित रहता था।

इन प्रतिस्पर्धियों से प्राचीन भारत को राजतन्त्र के दुष्परिणाम बहुत कम भोगने पड़े। मध्य युग में जनता जब अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए जामरूप नहीं रही, तभी राजाओं की मनमानी करने का मौका मिला। सामान्यतः प्राचीन राजतन्त्र लोकहित का उच्च आदर्श अपनाने के कारण जनता के लिए हितकर ही सिद्ध हुए।

प्रजातन्त्र

प्राचीन काल में राजतन्त्र के साथ-साथ वैदिक युग से गुप्त युग तक भारत में प्रजातन्त्रों या गणतन्त्रों का अस्तित्व बना रहा। उत्तर वैदिक युग में उत्तरकुश तथा उत्तरमध्य देशों की शासन-प्रणाली वैराज्य प्रणाली राजहीन कहलाती थी, क्योंकि वहाँ राजा शासन नहीं करते थे। बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि संयुक्त प्रान्त के गोरखपुर जिले और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में छठी श० ई० पू० में दस गणराज्य थे। ५०० ई० पू० से ४०० ई० तक गंजाव और सिन्ध में गणराज्यों का बोल-बाला था। इन्होंने चौथी श० ई० पू० में सिकन्दर का डटकर मुकाबला किया; बाद में, यहाँ और कुशाणों का प्रतिरोध करते रहे। भारत में विदेशियों के शासन का अन्त करने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं को है। यहाँ प्रधान गणतन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

बौद्ध साहित्य के गणतन्त्र—बौद्ध साहित्य में दस गणतन्त्रों का उल्लेख है कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकण के कुली, केसपुत्र के कालाम, संसुमार के भग, रामग्राम के कोलिय, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पली वन के मौरिय, मिथिला के विदेह और वैशाची के लिच्छवि। इनमें भग्य, कुली, कोलिय और मौरिय गणतन्त्र सामुनिक तहसीलों से अधिक बड़े थे। इनमें अधिक प्रसिद्ध शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह थे। इन सबमें शाक्य राज्य सबसे छोटा और गोरखपुर जिले में अवस्थित था। इसी में भगवान् बुद्ध हुए थे। इससे पूर्व में पटना तक मल्लों का राज्य काफी विस्तारण था, इनके प्रसिद्ध केन्द्र कुशीनगर (गोरखपुर में कुशीनारा) और पावा (जि० पटना) थे। कुशीनगर भगवान् बुद्ध की तथा पावा वर्तमान महावीर की निर्वाण-भूमि थी। इनसे पूर्व में लिच्छवि और विदेह गणतन्त्र थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाची (बयाड़ जि० मूजफ्फरपुर) थी और विदेह की मिथिला। इनमें से अधिकतर गणतन्त्र बुद्ध के जीवन-काल में बने रहे, किन्तु शनैः-शनैः शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों द्वारा इनका अस्तित्व मिटने लगा। मगध का साम्राज्य इनके लिए सबसे बड़ा खतरा था। शासन-रखा के लिए गणतन्त्र संयुक्तसंघ बनाने लगे। लिच्छवि कभी मल्लों से मिलते थे और कभी विदेहों से। बुद्ध के समय लिच्छवि और विदेहों के संघ में आठ गणतन्त्र सम्मिलित थे। यह संघ उस समय वज्जि नाम से प्रसिद्ध था। मगध का राजा अजातशत्रु इसे जीतना चाहता था। उसने इनके जीतने का उपाय ढूँढ़ने के लिए अपना मन्त्री वर्षकार भगवान् बुद्ध की सेवा में भेजा। बुद्ध का कहना था कि जब-तक वज्जी मिलकर अपनी सभाएं करते रहेंगे, संगठित होकर राज-कार्य करेंगे, प्राचीन रीति-

रिवाजों का पालन करेंगे, बृद्ध पुरुषों की सम्पत्ति का आदर करते रहेंगे, सब तक बज्जी लोगों के शतन की आशंका नहीं करती चाहिए। अजातशत्रु ने अपने कूटनीति-कृशक मन्त्री से वज्जियों में फूट डलवा दी और बिहार के सबसे शक्तिशाली गणतन्त्र को अपने अधीन कर लिया। ५०० ई० पू० तक बाकी सब गणतन्त्र भी मगध साम्राज्य का अंग बन गए। लिच्छवियों को यद्यपि इस समय मगध के धामें नतमस्तक होना पड़ा, किन्तु २०० ई० पू० तक वे फिर स्वतन्त्र हो गए। चौथी श० ई० में यह राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था और गुप्त साम्राज्य की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त ने इसकी कुमारदेवी से परिणय करके अपने वंश का उत्कर्ष किया। वैवाहिक सम्बन्ध से यह राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया।

पंजाब के गणराज्य

योधेय—५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिन्ध में गणतन्त्रों की प्रधानता थी। यहाँ केवल प्रधान गणतन्त्रों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। योधेय तीन गणतन्त्रों का शक्तिशाली संघ था। इसकी मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहरनपुर से पश्चिम में बहावलपुर तक, उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण में दिल्ली तक रहा होगा। इस प्रकार इसमें वर्तमान पूर्वी पंजाब का काफ़ी बड़ा हिस्सा आता था। योधेय उस समय के उत्कृष्ट घोड़ा से और अपनी बीरता के लिए विख्यात थे। देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को वे अपना कुलदेवता मानते थे। इन पंजाबी वीरों के पराक्रम की कथा जब सिकन्दर के सैनिकों ने सुनी तो उनके दिल दहल गए, उन्होंने धामें बढ़ने से इन्कार किया। सिकन्दर को विवश होकर लौटना पड़ा। पहली श० ई० में इस गण को कुशाणों ने जीता, किन्तु स्वतन्त्रता-प्रेमी योधेयों को वे देर तक अपने अधीन नहीं रख सके। "दूसरी श० ई० के उत्तरार्ध में 'अपने पराक्रम के लिए समस्त क्षत्रियों में अग्रगण्य' इन वीरों ने फिर सिर उठाया और २२५ ई० तक इन्होंने न केवल अपनी कोई हई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, किन्तु कुशाण साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया, जिससे वह फिर न संभल सका।" ३५० ई० तक यह गणतन्त्र बना रहा। बहावलपुर के जोहिने इन्होंने योधेयों के वंशज माने जाते हैं।

कुणिन्द तथा मद्र—यह संभवतः जालन्धर द्वारों में था। इसका पुराना नाम जिनर्त जनपद था, बाद में इसे 'कुणिन्द' कहा जाने लगा। यह राज्य दूसरी श० ई० तक वर्तमान या, कुशाणों को भारत से अश्वेड़ने में इसने योधेयों को बड़ी सहायता दी थी। रावी, चनाब, झबे के उपरले हिस्सों में मद्रों का शक्तिशाली राज्य था। ये संभवतः कठों से भिन्न न थे। इन्होंने सिमान्दर के सम्मुख नतमस्तक हो प्राण-रक्षा की अपमानजनक सन्ध, युद्ध में लड़कर मर जाना ही अस्पर्क समझा। इनकी राजधानी स्वातकोट थी।

मालव और क्षुद्रक—वेहलम और रावी के संगम के नीचे रावी के दोनों तटों पर मालव सभ का राज्य था और उसके पूर्व में इनके साथ मिला हुआ क्षुद्रकों का संघराष्ट्र था। ये दोनों घट्यन्त स्वतन्त्रता-प्रेमी और लड़ाकू जातियाँ थीं। सिकन्दर का सामना करने के लिए इन्होंने संयुक्त शोका बनाई थी किन्तु दोनों की सेनाएँ मिलने से पहले सिकन्दर मालवों पर दूट पड़ा। मालवों के एक लाख लड़ाकू धीरों ने यूनानियों से जम कर लड़ा लिया, सिकन्दर एक बर्छे के धाव से मरते-मरते बचा। सिकन्दर के संकट से उन्होंने एकता का पाठ पढ़ा और मालव और क्षुद्रक सभ की एकता कई शताब्दियों तक बनी रही। १०० ई० पू० के लगभग मालव पंजाब से निकलकर अजमेर-चित्तौड़ रोंक के प्रदेश में बसे और फिर वहाँ से धागे बड़ते हुए मध्य भारत के उस प्रदेश में धावे, जिसे धाव भी उनके नाम से मालवा कहा जाता है। १५० ई० के लगभग शकों ने उन्हें परास्त किया किन्तु २२५ ई० तक वे पुनः स्वतन्त्र हो गए। इनके सिक्कों पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' का लेख उत्कीर्ण मिलता है।

शिवि और अम्बष्ठ—मालवों के पड़ोस में वर्तमान खोरोड (पश्चिमी पंजाब) के पास शिवि गणतन्त्र था और क्षुद्रकों के पड़ोस में अम्बष्ठ। इन दोनों ने बिना लड़े सिकन्दर की धापीनता मान ली थी। शिवि १०० ई० पू० तक राजपूताने में चित्तौड़ के पास माण्यमिका नगरी में जा बसे थे।

अर्जुनासन—प्राधुनिक आगरा-जयपुर प्रदेश में २०० ई० पू० से ४०० ई० तक यह गणतन्त्र विद्यमान था। इनकी मुद्राओं पर 'अर्जुनासनों की जय' का लेख मिलता है। ये अपना उद्भव संभवतः महाभारत के अस्त्रिष्ठ पाण्डव अर्जुन से मानते थे। इनके प्रतिरिक्त दारिका में अम्बक—युष्णिगों का भी एक गणतन्त्र था। श्रीकृष्ण इसके प्रधान नेता थे।

गणतन्त्रों की कार्य-प्रणाली

गणतन्त्रों का सारा राज्य-कार्य उनके सभा-मण्डलों या सभागारों में होता था। शासन का सर्वोच्च अधिकार केन्द्रीय समिति के हाथ में था। योधियों की समिति में पाँच हजार तथा चिच्छवियों की समिति में ७,७०७ सदस्य थे। रोम की पाराम्पिक सीनेट की भाँति ये सदस्य कुलीन वर्ग के होते थे, वंश-नरन्तरा द्वारा समिति में बैठने के अधिकारी थे। सरकार पर केन्द्रीय समिति का पूरा नियन्त्रण था। समिति के सदस्य राज्य की खरी-बोटी धानोचना लूब करते थे। अम्बक युष्णिग सभ के नेता श्रीकृष्ण ने नारद से शिकायत की थी कि मुझे धानोचकों के कट्ट बचन सुनने और पहने पड़ते हैं। वर्तमान युग की भाँति इनमें पाटीबाजी और दलबन्दिनी काफी होती थी। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि समिति में प्रस्ताव आजकल की तरह तीन बार पेश होने के बाद पास होता था, मतगणना का कार्य शलाकाग्राहक नामक अधिकारी

करता था। विवादास्पद प्रश्नों के लिए उद्वाहिका या निर्वाचित समिति बनाई जाती थी। प्रायः सभी निर्णय बहुमत से किये जाते थे।

प्राचीन गणतन्त्रों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। इनके स्वतन्त्र वातावरण में स्वाधीन तरबियन्त ने बड़ी उन्नति की। श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर की गणतन्त्रों ने जन्म दिया। उपनिषदों के एक बौद्ध तथा जैन दर्शनों के विकास में इन्होंने बड़ा भाग लिया। इन राज्यों की उत्कट देश-भक्ति प्राचीन राजतन्त्रों में कहीं नहीं दिखाई देती, इन्होंने राजाओं की अपेक्षा सिकन्दर का अधिक सफलतापूर्वक सामना किया। गणतन्त्रों में कृषि, व्यापार और वाणिज्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैयक्तिक राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से ये राजतन्त्रों के समान महत्वपूर्ण थे। इन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं को देश से भगाया, जब तक ये बने रहे, भारत उन्नति करता रहा।

इनके अन्त का कारण थी जायसवाल के मत में गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति की किन्तु जिन गणतन्त्रों ने सिकन्दर का तथा मौर्य और कुशाण साम्राज्यों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया वे गुप्तों द्वारा कैसे पराभूत हुए? गुप्तों ने उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया, अतः उनका साम्राज्यवाद उनके लिए घातक नहीं हो सकता। वास्तविक कारण गणतन्त्रों की जनता में स्वतन्त्रता के लिए जागरूक न रहना, अपने नेताओं की राजकीय उपाधियों, राजसी ठाठ-बाट और आनुवंशिक पद धारण करने से न रोकना था। गणतन्त्रों की एक बड़ी कमजोरी पारस्परिक दलबन्दी और फट थी। इसमें संगठन और एकता का अभाव था। उनका जातीय अभिमान इसमें अवश्यत बाधक था। उनकी दृष्टि संकुचित थी। अपनी स्वतन्त्रता पर संकट घटने के समय वे प्राणों की प्राप्ति देने की तैयार रहते थे किन्तु सिकन्दर, शकों या कुशाणों का सामना करने के लिए पंजाब, सिन्ध और राजपूताने के गणतन्त्रों में एक होकर विधान उत्तर-पश्चिम राज्य-संघ बनाने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध मौर्य और गुप्त सम्राटों द्वारा ही हो सका। अतः गणतन्त्र मोक्षप्रिय न रहे। उपर्युक्त कारणों से वे समाप्त हो गए। आज प्राचीन गणतन्त्र नवीन भारतीय गणराज्य के पथ-प्रदर्शन के लिए महत्वपूर्ण शिक्षार्थ दे रहे हैं और इनकी भली-भाँति हृदयंगम करने में ही हमारा कल्याण है।

भारतीय कला

भारतीय कला की विशेषताएँ

१. भाव-व्यंजना की प्रधानता—भारतीय कला अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण अन्य देशों की कलाओं से भौतिक रूप से भिन्न है। उसका मर्म मनमंजु के लिए इनका परिज्ञान आवश्यक है। उसकी पहली विशेषता भाव-व्यंजना की प्रधानता है। कला साकृति, प्रतिरूपिता और अभिव्यक्ति पर धन देने से प्रायः हीन वस्तु जिसमें विभक्त की जाती है। जिस कला का उद्देश्य मुख्य रूप से सौन्दर्यमयी साकृतियों बनाना होता है, वह साकृति-प्रधान (Formal) कहलाती है। जिसमें स्मरणीय प्राकृतिक घटनाओं और मानवीय रूपों की समान्य प्रतिरूपिता बनाकर उन्हें सर्वत्र के लिए स्मरणीय बना दिया जाता है, वह प्रतिरूपिता-प्रधान (Representative) होती है और जिसमें किसी समूर्त भाव को कलात्मक कृति द्वारा अभिव्यक्त किया जाए वह अभिव्यक्ति-प्रधान (Expressive) कला कही जाती है। बीजियों ने पहले प्रकार पर अधिक ध्यान दिया, उनकी कृतियाँ देखते ही हम उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करने लगते हैं। यूनानी तथा पश्चिम की साधुनिक कला प्रतिरूपिता-प्रधान है, उसमें नृत्य-नारी के आदर्श स्मरणीय रूप को हृदय पर लगे हुए वस्त्र में सोने तथा चिपचप पर प्रकाश करने का सफल और सराहनीय प्रयास किया गया है। पहली दृष्टि में ही उनकी कला-कृतियाँ प्रेक्षक को अपनी अमूर्त-प्रधान वस्तुवादी स्मरणीयता से प्रभावित कर लेती हैं। किन्तु भारतीय रचनाओं में ऐसी बात नहीं है, उनमें बाह्य सौन्दर्य दिखाने के बजाय आन्तरिक भावों के प्रकट को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसमें बाह्य सौन्दर्य की ओर नहीं, किन्तु अन्तर्गत के धामेधन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारतीय कलाकारों ने नगवान् बुद्ध के संव-प्रसंग-गहन, माँस-पेशियों के सूक्ष्म विवरण, भल्लीदार भुजाओं के प्रकट की अपेक्षा उनके मूल-भगवत् पर निर्वाण और समाधि के दिव्य आनन्द को प्रदर्शित करने में अधिक हस्तक्षेप प्रदर्शित किया है। भारतीय कला में प्रतिरूपिता-मूलक कृतियों का सर्वथा अभाव ही, तो बात नहीं, किन्तु प्रधानता भाव-व्यंजना की ही रही है। वाक्य की भाँति कला की भाँति भी 'रस' ही मानी जाती थी। रस की अभिव्यक्ति ही कला का चरम लक्ष्य था। इसके अभाव में यूनानी तथा पश्चिमी कला चित्राकर्षक होते हुए भी निष्प्राण

और निर्जीव है, भारतीय कला कई बार उतनी यथार्थ और नयनाभिग्राम न होती हुए भी प्राणवान् और सजीव है।

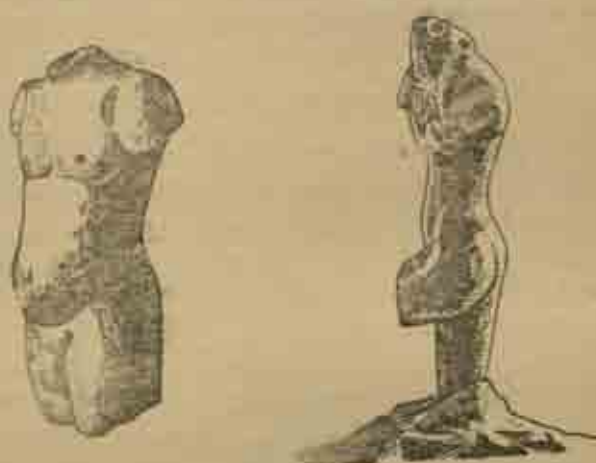
२. धर्म तत्त्व की सुस्पष्टता—दूसरी विशेषता भारतीय कला में धर्म-तत्त्व की प्रधानता है। प्राचीन-काल में कला धर्म की चेरी थी, इसके सभी धर्मों का विकास धर्म के साधन से हुआ। मूर्तिकारों ने प्रधान रूप से महात्मा बुद्ध तथा पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाई, वास्तु कला का विकास स्तूपों, विहारों और मन्दिरों द्वारा हुआ, चित्र कला का प्रधान विषय धार्मिक घटनाएँ थीं। भारत में कला कला के लिए नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप के साक्षात्कार या उसे परम तत्त्व की ओर उन्मुखीकरण के लिए थी। भारतीय कलाकारों के अनुसार विषयोपभोग में प्रवृत्त करने वाली कला कला नहीं है, जिससे आत्मा परम तत्त्व में लीन हो, वही श्रेष्ठ कला है।^१ मूर्तिकला का प्रधान ध्येय उपासकों के हित के लिए भगवान् की प्रतिमा बनाना या (साधकानां हितार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पनम्)। यही ज्ञान धन्य कलाओं का था। किन्तु भगवान् धर्मीय, अपरिमेय और अनन्त है, इसकी सान्द्र प्रतिमा कैसे बन सकती है। अतः मूर्ति केवल उसकी प्रतीक है। भगवान् के विविध रूप हैं, अतः उनके प्रतीक भी विभिन्न होंगे। भारतीय कला इस प्रतीकात्मकता (Symbolism) से भोत-भोत है। कलाकारों का प्रधान ध्येय निरुद्ध दार्शनिक तत्त्वों को मूर्त रूप प्रदान करना था। इसीलिए इनके बारे में यह कहा जाता है कि वे पहले धर्मवेत्ता और दार्शनिक थे और बाद में कलाकार। उनका प्रधान उद्देश्य सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं को स्पष्ट रूप देना था। उन्होंने सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण किया, किन्तु धार्मिक सत्य की अभिव्यक्ति के लिए ही। सत्य गुण के पुरोपीय कलाकारों की भाँति भारतीय शिल्पियों ने जो कुछ बनाया, प्रायः भक्ति भाव से अनुप्राणित होकर ही। भजना आदि के चर्मों के निर्माता वहाँ रहते बाने बौद्ध भिक्षु थे। उन्हें राजाओं को प्रसन्न करने के लिए या अपना पैद करने के लिए नहीं, किन्तु अपने चैत्यों और विहारों की श्रमकुल करने के लिए कलात्मक मूर्ष्टि करनी थी।

३. अनामता—भारतीय कला की तीसरी विशेषता अनामता है। कहा जाता है कि नाम और शोकेयता की भावना महापुरुषों की अन्तिम दुर्बलता होती है।^२ किन्तु अधिकतर भारतीय कलाकार इससे मुक्त थे। उन्होंने किसी या मूर्तियों पर अपने नाम की प्रतीकात्मक छवि की अङ्गुष्ठता से धमक होता श्रेयस्कर समझा। नाम तो वहाँ दिया जाता है, वहाँ आत्माभिव्यक्ति और विज्ञान की भावना प्रबल हो। उनका उद्देश्य तो दार्शनिक तथा धार्मिक भावनाओं की, तथा भगवान् की महिमा की अभिव्यक्ति थी, अतः उसमें नाम प्रवाल और नाम लीन था। यही कारण है कि अज्ञात श्रेष्ठ प्रसिद्ध गुप्तमन्दिरों के निलिचिकों के निर्माताओं के नाम हमें आज नहीं हैं।

^१ विश्वामित्रस्य सम्भोगे सा कला न कला मता ।

श्रीमते परमानन्दे यमामा सा परा कला ॥

भारतीय कलाओं का विकास—सब भारतीय कलाओं का मूल वेद माना जाता है किन्तु वैदिक युग की मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि कलाओं के कोई प्राचीन अवशेष नहीं मिलते। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय इमारतें, मन्दिर, मूर्तियाँ प्रायः लकड़ी की बनी होती थीं, भारत के घाई जलतायु और दीमक के प्रभाव से इनका कोई निशान नहीं बचा। भारतीय कला के प्रारम्भिक इतिहास पर अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है। यह पहली बार ईसा से २,७०० वर्ष पूर्व मोहें-जोदड़ो



मोहें-जोदड़ो के दो स्तम्भ



क

ख

मोहें-जोदड़ो की मूर्तियाँ

में तथा दूसरी बार उसके २,४०० वर्ष बाद तीसरी श० ई० पूर्व में ससोक के समय उलटा है। दोनों कालों की कला सम्पन्न होइ है। उसी कला समझी को विस्मय में

ज्ञात दिया है। मोहेंजोदड़ो का जैके ककुद जाला बेल तथा अन्य पदु इतने सुन्दर हैं कि सार्वाल के शब्दों में इनकी कला को किसी भी तरह प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा की दो मूर्तियाँ देखाकर तो वे इतने विस्मित हुए थे कि उन्हें पहले यह विश्वास ही नहीं हुआ कि ये मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक काल की हो सकती हैं। इनकी सर्वेन इतनी सुन्दर है कि पुरानी दुनिया में मूमाती युग से पहले बनी रचना सम्भव नहीं पाई जाती। चौबीस शताब्दियों के अन्त्यकार के बाद हमें फिर सोचें युग में भारतीय कला अत्यन्त परिपक्व और विकसित रूप में दिखाई देती है। सशोक स्तम्भ के शीर्ष पर बने सिंह उस समय की कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं। सोर्य युग से ही मूर्ति तथा वास्तु कला के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, अतः इस युग में प्रत्येक काल के कला-सम्बन्धी विकास पर सक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

सौर्य युग

भारतीय कलाओं का किन्तु इतिहास सम्राट अशोक के समय से उपलब्ध होता है। उसने बौद्ध धर्म अंगीकार करने के बाद देश में कला को पूरा प्रोत्साहन दिया, धर्म-प्रचार के लिए बहुत अधिक स्मारक बनवाये। बौद्ध अनुभूति के अनुसार



सार्नी का स्तूप

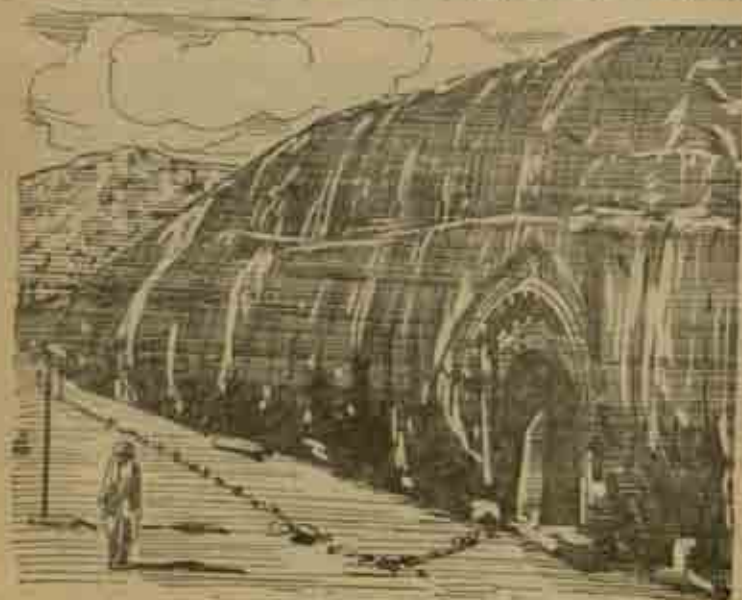
उसे २४ हजार स्तूप बनाने का श्रेय दिया जाता है। वर्तमान समय में उसके उपलब्ध स्मारकों को चार भागों में बाँटा जाता है (१) स्तूप (२) स्तम्भ (३) गुहाएँ (४) राव-ब्राह्मण।

स्तूप—महात्मा बुद्ध की पवित्र धातु (भस्म) पर तथा उनके सम्पर्क से पवित्र स्थानों पर स्तूपों का निर्माण किया जाता था। स्तूप उल्टे कटोरे के आकार का पत्थरों या ईंटों का ठोस गुम्बद होता था। 'वैदिक काल से 'श्व' को (बिना जलाने या जलाकर) तोपकर जो तुदा बनाने की रीति चली आती थी, यह उसी का विचित्र विकास-भाव था।' प्राचीन स्तूपों से मौर्यस्तूपों में यह विशेषता थी कि इनमें सुरक्षा के लिए चौखूँटी बाड़ लगा दी जाती थी, आदराथे एक छत्र भी ऊपर स्थापित किया जाता था, चारों ओर के पेरे की प्रदक्षिणा यम का रूप दिया जाता था और इस पेरे में चारों दिशाओं में चार तोरण या द्वार बनाये जाते थे। पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये, उसके भी ली गयीं लाख गुणान् ज्वाग ने भारत-भ्रमण करते हुए उसके सैकड़ों स्तूप इस देश में देखे। वर्तमान समय में इसका सर्वोत्तम स्मारक साँची का स्तूप है। इसके तोरण तो धुँसे धुँसे के हैं, किन्तु मूल स्तूप इसी धुँसे का है।

स्तम्भ—अशोकिय वास्तु के सुन्दरतम स्मारक स्तम्भ है। इस समय तेरह स्तम्भ दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन के तीन गाँवों, दम्भिनदेई (बुद्ध की जन्मभूमि तुम्बिनी वन) तथा साँची आदि स्थानों में पाये जाते हैं। ये सब चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं और इनके दो भाग हैं (१) लाट या प्रधान दशाक्षर हिस्सा (२) स्तम्भशीर्ष या परगहा। समूची लाट और समूचा परगहा एकाग्रमीय या एक ही पत्थर से तराशा हुआ है। दोनों पर ऐसी शीष (पालिश) है जिस पर से शीश भी फिसलती है। २,२०० वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह पालिश अभी की गई है, दिल्ली वाले स्तम्भ पर दक्षिण पालिश के कारण इतनी कमक है कि धर्मांक उसे धातु का समझते रहे हैं। सबहबी शती में टोम कोर्रिगिट ने तथा ज्यूसीसर्वाँ शती में बिलप हेक्टर ने इसे पीतल का कहा हुआ समझा था। यह शीष या पालिश भारत की प्रसन्न कला की ऐसी विशेषता है जो दुनिया में खरबव नहीं मिलती। इसकी प्रक्रिया अब तक प्रज्ञात है और यह प्रयोग के योग्य-सम्प्राप्त के बाद से भारत से गुप्त हो जाती है। लाट मोल और नीचे ऊपर तक चढ़ाव-झारझार है। इस दृष्टि से चम्पारन के सौरिमा मन्दगढ़ की लाट सबसे सुन्दर है, नीचे उसका व्यास २५½ इंच है और ऊपर २२½ इंच। लाटों की ऊँचाई तीस से चालीस फुट तक और भार १,३५० मन (५० टन) तक है। इन भीमकाव एकाग्रमीय स्तम्भों की गढ़ाई, खान से अपने ठिकाने तक इतनाई, इन स्थानों पर इनका लडा करना और इन पर परगहों का ठीक-ठीक बैठाना इस बात का प्रमाण है कि अजीकपुत्रीन दिल्ली और इब्रॉनियर कारीगरों ने किसी अन्य देश के शिल्पियों से कम नहीं हैं। इन लाटों के शीर्ष या परगहों पर नीचे मूर्ति कला अपने उत्कृष्ट रूप में मिलती है। इन पर और, हाथी, बैल या घोड़े की मूर्तियाँ बनी होती हैं। इनमें सारनाथ का शीर्ष सर्वश्रेष्ठ है। इसे कला-मर्मज्ञों ने भारत में अब तक खोजी गई इस देश की वस्तुओं में सर्वोत्तम बताया है। महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन के स्थान पर इस स्तम्भ की लडा किया

गया था। इनके शीर्ष पर चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिले धर्म-चक्र-प्रवर्तन के सूचक हैं। पहले इन सिंहों पर भी एक बड़ा धर्म-चक्र था। "सिंह पीठ से पीठ सटाये चारों दिशाओं की ओर दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनके गलीने धर्म-प्रत्यंग समविभक्त हैं और ने बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनकी कहराती हुई लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी सुव्यवस्था और चारुता से दिखाया गया है। इनमें इसकी नवीनता है कि वे आज के बने प्रसीत होते हैं।" इन मूर्तियों की कलाविदों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। स्मिथ ने लिखा है कि 'संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की खोज पाना असम्भव है।' सर जॉन मार्शल के शब्दों में "शैली एवं निर्माण-शक्ति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रसूत सुन्दरतम मूर्तियाँ हैं और प्राचीन जगत में इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं जो इनसे बचकर हो।" भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन्हीं मूर्तियों को धरती राज-चिह्न बनाया। रामपुरवा (जि० चम्पारन) के स्तम्भ-दीर्घ पर बनी वृषमूर्ति बड़ी दर्शनीय और शोचनीय है।

गुहाएँ—अशोक तथा उसके पीछे दूसरों ने निशुषों के निवास के लिये गुहा-मूर्तियों की खुदवाया था। ऐसी गुहाएँ गया के १६ मील उत्तर में बराबर नामक स्थान



बराबर (जि० गया) में अशोक की बनवायी जोमराफली की गुहा

पर मिली है। ये बहुत ही कठे तेलिया पत्थर (Gneiss) से न केवल भगीरथ परिश्रम से काटी गई हैं अपितु घुटाई या चप्पलेप द्वारा 'खोखे की भांति' समकाई भी गई है। यहाँ पुरानी खोप की कला अपनी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई है।

प्रासाद—पाटलिपुत्र में अशोक ने बहुत ही भव्य राज-प्रासाद बनवाए। ये सात-धाट शक्तिशाली तक बने रहे। पाँचवीं शती में फाहियान ने इनके निर्माण-बीजस की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि ये मनुष्यों के बमाने हुए नहीं हो सकते, इनकी रचना देवताओं ने की है। सम्भवतः ये महल लकड़ी के थे, अतः लुटाई में इनके अनावशेषों के प्रतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

सातवाहन युग

सौर्यो के पतन से गुप्तों के उदय तक की पाँच शक्तियाँ भारतीय कला के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस समय सौची, भारहुत, बुद्ध गया, पाण्धार, मधुरा तथा अमरावती और नागार्जुनीकोण में विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। इनमें पहली तीन तो प्रधानतः शुंगकाल (१८८ ई० पू०—३० ई०) से संबद्ध हैं और शेष कुषान-सातवाहन (पू०—३०० ई०) से। इन दोनों कालों की एक बड़ी भेदक विशेषता यह है कि पहले काल में बुद्ध की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं बनी, उन्हें सर्वत्र चरण, छत्र, पादुका, धर्मचक्र, धामन, कमल या स्वस्तिक के संकेत से प्रकट किया गया। किन्तु दूसरे काल में इनकी मूर्तियाँ शुरू बनने लगीं। दूसरी विशेषता यह है कि भारहुत, सौची और बुद्ध गया के कलाकारों का विषय वस्तु बौद्ध है, इनका उद्देश्य स्तूपों की अलंकृत करना है किन्तु मूर्तियाँ धार्मिक न होकर बचपन-बाबी, प्राकृतिक और ऐन्द्रियिक हैं। इनमें धर्मचक्र की प्रधानता नहीं, किन्तु लोक-जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है। यह कला-बौद्ध धर्म के द्वारा अनुप्राणित नहीं, प्रापुत्र उस समय प्रचलित लोक-कला का बौद्ध धर्म की आवश्यकताओं के अनुसार बदला हुआ रूप है।

भारहुत—मध्यभारत के नागोद राज्य में दूसरी स० ई० पू० के मध्य में भारहुत में एक विद्याल स्तूप की रचना हुई। बुद्धाभास यह स्तूप विभवस्त हो चुका है; किन्तु इसे घेरने वाली तस्कर की बाहों (वेष्टनियों) का कुछ भाग और इसका एक शीरस्य कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इसने भारतीय कला में एक नई प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। अशोककालीन बौद्ध-कला बहुत सारी थी, उसमें पशु-मूर्तियों की प्रधानता थी, किन्तु नई कला में बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों की पत्थर में तराशा जाने लगी। भारहुत की पत्थर की छाप ऐसे ही मूर्ति-मिलन में अलंकृत है। इसमें बाया दृश्य सो बुद्ध के अरिष से संबद्ध ऐतिहासिक दृश्य है और बायाय के लगभग जातक कथाओं का संकलन है। अनेक दृश्यों के सोने मूर्ति का विषय मिला हुआ है। पहले प्रकार के दृश्यों में जेतवन का दान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारहुत कला में पशु-पक्षियों, नागराज और जालवरों की मूर्तियाँ

बड़ी सजीव और स्वाभाविक है। इसमें केवल भक्ति भाव के ही नहीं अपितु हान्य एवं के भी अनेक चित्र हैं। जातक दुर्घों में बन्दरों की लीलाएँ हैं। एक स्थान पर बन्दरों का दल एक हाथी को गाँजे-गाँजे से लिये जा रहा है। एक बड़े दुग्ध भी कम होती का नहीं है, जिसमें एक मनुष्य का दाँत हाथी द्वारा खींचे जाते जाते एक बड़े भारी संघासे से उखाड़ा जा रहा है। भारहुत के चित्र हमारे प्राचीन भारत के आमोद-प्रमोदपूर्ण लोक-जीवन का वास्तविक दिग्दर्शन कराते हैं, उनमें धर्मग्रन्थों के दुःख और निराशावाद की हल्की-सी झलक भी नहीं है। कला की दृष्टि से, भारहुत की मातृवीय मूर्तियाँ आकार और आसन में दोषपूर्ण हैं, उनमें चपटापन है, किन्तु समग्र रूप में वे तत्कालीन धार्मिक विश्वास, पहनावे आदि पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं।

बुद्ध भगवा के प्रतिष्ठ मन्दिर के चारों ओर एक छोटी साड़ है। यह संभवतः पहली स० ई० ५० की है। इस पर बने कमलों और प्राणियों के अलंकरण भारहुत जैसे हैं; किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं और यह सूचित करती हैं कि इस समय तक कला काफी उन्नत हो चुकी थी।

साँची—यह बुद्ध भगवा से भी अधिक उत्कृष्ट शिल्पकला का उदाहरण है। इसमें तीन बड़े स्तूप हैं और सोमनाथकाल के कुर आघात होने पर भी काफी अच्छी अवस्था में हैं। समस्तकालीन प्रधान स्तूप के ४४ फीट ऊँचे चारों ओर गुम्बद के चारों ओर पत्थर की साड़ है, यशस्विता के लिए पथ है तथा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में चार तोरण या द्वार हैं। प्रत्येक द्वार चौदह फुट ऊँचे दो वर्गाकार स्तम्भों से बना है, उनके ऊपर बीच में से तनित्र समानोदार तीन बौद्धियाँ हैं। साँची में स्तूप भी देखनी तो चायी है, किन्तु चारों ओर भारहुत की भाँति बुद्ध-जीवन की तथा जातक दुर्घों की चित्रित करने वाली मूर्तियों से अलंकृत हैं। बौद्धियों पर सिंह, हाथी, सर्पचक्र वगैरह, तिरस्त्र के चिह्न हैं। इनमें विपरीत दिशाओं में गृह की ओर, द्वार, चैत, और, हाथी आदि के जोड़े बड़ी सफाई और वास्तविकता से बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा पशु जगत् भगवान् बुद्ध की उपासना के लिए उसका पड़ा है। जन्मे के निचले हिस्से में द्वार-रक्षक बने हैं। शम्भा पूरा होने पर बौद्धियों का बौद्ध होने के लिए शम्भर की ओर भीमुखे हाथी तथा चीने बने हुए हैं तथा शम्भर की ओर बौद्धधर्म की यशस्विता का सूचिकाएँ। इनकी भाव-भंगी बड़ी मनोरम है। साँची की मूर्तियाँ और विषम भारहुत जैसे हैं; किन्तु इनके शिल्पियों ने भारहुत के मूर्तिकारों की अपेक्षा शिल्प तथा कलात्मक कलात्मक में अधिक प्रोढ़ता प्रदर्शित की है, मनुष्यों की विभिन्न भावनाओं तथा भाव-भंगियों में अधिक सफाई से दिखाना है, इनमें शरत् और नुस्यष्ट रूप से वापस में बौद्ध कथाओं और भावों को प्रतिबिम्बित करने का अधिक सामर्थ्य है। भारहुत की भाँति, यह स्तूप भी उस समय के लोक जीवन और संस्कृति का विश्व-कोश है।

समुद्रा जीर्णो—समुद्रा महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा कुशाणों की राजधानी होने से ईसा की पहली शताब्दी में कला का एक महान् केन्द्र था। शुंगकाल में यह

भारत की लोक-कला तथा भाँची की उत्पत्ति सैली साध-साध चल रही थी। कुशाण-काल में यह एक हो गई। पुरानी कलाओं में जपटापन अधिक था, यह इस युग में दूर हो गया। किन्तु भारत के अभिप्राय (motif) और चलकरण बने रहे। मथुरा से इस काल की सर्वोत्कृष्ट मूर्तियाँ मिली हैं, यह उनका प्रधान कोष प्रतीत होता है। ये सभी मूर्तियाँ सर्वोच्च शक्ति वाले माल खादार परवर की हैं। मथुरा शैली के पुराने और पिछले दो बड़े भाग किये जाते हैं। पुराने काल की मूर्तियाँ लगभग भारत-जैसी और काफी मनमग्न हैं। किन्तु पिछले काल में वे बहुत परिष्कृत हो जाती हैं और इनमें एक महत्त्वपूर्ण नवीनता बुद्ध की प्रतिमा है। बुद्ध की तिस्रा मूर्ति-युग के विस्तृत भी, विरकात-तक उनकी मूर्ति नहीं बनी, भारत और साँची में यही स्थिति थी, किन्तु भक्त भगवान् के दर्शन के लिए छटपटा रहे थे। वे उसकी मूर्ति चाहते थे। मथुरा के कलाकारों ने उसे प्रस्तुत करके ज्ञान-साधारण को आकांक्षा को पूरा किया। बुद्ध की मूर्ति बनने से भारतीय कला में मृदान्तर हो गया, अगली कई शताब्दों तक भारतीय मिली बुद्ध की मूर्तियों द्वारा इस देश के आध्यात्मिक विचारों की उच्चतम अभिव्यक्ति करते रहे।

गान्धार शैली—जिस समय मथुरा के मूर्तिकार भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बना रहे थे, लगभग उसी समय उत्तर पश्चिमी भारत (गन्धार) में कुशाण राजाओं के प्रोत्साहन से वहाँ के मूर्तिकार एक विशेष प्रकार की बुद्ध मूर्तियाँ बनाने लगे। ये सब प्रायः काले स्लेट के परवर की या कुछ चुने भसाले की बनी हैं। इस तरह की हजारों मूर्तियाँ अफगानिस्तान, तत्तशिला, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत से मिल चुकी हैं, इनका समय ५०—२०० ई० तक माना जाता है। प्राचीन गान्धार देश में विकसित होने के कारण, इन मूर्तियों को सैली को गान्धार शैली कहा जाता है। सारगरी तौर से देखने पर इनका सम्बन्ध यूनानी कला से प्रतीत होता है। प्रायः इसे हिन्द-यूनानी (Indo-Greek) कला भी कहा जाता है। यूनान की सम्प्रदाय का आदिश्रोत समझने वाले यूरोपियन विद्वानों ने इस शैली को असाधारण महत्त्व दिया है, प्रायः ये दो-तीन दशक पहले प्राचीन भारत में केवल इसी शैली की वास्तविक कलात्मक शैली समझा जाता था, जब तक अनेक कलाविदों की यह धारणा है कि समय भारतीय मूर्तिकला का मूल यही है, किन्तु नई खोजों में यह बात अभी भी सिद्ध हो चुकी है कि इस शैली का महत्त्व अत्युक्तिपूर्ण है। इसका परवर्ती कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गान्धार शैली के मूल तत्त्व भारतीय हैं, इसमें यूनानी मूर्ति-कला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का समन्वय का प्रयत्न किया गया किन्तु इन दोनों के विजातीय होने से यह असफल हुआ और यह शैली स्वयमेव समाप्त हो गई।

गान्धार शैली की मूर्तियाँ अपनी कई विशेषताओं के कारण अट पहचानी जाती हैं।

इनकी पहली विलक्षणता मानव शरीर का वास्तववादी दृष्टिकोण से संकेत है, इसमें संग-प्रत्यंग और मांस-पेशियों को अधिक सूक्ष्मता और शुद्धता के साथ चित्रित किया गया है।

दूसरी विशेषता यह है कि मूर्तियों को मोटे कपड़े पहनाये गए हैं तथा उनकी सतहों बड़ी सूक्ष्मता से दिखाई गई हैं। इस शैली की कुछ मूर्तियाँ भारत में प्रमथ पाई जाने वाली प्रतिमाओं से बिलकुल भिन्न हैं, ये प्रायः बुद्ध या बोधिसत्व की शरीर से बिलकुल सटे, संग-प्रत्यंग दिखाने वाले भीने या सर्प पारदर्शक वस्त्रों में चित्रित करती हैं; और उन्हें आदर्श मानव के रूप में प्रकट करती हैं। मूर्तियों के लिए मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि सभी कुछ थी, उन्होंने देवताओं को भी मानव रूप प्रदान किया; वे भारतीय देवताओं में खड़ा रखते थे, उन्होंने इन देवताओं को मानव बना डाला। यही कारण है कि मूर्तानी कला वास्तववादी (Realist) है और भारतीय आदर्शवादी (Idealist)। पहली भौतिक है और दूसरी आध्यात्मिक। गान्धार शैली में इन दोनों का सम्मिश्रण था। गान्धार कलाकार की आत्मा और हृदय भारतीय था, किन्तु बाह्य शरीर मूर्तानी था। यह शैली मध्य एशिया होती हुई चीन और जापान तक पहुँची तथा इसने उन देशों की कला को प्रभावित किया। पहले यह समझा जाता था कि बुद्ध की मूर्ति सबसे पहले इन्हीं कलाकारों ने बनाई, भारतीयों ने इसका अनुकरण किया। किन्तु अब यह सिद्धांत प्रमाण्य हो चुका है। हम पहले देख चुके हैं कि मथुरा के मूर्तिकारों ने इसका स्वतन्त्र रूप से विकास किया। दोनों में भारी अन्तर है। पहली यथार्थवादी है, उसमें भौतिक सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव पर अधिक ध्यान दिया गया है, दूसरी आदर्शवादी है, इसमें शारीरिक रचना की अपेक्षा मुक्त-मन्दन पर दिव्य दीप्ति दिलाने का अधिक प्रयत्न है।

अमरावती शैली—दूसरी श० उत्तरार्ध से दक्षिण में कृष्णा नदी के निचले भाग में अमरावती (ज० गुज्जर), जगम्यापेट और नामार्जुनी कीड़ा में एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ। अमरावती में न केवल स्तूप की बाड़ या वेष्टनी संस्मरण की थी; किन्तु तारा गुम्फा इतने पत्थर के सिंहा-फलकी से बना हुआ था। भारद्वाज की भाँति इसकी सारी बाड़ मूर्तियों से घातकृत थी। किन्तु ये यहाँ की मूर्तियों से कई दृष्टियों से भिन्न हैं। इसमें बुद्ध को जमीनों तथा मूर्तियों दोनों प्रकार से व्यक्त किया गया है, अतः यह भारद्वाज और गौरी तथा मथुरा और गान्धार-कलाओं का संकलित काल माना जाता है। यहाँ बुद्ध भगवान की छः-छः फुट से ऊँची लड़ी मूर्तियाँ बहुत ही सम्भीर उदासीन और वैराग्य भाव से परिपूर्ण हैं, यहाँ बड़े कठिन घासनों से सुन्दर पत्थरी और पत्थर घातकृत प्रकट हैं, दूसरी में बहुत अधिक व्योरा-भरने का फल किया गया है, वस्तुनिष्ठों और पुष्पों के विशेषतः कमलों के घर्षकरण बहुत सुन्दर हैं। सारी कला भक्ति-भाव से ओत-प्रोत है। बुद्ध के शरण-चिह्न के सम्मुख नत उपनि-काओं का दृष्ट बहुत प्रथ है। हास्वरत की भी कमी नहीं है। ऐसा अनुमान है कि

सबसे हजार वर्षों के युग में इस प्रकार की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। अलग-अलग समयों में सर्वत्र संवत्सरमर का यह स्तूप बहुत ही अलग रहा होगा, दुर्भाग्यवश ही हम पहले ज्ञान बनेने के लिए इसका बहुत बड़ा भाग खोके दिया गया।

गुफ्टर जिले में ही नागार्जुनी कौडा नामक स्थान पर एक अन्य स्तूप मिला है। इसका शिल्प अमरावती-जैसा उत्कृष्ट नहीं। कुछ जन्म का एक सुन्दर दृश्य यहाँ से मिला है। इसकी तथा अमरावती की मूर्तियों पर कुछ रोमन प्रभाव है।

सातवाहन युग की वास्तु-कला प्रधानतः पहाड़ों की चट्टानों में काटी हुई गुहाएँ हैं। इनके काटने की पद्धति तो अशोक के समय से शुरू हो गई थी, किन्तु उस समय तक वे सारे कमरे थे, अब उन्हें स्तम्भ-शिल्पियों तथा मूर्तियों से अलंकृत किया जाने लगा। ये प्रायः दो प्रकार की होती थीं, चैत्य और विहार। चैत्य तो उपासना के लिए सुन्दर मन्दिर या और विहार भिक्षुओं का निवास-स्थान। चैत्य एक आयताकार मण्डप या बड़ा हाल (Hall) होता था, इसमें दोनों ओर दो स्तम्भ-शिल्पियों और अन्दर अर्द्धवृत्ताकार सिरे पर एक छोटा-सा स्तूप होता था। सामने की दीवार और दरवाजों पर शिल्प बने होते थे। विहारों में एक केंद्रीय हॉल के चारों ओर कोठरियाँ होती थीं। चैत्य-गुहाएँ काले, कन्हेरी, भाजा, ताँसिक आदि स्थानों पर महाराष्ट्र में पाई गई हैं। वहाँ इन्हें 'सेण' कहते हैं। इनमें सबसे सुन्दर काल्लेण है। उड़ीसा में इस प्रकार की गुहाएँ गुम्फाएँ कहलाती हैं। ये सब जैन-मन्दिर हैं।

सातवाहन युग में कुछ स्तम्भ भी बने। इनमें दूसरी दाती ई० पू० का विदिशा के पास बुनानी राजदूत हेन्रियोदोर द्वारा स्थापित महाध्वज सबसे अधिक प्रसिद्ध है। किन्तु इन स्तम्भों ने अशोककालीन चमक नहीं। इस काल में पिछले युग की भाँति सुन्दर शिल्प-मूर्तियाँ भी नहीं बनीं, किन्तु इस काल की सबसे बड़ी जैन बुद्ध की मूर्ति तथा अन्य मानवीय मूर्तियाँ और गुह्यमन्दिर हैं।

गुप्त युग

गुप्त युग में भारतीय कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। हमारी कला के चरम विकास के अग्रगण्य के शिल्पि चित्री-जैसे अनेक सुन्दर उदाहरण इसी युग के हैं। अनेक शिल्पियों की साधना के बाद इस समय तक भारतीय शिल्पियों का हाथ उठता सध गया था कि वे जिस वस्तु या शिल्प को लेते उसमें जान डाल देते थे। उनकी मुक्तकल्पित सौन्दर्य-भाषना, परिभाषित एक ब्रौड कल्पना तथा अद्भुत रचना-कौशल ने ऐसी कृतियों को जन्म दिया, जो भारतीय कला के क्षेत्र में 'न मुने, न मात्री' रचनाएँ थीं। वे अगले युगों में आदर्श का काम देती रहीं। गुप्त कला में न तो पिछले कुशाण युग की आकर्षक ऐंद्रियिकता है और न परवर्ती मध्य युग की प्रतीकात्मक अमूर्त भावना। इसमें दोनों का संतुलन और सामंजस्य है। कुशाण-मूर्तियों के पारदर्शक परिधान का लक्ष्य शरीर के नग्न सौंदर्य को प्रकट करना था,

गुप्त काल के भीने वरत इस पर धावरण डालने वाले हैं। गुप्तों से पहले कला कलकरीयों की अधिकता है। इनके भार से कला दबी जा रही थी। गुप्त शिल्पियों ने इसे कम करके कला को अधिक सरल और सजीव बनाया। उनका प्रधान उद्देश्य कला द्वारा उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति थी और इसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इस युग के शिल्प में अद्भुत भावोन्नतता है। आध्यात्मिकता, साम्प्रदायिकता, रमणीयता, जालिन्य, साधुत्व, शोक और सजीवता की दृष्टि से गुप्त कला अद्वितीय है।

गुप्त मूर्ति-कला की सबसे बड़ी देन बौद्ध तथा पौराणिक देवताओं की आदर्श मूर्तियाँ हैं। सारनाथ और मथुरा से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं और भीमों जिले के देवगढ़ मंदिर से शिव, विष्णु आदि हिन्दु-देवताओं की। इनमें सारनाथ और मथुरा की दो बुद्ध-प्रतिमाएँ तो भारत की मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। इनमें आध्यात्मिक भावों की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वैसी अन्यत्र बहुत कम देखने को मिली है। इनमें उनके उत्कृष्ट मुखसंज्ञक पर सपूर्व प्रभा, कोमलता, सम्भीरता और शांति है। मथुरा वाली मूर्ति में कहना और आध्यात्मिक भाव का सपूर्व सम्मिश्रण है। गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्ध और भगवान् में संतुलन है; आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के साथ-साथ शीघ्र बुद्ध और समानुदाय का पूरा ध्यान रखा गया है। बाद की कला भावुकता की प्रधानता और कलकरीयों के प्राचुर्य से एकान्ती हो जाती है।

चित्रकला—गुप्त कला केवल धार्मिक भावों की अभिव्यक्तियों तक ही सीमित नहीं थी। अजन्ता के चित्रचित्रों से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि भारतीय कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई क्षेत्र छोड़ा नहीं छोड़ा था। यहाँ हमें भारतीय चित्रकला के सर्वप्रथम और सर्वोत्तम काल में दर्शन होते हैं। यद्यपि इनका विषय धार्मिक है, अधिकांश चित्र विरवकला के भावों से ओत-प्रोत हैं तथापि सामाजिक जीवन और परावर जगत् के सभी पहलुओं की यहाँ चर्चा है। अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, यज्ञता, हर्ष, उत्साह, चिन्ता, भूला आदि सभी प्रकार के भाव, पशुपति अश्वत्थामास्त्रधर, प्रयास-तपस्वी और देवीपति राज-नरिचर से लेकर कुर व्याध, निर्दय बधिर, साधुसंन्यासी धूर्त, वाग्धनिता आदि सब तरह के मानव-भेद, समाधि-मग्न बुद्ध से प्रणम-स्त्रीया में रत दम्पति और शून्धार में सभी नाटकों तक का सकल मानव-व्यापार अवित है। अजन्ता के चित्रों की यह श्रुतिधरता आश्चर्यामय है।

अजन्ता में तीन प्रकार के चित्र हैं—संस्कारधार्मिक, व्यक्ति चित्र (Portraits) तथा भवनान्तक। संज्ञावट के सिवा अजन्ता में भान्तर, अदनवार पञ्चावलि, पुष्पों, पर्वों, पशुओं की सांस्कृतिक दृष्टि है, इनके अन्तर्गत वेद है और कोई एक विज्ञान-इस द्वारा नहीं बोधव्यवस्था मया। टिका काल भरने के लिए कल्पनाओं सम्पूर्ण, यहाँ

की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। व्यक्ति-चित्रों में पद्मपाणि अक्षतोक्तिदेवर न केवल भारतीय



अक्षता का एक मूर्तिचित्र



पद्मपाणि अक्षतोक्तिदेवर

किन्तु एशियायी चित्रकला का सुन्दरतम उदाहरण समझा जाता है। पटमात्मक

चित्रों में वास्तवों के दृश्य हैं। इनकी भाव-व्यंजना में श्रमणता के चित्रकारी ने समाज का कौशल दिखाया है। सोलहवीं शताब्दी की 'प्रियमाण राजकन्या' के दृश्य की चित्रण प्रभृति पाश्चात्य चालीसवीं ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। विकसित धीरे-धीरे कला के भावों की दृष्टि से कला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई उदाहरण मिले नहीं। फ्लोरेंस चित्रापी चित्रकार इसका प्रालेखन (Drawing) अधिक अच्छा कर सकता था, वेनिस का कलाकार इसमें अधिक अच्छा रंग ला सकता था, किन्तु इन दोनों में से कोई भी इससे इससे अधिक भाव नहीं भर सकता था। बुद्ध महाभिनिष्क्रमण (इत्यादि), मार-विजय, यशोधरा द्वारा बहल की भिक्षा स्वरूप देने के दृश्य बड़े हृदय-साही हैं। सर्वनाश का संदेश देने वाले बुद्ध के चित्र में चित्रकार ने कुछ देखाओं द्वारा उसके हृदयगत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसका उदास चेहरा, अर्ध-नेत्र और हाथ भी मुद्रा ही में वषण-दुर्घटना की सूचना दे रहे हैं।

श्रमणता-जैसे चित्र-वाप (स्वर्ग पर राज्य) तिसलवामन (पुद्गु, कोटा) तथा सिगिरिया (लंका) में भी मिले हैं।

गुप्त युग की एक बड़ी कला मूर्त्तिमयी और पकाई मिट्टी के कलाकर्म है। इनका सौन्दर्य और सौक्यता धातु की मूर्तियों में भी अद्भुत है। इस कला का एक सुन्दर उदाहरण पार्वती-मस्तक है।

गुप्त युग की वास्तु कला मूर्ति या चित्र कला के समान उन्नत नहीं। इस समय के प्रधान मन्दिर भूमरा (नागोद), लक्ष्मणकूपर (अजयगढ़) नितरगौर (कानपुर) और देवगढ़ (भीम) में मिले हैं। ये बहुत छोटे और बिल्कुल सादे हैं, इनमें शिलार या कलश केवल पिछले दो मन्दिरों में ही मिलता है।

मध्य युग

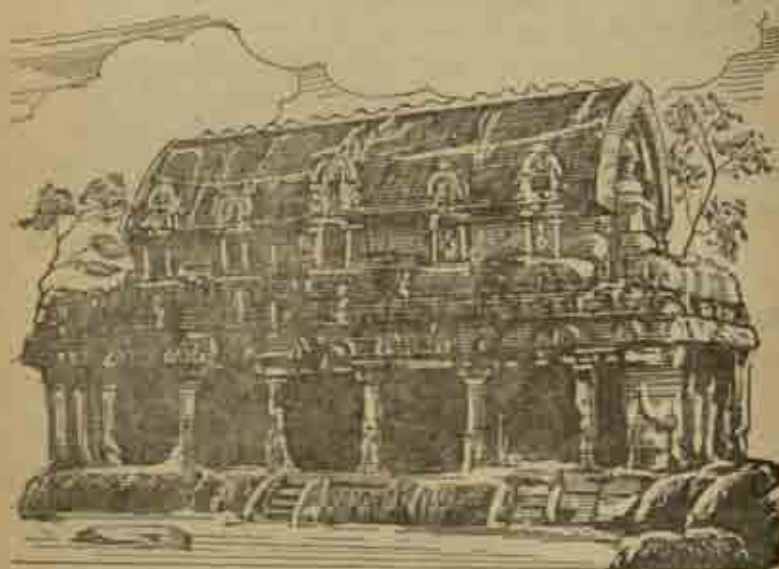
मध्य युग की भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता वास्तु का विशेष विकास है। इस युग में वास्तु कला की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ, स्वदेश तथा विदेश में भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस समय उत्पन्न भारतीय मूर्ति और स्थापत्य कला अपने सबसे मनोरम रूप में प्रकट हुई। उसमें गुप्त युग का भी और नवीनता तो नहीं रही, किन्तु सात्त्विक बहुत बढ़ गया। मध्य युग की दो बड़ी भावों में बाँटा जाता है—पूर्व मध्य काल (६००-८००) तथा उत्तर मध्य काल (८००-१२००)। पूर्व मध्य काल में कला काफी उन्नत रही। किन्तु दूसरे काल में अनेक कारणों पर बहुत बल दिया जाने लगा। तथाकथित प्रभाव से कुछ स्मारकों पर धार्मिक मूर्तियों की प्रधानता मिली। मूर्तियों एवं मन्दिरों के शिल्पियों में पहले-जैसी पुरानी मौलिकता लुप्त हो गई, वे पुरानी शैलियों का शासन करते हुए अपनी रचनाओं को अधिक-से-अधिक बढ़ती-बढ़ती बनाने का यत्न करने लगे। "यह सौन्दर्य नहीं किन्तु कमलकार का युग है। इसकी कृतियों में कला नहीं, कला-वास है।" चित्रकला भी इस काल में ह्रासोन्मुख हुई और उसमें अल्पमत सीधी प्रधान हुई।

वास्तु कला की दृष्टि से इस काल के मन्दिरों के दो बड़े भेद किये जाते हैं। उत्तर भारतीय और द्रविड़। इनका प्रधान अन्तर शिखर-विभक्त है। पहली शैली में देवता की मूर्ति वाले गर्भगृह की छत ढोस, बकरीखालमक (Corvilinear या परबीदार) बुई की तरह होती है, जो ऊपर की ओर छोटा होता चला जाता है। इसके ऊपर प्रामाणिक होता है और इस पर कतण और श्वजदण्ड स्थापित किये जाते हैं। द्रविड़-शैली के मन्दिरों में गर्भगृह का ऊपरी भाग या विमान बीबीर तथा कई मंजिला होता है, प्रत्येक ऊपरकी मंजिल निचली से कुछ छोटी हो जाती है और इसकी आकृति पिरामिड के सदृश होती है। इसके ऊपरी सिरे पर गोल पत्थरों की टोपी होती है। विमान की इस विभिन्नता के अतिरिक्त द्रविड़ मन्दिरों में गर्भगृह के बाये मण्डप या अनेक स्तम्भों वाले हाँव होते हैं तथा मन्दिर के घेरे के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी-देवताओं की मूर्ति वाला गोपुर रहता है। मन्दिरों, विमानों तथा गोपुरों की मूर्तियों से सब अलंकृत किया जाता था। इस काल के बाये शैली के मन्दिर लिमराज भवनेश्वर (उडोसा) तथा लजुराहो (मालप्रदेश) में हैं, इनमें से अनेक ऊपर से नीचे तक विविध प्रकार की प्रतिमाओं और अलंकारों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त भव्य हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में मामलपुरम् (चिन्नलपट्ट जिले में महाबलिपुरम्) काजीवरम्, इलोरा, तंजौर, वेतुर तथा श्वषमेल गोवा (चिन्नलपट्ट जिले में मयूर राज्य) और श्रीरम् (चिन्नलपट्ट जिले में) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस काल में वास्तु तथा मूर्ति कला का अभिलक्ष्य सम्बन्ध होने से दोनों का साथ-साथ वर्धन किया जायगा।

पूर्व मध्य काल (६००-८०० ई०)—इस युग की मूर्ति कला की प्रधान विशेषता बटनाओं के बड़े-बड़े दृश्यों का सकल अंकन है। सातवाहन तथा गुप्त युगों में बटनाएँ बहुत संकुचित शिला-फलकों पर ऊर्ध्व की जाती थी, जब भारतीयों ने एक ओर वहाँ मन्दिरों के लिए पहाड़ काटने शुरू किए, वहाँ दूसरी ओर दृश्यों के अंकन के लिए छोटे-छोटे शिला-बट्टाने चुनीं। इस समय तक उनका ध्यान इतना मध्यस्थ था कि उनकी शैली में दुर्गा-महिषासुर, पृथ्वी, शिव का त्रिपुरदाह, राजा द्वारा कैलाश के उठाने-अंके बड़े-बड़े दृश्यों को काफी प्रति, अभिन्न और सजीवता के साथ-साथ है। इस युग के तीन प्रधान मूर्ति-केन्द्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) मामलपुरम् (२) एलोरा (३) एलिफेन्टा।

१. मामलपुरम्—पल्लव राजा महेंद्र वर्मा (लग० ६००-६२५ ई०) तथा उसके पुत्र नरसिंह वर्मा ने (लग० ६२५-६५० ई०) दक्षिण में कांची के सामने, इस स्थान पर समुद्र-तट पर एक-एक बट्टान में बटवाकर विमान मन्दिर बनवाये। उन्हें 'रथ' कहा जाता है। वे सत्तर की घड़भूत वस्तुओं में से हैं। इनमें से सात रथों (मन्दिरों) का एक समूह सात पगोडों के नाम से चिह्न-विख्यात है। इनके नाम पाण्डवों के नाम पर धर्मराज रथ, भीम रथ आदि हैं। विशालकाय बट्टानों से काटे गये वे एकाग्रमयी मन्दिर पल्लवों की वास्तु और मूर्ति कला के सर्वोत्तम-उदाहरण हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जैसे हमें उत्तर भारत में भीखुन में भस्त्र की मूर्ति कला सबसे पहले अत्यन्त उन्नत विकसित रूप में मिलती है, वैसे ही दक्षिण भारत



मामलपुरम का पञ्चायन मन्दिर

का लक्षण-चिह्न इन मन्दिरों में सर्वप्रथम प्रौढ़ रूप में दिखाई देता है। यह कई शिल्पियों के विकास का परिणाम है, इसके आरम्भिक उदाहरण सफाई पर बने होने से स्पष्ट हो चुके हैं।

मामलपुरम के 'रथ' पवित्र स्थलों के कई स्थलों में ऊपर उठने हुए मन्दिरों के प्राचीनतम उदाहरण हैं। इस परलव भीलों का बाद में न केवल समूचे दक्षिण भारत, किन्तु कृततर भारत के जावा, कम्बोडिया, चनाम आदि देशों में प्रचार हुआ। मामलपुरम की मूर्तियों में मल्लिकार्जुन से कुछ करती हुई दुर्गा की प्रतिमा में बड़ी मूर्ति और सजीवता है। सबसे आश्चर्यजनक मूर्ति भगीरथ की तपस्या का दृश्य है। यह ६८ फुट लम्बी, ४३ फुट चौड़ी विशाल सड़ी चट्टान पर काटी गई है। कंकाल-मायाविष्ट भगीरथ मत्स्य के भूतल पर सबधारण के लिए तपस्या-मग्न है, सारा दिव्य और पार्वी—यहाँ तक कि जन्तु-जगत् उनका साथ दे रहा है। यह विशाल द्रव्यबोलायक दृश्य बहुत ही भावपूर्ण और वास्तविक है। उन्मुख दृश्य और रथ दक्षिण कला की उत्कृष्टता की समस्त कीर्ति-पत्राका है और दर्शक इन शिल्पियों के विस्मयान्वित कोषल की सराहना किये बिना नहीं रह सकता।



सम्राट्कालीन वृषभाजित स्तम्भ शीर्ष, (३री० प० ई० पू०) रागपुरवा
(बिहार) से उपलब्ध (पृ० १०१)



भमरावती के स्वरूप का एक दृश्य (पृ० १८६)



भारत में बुद्ध की उपासना का एक दृश्य (२०० ई० पू०) (पृ० १८३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण राजकुमार जेत के उद्यान को
गरीदत्त का दृश्य (२री श० ई० प०) (पृ० १=३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण बुद्ध की माता महामाया का
स्वप्न (२री श० ई० प०) (पृ० १=३)



आमरघाटिणी यक्षी दीदारगज, पटना
(२०० ई०पू०) (पृ० १८३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण श्रेष्ठी की मूर्ति
(२०० ई०पू०) (पृ० १८३)



धलकायल से सुशोभित पार्वती मस्तक शक्तिस्वभा
बरेली से प्राप्त (१वीं श०ई०) (पृ० १६०)



भगवान् राम की काश्य प्रतिमा (२१वीं श० ई०) (पृ० २०१)



दक्षिण में भारतीय संस्कृति के प्रसारक
महर्षि जगन्नाथ (चिदम्बरम्, १३वीं श० ई०)
(पृ० १६५)



प्रजा पारमिता (१२वीं श० ई०)
(पृ० १६५)



होयसलेस्वर (संभूर) के मन्दिर का
बाहरी भाग (१२वीं श० ई०)
(पृ० १६३)



सारनाथ की बुद्धमूर्ति (पृ० १८८)



राजराज सोम द्वारा तंजीर में बनवाया बृहदीश्वर का मन्दिर (१०वा० ई०) (पृ० १६७)



धारापुरी (एलिफेन्टा) की विमूर्ति (पृ० १२४)



देववाड़ा (धारा) के जैनमन्दिर में संसमरमर की नक्काशीवाली छत (१०३१ ई०)
(पृ० १२५)



बच्चे को पुजार्द करती हुई माँ (भुवनेश्वर, जदीसा ११वीं श० ई०)
(पृ० १८६)



पद्म लिखती हुई भारी (भुवनेश्वर, उड़ीसा, ११वीं श०ई०) (पृ० १८६)



भुवनेश्वर के मन्दिर (पृ० १८६)



कोरावर्क के रथ का विशाल चक्र (पृ० १६५)



एलोरा की छवियाँ (महाराष्ट्र)

२. एलोरा (बेकल) — महाराष्ट्र में औरंगाबाद से सोनहू गीम पर एक पुरी-की-पुरी पहाड़ी को काटकर मन्दिरों में परिवर्तित कर दिया गया है। इसमें पञ्चवीस-वीस हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं। इनमें राष्ट्रकूट राजा जगन्नाथ (७६०-७७५ ई०) द्वारा बनवाया ईशान मन्दिर सबसे विशाल और भव्य मन्दिर है। १८० फुट ऊँचे, १४२ फुट लम्बे, ६२ फुट चौड़े क्षेत्र में डारों, ऊँचोखी, सीढ़ियों सुन्दर स्तम्भ-नीलियों में युक्त यह विशाल मन्दिर एक ही पावर का बना हुआ है, इसमें कहीं जोड़, कर्मा-मसाला या कोल-काँटा नहीं है। इसे बनाने के लिए पहले पहाड़ काटकर जगह खोजनी पड़ी, यह २३० फुट गहरे क्षेत्र के नीचे पहाड़ी स्थान से घास-घान के पहाड़ से पृथक् है, फिर इसके बीच में जासुक्त मन्दिर का निर्माण करके शिल्पियों ने जो कृति प्रस्तुत की है, वह मानव के श्रेष्ठ, सम्पन्नता और कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। बिना किसी मसाले के दुबकरी इमारत सरासरी कामना बड़ा विनोदपूर्ण कार्य है, इसके उसे देनाकर बाँवों-लजे जंगली दया जाता है और इसके निर्माता

अज्ञात कारीगरों के धार्मिक मत-मस्त्वक होता है। कैलास-मन्दिर को काटते हुए कारीगरों ने बमालीस पौराणिक दृश्य भी संकित किये हैं। इनमें नृसिंहावतार का दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ, रावण द्वारा कैलास का उन्मोचन वगैरे सुन्दर, विचित्र, भावपूर्ण और प्रोत्साहक कृतियाँ हैं। अन्तिम दृश्य विशेष रूप से उत्प्रेषणीय है। रावण कैलास को उठा रहा है, भय-त्रस्त पार्वती शिव के विचित्र



एल्लोरा का कैलास मन्दिर

भूज-दम्ब का आचलन से रही है, पत्थरों भाग रही है; किन्तु शिव अचला है, अपने शरणागती से कैलास को दबाकर रावण को प्रयास विफल कर रहे हैं।

३ धारगुरी (एल्लोरा) — बम्बई से छः मील दूर धारगुरी नामक टापू में दो बड़े पर्वतों के ऊपरी भाग को काटकर मन्दिर और मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इनका समय आठवीं शती ई० है। यहाँ की प्रतिमाओं में महादेव की प्रचण्ड विभूति, शिव-तांडव तथा शिव-पार्वती-विवाह का दृश्य बहुत ही भव्य है। पर्वतों के मुख-अण्डल पर शिव, प्रचण्ड सम्मोदित है, दूसरी 'महावीरो विवाहस्थो' की आकृति समाधि अवस्था

की भव्यतम अभिव्यक्ति है और तीसरी में पार्वती के आत्मसमर्पण का भाव बड़ी सफलता से दिखाया गया है।

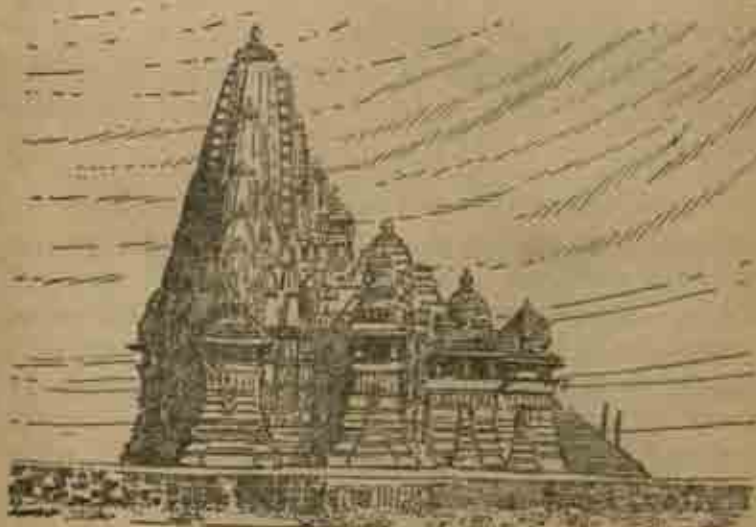
छाठवीं शती में ही जाया में शैलेन्द्रवंश ने बोरोकुदुर का प्रसिद्ध सत-मंजिला धर्मोद्या एवं भव्य मन्दिर बनवाया, जिसे प्राधुनिक कला-समर्थों ने पाथर में तराशा हुआ महाकाव्य कहा है। इसकी मूर्तियों में जातकों के तथा बुद्ध की जीवनी के अनेक दृश्य बने हुए हैं। इन सबको यदि एक पंक्ति में फैला दिया जाय तो वह तीन मील लम्बी होगी। इसमें आग्नि और प्राध्यात्मिकता का अनुपम लीन्दव है। दक्षिण में मटराज की प्रसिद्ध मूर्तियाँ इती समय से बनने लगीं।

छाठवीं शती मामलपुरम्, कैलाश और बोरोकुदुर-जैसी अनेक कलाकृतियाँ पैदा करने के कारण भारतीय कला के इतिहास की स्वर्ण शती है। इसके बाद कला में क्षीणता घाने लगी।

उत्तर भाग्य पुग में वास्तु के पाँच केन्द्र उल्लेखनीय हैं—

(१) सजुराहो, (२) राजपूताना, (३) उड़ीसा, (४) चीन राज्य, और (५) होमसल राज्य।

सजुराहो—इसवीं शती में चन्देल राजाओं ने मध्यभारत के छतरपुर जिले (बुन्देलखण्ड) में सजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर-समूह बनवाया। इसके भव्यतम मन्दिर



सजुराहो का चन्देलवंश का मन्दिर

राजा धर्म (६५०-६६६ ई०) के आन और श्रीसाहू का कला है। इनमें सबसे सुन्दर और

प्रधान कंदरीयनाथ महादेव का विशाल मन्दिर है। ११६ फुट ऊँचा, विशाल कुत्ती और भारी चतूरे वाला यह मन्दिर अपने क्रमशः छोटे होते हुए शिखर-समूहों से बहुत मध्यम मालूम होता है। प्रदक्षिणा पथ में सुन्दर स्तम्भ-मोजना है। मन्दिर का कोई चण्णा सुन्दर मूर्तियों तथा धर्लंकरणों से रहित नहीं है। उस समय हिन्दू धर्म में तप्य की प्रधानता हो रही थी, उसके प्रभाव से यहाँ कामास्तमस्कन्धी धरतील मूर्तियाँ भी काशी संस्था में पाई जाती हैं। भारतीय मूर्तिकला में श्रृंगारिकता तो भारद्वाज और साँची के काल से यहाँ और मुक्तिकाशों के अंकन में खनी या रही थी किन्तु धरतीलता नहीं थी। अब इसी युग में शुरू हुई।

राजपूताना—इस युग में अति धर्लंकार-प्रधान शैली की पराकाष्ठा राजपूताना और गुजरात में मिलती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण मानू पर्वत पर देवबाड़ा के पास दो जैन मन्दिर हैं—पहला विमलदाह नामक वैश्य में १०३२ ई० में तथा दूसरा जेजपाल ने १२३२ ई० में बनवाया। दोनों में नीचे से ऊपर तक संगमरमर लगा है। इसमें पश्चिम धर्लंकरण की इतनी अधिकता है कि मन्दिर का एक चण्णा भी खानी नहीं छोड़ा गया और इन धर्लंकरणों में बहुत अधिक पुनरावृत्ति का दोष है, तथापि इसकी विलक्षण जातिगी, पुतलियाँ, बेल-बूटे और नक्काशियाँ देखकर पर्यटक दंग रह जाता है। “संगमरमर ऐसी भारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेशी में रेश-रेशकर धाभूषण बनाये हों या यों कहिये कि कुनी हुई जालियाँ और भातरें पधरा गई हों। छतों की सुन्दरता का तो कहना ही क्या? इनमें खनी हुई मूल्य की भाव-भंगी खानी पुतलियों और संगीत-संज्ञलियों के सिवा शीघ्र में संगमरमर का एक भाग भी लटक रहा है, जिसकी एक-एक पत्ती में कटाव है। यहाँ पहुँचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम अद्वैत स्वप्न लोक में आ गए हैं।” इनकी सुन्दरता बहुविधापित ताव से बहुत अधिक है।

उड़ीसा—इस प्रान्त में मध्य युग में बने मध्य मन्दिरों में पुरी का जगन्नाथ नाम का मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और भुवनेश्वर के मन्दिर प्रधान हैं। कोणार्क का देवालय रथ के आकार का है, इसमें बड़े बिराड़ गँहियाँ हैं, इन्हें बड़े जानदार पीढ़े खींच रहे हैं। इस सबको इनकी विनालता और धर्लंकरणबहुलता से बहुत मध्यम एवं मनोरम बना दिया है। मन्दिरों का कोई कोना या चण्णा खानी नहीं छोड़ा गया। “इसमें नाविका-भेद और नाग-कन्याओं की बड़ी सुभग मूर्तियाँ खनी हैं, जिनके बीच मूल पर से शीघ्र हटायें नहीं हटती। पथ निकाली हुई नारों की मूर्ति की भाव-भंगी बड़ी मनोरम है। कई मूर्तियों में सात-समता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। माता अपने शिशु का लाह करने से खानी अपने हृदय को निकालकर धर दीती हुई अक्षित की गई है।” यहाँ भी धरतील मूर्तियों की भरमार है।

खीर कला—दक्षिण भारत में तल्लकों के बाद खीरों ने इसकी दाती में अविह खीरों को विकसित करके परिपूर्णता तक पहुँचाया। इस खीरों का एक सर्वश्रेष्ठ

उदाहरण राजराज महान् द्वारा लंघौर में बनाया हुआ बृहदीश्वर का महान् शैव मन्दिर है। इसका विमान या शिखर १ मंजिला और १६० फुट ऊँचा है, इसके ऊपर एक ही प्रस्तर-खण्ड का भीमकाय मुम्बद है, कहा जाता है कि इसे मन्दिर के ऊपर सब लुढ़काकर लाने के लिए ४ मील लम्बी सड़क विशेष रूप से बनाई गई थी। यह विद्यालय देवालय ऊपर से नीचे तक मूर्तियों और अलंकरणोंसे सुशोभित है। चोल कला की प्रधान विशेषता बृहत्त्वयुक्त भव्यता है। भीमकाय मन्दिरों की धर्मिक परिधि में अत्यन्त सूक्ष्म तल्ले से अलंकृत किया गया है। इन विषय में फर्ग्युसन ने ठीक ही लिखा है कि चोल कलाकार अपनी वास्तु का प्रारम्भ दातों की-सी विशाल कल्पना से करते थे और उसकी पूर्ति चौहरियों की भाँति करते थे। चोल कला की एक बड़ी देन परवर्ती युगों में गोपुरम् के मन्दिर का विशाल प्रवेश-द्वार था। धीरे-धीरे इनका आकार और संख्या बढ़ने लगी और ये मन्दिर के गर्भगृह के शिखर से भी ऊँचे उठने लगे। कुम्भकोणम् के गोपुरम् ने प्रधान मंदिर को बिलकूल दबा दिया है। गोपुरम् के अतिरिक्त इनकी दूसरी विशेषता स्तम्भ श्रृंखलाओं वाले विशाल मण्डपों या हॉलों की थी। मध्य युग के बाद जैसे मयूरा, श्रीरामम् और रामेश्वरम् आदि मन्दिरों में इन विशेषताओं का पूर्ण विकास हुआ; उदाहरणार्थ मयूरा के भीमाक्षी मन्दिर का मण्डप ६=५ स्तम्भों का है और सब स्तम्भों पर अद्भुत नक्काशी है।

होयसाल कला—११११ ई० से मँसूर में होयसाल पादवी का एक बंध प्रबल हुआ। बारहवीं-तेरहवीं शती में इन्होंने एक नये प्रकार की वास्तु-कला का विकास किया। सम्भवतः इन्होंने अपने-से पहले शासक वर्गों की कला-परम्परा को धर्म बढ़ाया। मंगी के शासन में ६=३ ई० में एक मन्वी कामुन्दराय ने अथर्व वेदमोक्षा की पहाड़ी पर अत्यन्त कठोर काले पत्थर के एक ही खण्ड से बनी ५५ फुट ऊँची (५ फुट के पादवी से ६१ गुना) गौमातेश्वर की प्रतिमा स्थापित की। विमान-कोशाल की कठिनता और कल्पना की विद्यायता की दृष्टि से सुमिया की छग कोई मूर्ति इसके धारों नहीं टिक सकती।

होयसाल राजाओं ने भी अपने वास्तु में इन्हीं विशेषताओं को बनाते रखा। इनके मन्दिर त्र्योकार नहीं, किन्तु तारकाहति या बहुकोणीय हैं। इनकी दूसरी विशेषता ऊँची मूर्तियों या आधार हैं। इनसे शिल्पियों की मूर्तियाँ बनाने के लिए काफी जगह मिल गई है और इन्होंने इसका पूरा उपयोग किया है। शिखर त्र्योमिश्र-कार होते हुए भी काफी नीचा है। इन वास्तु शैली का सर्वोत्तम उदाहरण हालेबिद या दोरसमुद्र का होयसालेश्वर का विशाल मन्दिर है। यह पश्चिम-तः फुट ऊँचे चक्रवर्ते पर बना है, चक्रवर्ता बड़े-बड़े शिला-फलकों में बाँटा गया है। इन पर ऊपर से नीचे तक ११ अलंकरण-श्रृंखलाएँ हैं, ये ७०० फुट लम्बी हैं और समूचे मन्दिर को घेर हुए हैं। इनमें हार्मियों, फेरों, युद्धयारों, दिव्य पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

उदाहरणार्थ सबसे निचली अलंकरण-श्रृंखला (Eriece) में दो हजार हार्मियों का महावली और भूखी के साथ सफल एवं सुन्दर अंकन है। इनमें कोई भी दो हाथी

एक दूसरे से नहीं मिलते। इस मन्दिर के सम्बन्ध में स्मिथ की यह उक्ति गंवारों है कि यह देवालय सर्वेधीन मानव जाति के धर्म का पर्यन्त धारणकर्तृक समूह है। इसकी सुन्दर कारीगरी के काम को देखते-देखते आँखें तृप्त नहीं होती। मैकडानल का मत है कि संसत्ता संसार में शायद दूसरा कोई मन्दिर ऐसा न होगा जिसके बाहरी भाग में इस प्रकार का अद्भुत सुवाई का काम किया गया हो। १३११ ई० में मुस्लिम आक्रमण के कारण यह मन्दिर अधुरा रह गया।

प्राचीन भारत का वास्तु—इस युग में स्वदेश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी बड़े भव्य हिन्दु-मन्दिरों का निर्माण हुआ। कम्बोडिया में अंकोरवत् और अंकोरवोम के विशाल एवं भव्य मन्दिर बने। पहला मन्दिर वर्गाकार है और इसका प्रत्येक पार्श्व एक भीम सम्भा है। इसकी दोनो भारतीय मन्दिरों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें कमरा एक दूसरे से ऊँच उठते हुए और छोटे होते हुए अनेक खण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड भक्त की ऐहिक जगत् की सुखा से ऊँचा उठाता हुआ उच्च आध्यात्मिकता की ओर जाता है। कस्तुर मन्दिरों की यह उदात्त भव्यता अविह मन्दिरों के विशाल मण्डपों और उत्तुंग विमानों तथा गोपुरों में नहीं मिलती। इन मन्दिरों की दीवारियों में पुराणों के दृश्य अंकित हैं। सर्वोपरी में जाया के एक राजा दश ने प्राचीन में शिव-संघ स्थापित करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मन्दिर बनवाये। इनमें राम और कृष्ण की पीताम्बे उल्लेख हैं। भारत में इन विषयों की ऐसी सुन्दर मूर्तियाँ नहीं बनीं। प्राचीन में शिव की देवता और शक्ति के रूप में दो प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं। पहली के मुख-मण्डल पर समाधिमानता, गान्धीय और असीम शक्ति का भाव अंकित है। दूसरी में उनका उदात्त और बड़ी बड़ी सुन्दरता से बनी हुई है। तैरहवीं शती के जाया की सर्वोत्तम मूर्ति बौद्ध प्रजापारमिता की है। यह राजा अमर्षभूमि (१२२०—१२२७ ई०) के काम की है। इसके मुखमण्डल की सुकुमारता, सरलता, शक्ति-प्रपञ्चता, और और शान्ति-वस्तुतः अद्भुत है।

मध्ययुग की मूर्तिकला—इस युग की मूर्तिकला की कुछ विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं। सर्व-सर्वः धार्मिक प्रभाव प्रबल होने लगता है, मोन्दर-बुद्धि गौण हो जाती है; युग युग तक दोनों प्रवृत्तियों में जो सामंजस्य था, वह खूब हो जाता है। धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए भीषण तथा कुल्ल मूर्तियाँ भी बनती हैं। देवताओं की सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए उनके कटुमन्त्रक हाथों में अनेक प्रकार के हथियार एकत्रित होते हैं, इनका निर्माण मिल्न-राष्ट्र की सड़ियों के अनुसार होने लगता है। मूर्ति-शिल्प में नवीनता और मौलिकता बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

इस काल के होने हुए की वास्तु-कैमव की दृष्टि से यह काम अविस्मरणीय है। भागलपुरम्, कैलाश, बौद्धपुर, चमकोरवत्, गंभीर और हातेजिद हमारी संस्कृति के धर्म स्मारक हैं। आदिओं की महत्ता का एक मानक कला-कृतियों की है। इस दृष्टि से प्राचीन भारत का किंचित में बहुत ऊँचा स्थान था। हमारे पूर्वजों ने अविचल

खड़ा और यथार्थ परिधम से जिन कृतियों की रचना की, उनमें न केवल विलम्ब-चातुर्य था; किन्तु, तानिर्य, मुकुचि और सुसंस्कारिता भी थी जो उच्च संस्कृति के प्रधान चिह्न हैं। प्राचीन भारतीय कला भारतीय भावनों का सच्चा प्रतिबिम्ब है। उससे यह ज्ञात होता है कि सब प्रकार का ऐश्वर्य उपभोग करते हुए भी भारत में भौतिकता और ऐतिहासिकता के प्रति ही अनुुराम न था। किन्तु पारलौकिकता और आत्मात्मिका की भी तीव्र आकांक्षा थी। उसके सर्वोत्तम युग में इन दोनों का सुन्दर सामंजस्य था। कलाकार उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कलाओं को सफलतापूर्वक अपना सामन्य बना रहे थे।

मध्ययुगीन विषयकला—पाठवीं शती के बाद यज्ञज्ञान-जैसे बहुत प्रकार के निमित्त-विषय भारत में लोकप्रिय नहीं रहे, लघुचित्रों की अभिव्यक्ति बड़ी। ये विषय संघों की पराजय एवं विघटित करने के लिए ब्रह्मणे जाते थे। इनकी दो शैलियाँ उत्पन्न-सीम हैं। (१) काल की पाल शैली (नवीं-बारहवीं शती ई०) (२) अपभ्रंश शैली (११००-१६०० ई०)। पहली का विषय बौद्ध है और विशेषताएँ हैं—वक्र रेखाएँ और सरल रचना। यह महापान बौद्ध धर्म के भक्ति-भाव से प्रेरित है। प्रजापार-मिता की बनेक ताकपन पर लिवी पोषियों इस शैली से चिह्नित हैं। अपभ्रंश शैली पाल से बरस तक चलती रही, इसके पारम्भिक नमूने ताकपन की पोषियों पर तथा कामज पर बने हैं, इसके सुन्दरतम उदाहरण उस संक्रमण काल (१३२०-१४५० ई०) के हैं, जब कामज ताकपन का स्थान ले रहा था। इसकी विशेषताएँ, कोणाकार चेहरा, लुकीली नाक, बाहरे की रेखा से बागे बड़ी आँख और बलकार-प्रधानता है। शुरू में साधारण रंग बरते जाते थे, पन्द्रहवीं शती से नीले और सुनहरी रंग का खूब प्रयोग होने लगा। इनका विषय धारम्भ में जैन धर्म-ग्रन्थ थे, बाद में 'गीत गोविन्द', 'भागवत', 'बालगोपालस्तुति'—जैसे वैष्णव ग्रन्थों में लौकिक प्रेम का चित्रण होने लगा। वरुध पर बने वसन्त-मितास (१४५१ ई०) में धमन्त का प्रेमव गयो सुन्दरता से चिह्नित है। यह शैली प्रेम भाव के सजीव संकेत में बहुत सफल हुई है। इसके अधिकांश उदाहरण गुजरात से मिले हैं, अतः इसे गुजराती शैली भी कहा जाता है।

राजस्थानी—इस शैली का उद्भव अपभ्रंश शैली से, गुजरात एवं मेघाड से पन्द्रहवीं शती में हुआ। इसका प्रधान विषय कृष्ण और राधा लवली नर-नारी के आश्रित प्रेम का धमन्त कर्णों से विवर्ण है, इसमें लोक-जीवन की कला तथा नारी के आदर्श गीन्दर्प का बहुत सुन्दर संकेत हुआ है। राजस्थानी चित्रकार अपनी मूर्तिका से कृष्ण-जीता, भुगार, साविक-भेद, राधापन, महाभारत के तथा हर्म्मीर हउ, नल दमपती, बाणमासा, धकीहू तथा राधमासा के दृश्य प्रकट करते रहे। राधमासा में विभिन्न रागों की चित्रों द्वारा मलयम मूर्त कर दिया जाता था जैसे विराजत में नायिका धमन्त में अपने रूप के देखने से उत्पन्न प्रेमपीड़ा से व्यथित दिखाई जाती

थी, मातृकीस में प्रेमी प्रणय-कीड़ा में रत होते थे, औरवी में अधिवाहित नायिका शार्ङ्गती की भाँति अपने मनचाहे पति की उपासना में लवलील होती थी।

मुगल शैली—मुगल सल्तानों के समय चित्र-कला को बहुत प्रोत्साहन मिला। हुमायूँ ने ईरान से और संयद अलों और श्वाखा बखुरसमद शीराजी को बुलाया था, अकबर ने अपने दरबार में सारे भारत के सैकड़ों चित्रकार एकत्र करके इनमें फारसी और संस्कृत के विविध ग्रन्थों 'हुन्दातनामा', 'बाबरनामा', 'अकबरनामा' और 'महा-भारत' (रामनामा) को चित्रित करवाया। पहला प्रणय-कथाओं का ग्रन्थ था, जो अकबर को बहुत प्रिय था। इसके लिए, वर्ष १३७१ चित्र बनाये गए। महा-भारत के १६६ चित्र बनाये गए, जो सभी तक सोभाग्यवश जयपुर के पोसीखाने में सुरक्षित हैं। अकबर की कला सब देवी से सम्बन्ध रख लेकर उन्हें अपनी भारतीय रूपा देने वाली थी, प्रारम्भ में ईरानी प्रभाव अधिक होते पर भी बाद में वह अपना बना लिया गया। यह कला प्रधानतः ग्रन्थ-चित्रों, दरबार और राजमहल से सम्बन्ध रखने वाली पटनाओं तथा व्यक्तियों का चित्रण करने वाली है। राजस्थानी शैली के न केवल इसका विपरीत-वेद है किन्तु इसके नेहरी में विशिष्टता और व्यक्तित्व अधिक है। जहाँगीर से भी इस कला को बहुत उत्तेजन मिला, उसके समय में उस्ताद मसूम ने यमु-प्रांशियों के बहुत सुन्दर चित्र बनाये। औरंगजेब के समय में राज-सरक्षण न मिलने से यह कला मुरझाने लगी। मुगल शैली की एक दाँतणी शाखा बीजापुर तथा गोलकुण्डा के बाही दरबारों में फली-फूली।

पहाड़ी शैली—मुगल साम्राज्य का विघटन होने पर शाहशाही चित्रकार नये आश्रय-दाताओं की खोज में रावी से पूर्व की काँगड़ा वृत्त की रियासतों—जम्मा, मुहपुर, काँगड़ा, मुकेश, मन्थी आदि राज्यों में पहुँचे और इनसे पहाड़ी-शैली का विकास हुआ। काँगड़ा के राजा संसारचन्द (११७४-१२२३ ई०) का समय पहाड़ी कला का स्वर्ण युग है। इसकी दो कम्पार्ट्मेंट-गैलरीयों में श्वाही गई और यह कला गढ़वाल में भी पहुँची। पहाड़ी चित्रों की विशेषता वास्तविकता और भावना का सम्मिश्रण है। 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'भामवत' आदि समस्त पौराणिक साहित्य, केशव, मतिराम, बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ इनका प्रधान विषय हैं। "घमन्ता युग के बाद पहाड़ी शैली में ही भारतीय कला एक ऐसी उँचाई तक उठी है जहाँ तक पहुँचना सिलखाइ नहीं।"

अन्य कलाएँ

कांस्य-प्रतिमाएँ—कांसि की सुन्दर मूर्तियाँ खाने की कला भारत में मोहेंजोदड़ो युग से ही फली-फूली रही है। सर्वश्री की मूर्ति इसका सुन्दर प्रमाण है। पहली-दुसरी शती ई० की कुछ सोटी मूर्तियाँ लखनौ से मिली हैं। गुप्त युग में इस कला में काफी उन्नति हुई। कारीगर बड़े आकार की प्रतिमाएँ अफगानिस्तान तक बनाने लगे। इनमें भाण्डपुर से पाई गई व्यासचन्द्र बुद्ध-मूर्ति और मीरपुर के

(चित्र) से मिली बह्या की सुन्दर मूर्ति उल्लेखनीय है। कांस्य-प्रतिमाओं का स्वर्ण युग दक्षिणभारत में बोलों का शासन काल (दसवीं—तेरहवीं श० ई०) था। इस समय यहाँ नटराज चित्र की भव्य प्रतिभाएँ बनने लगीं। इनमें प्रलय के साण्डव नृत्य की भाव भंगी में शिव की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

वस्त्र—घठारहवीं शती के अन्त में लगभग २,००० वर्ष तक विश्व में भारत के बने कपड़ों की व्यापि और माँग बनी रही। पहले यह बताया जा चुका है कि भारतीय मलमल, जिसे रोमन 'कुनी हवा' कहते थे, रोम की स्त्रियों द्वारा बहुत पसंद की जाती थी। इसी शती में अरब के व्यापारी गुजरात में बने भारतीय वस्त्रों की भिन्न तक पहुँचा रहे थे और यहाँ की पटोला साक्षियाँ जावा, सुमात्रा तक भेजी जा रही थीं। मुस्लिम बादशाहों द्वारा श्रेष्ठाह्वन पाकर वस्त्र-कला की बड़ी उन्नति हुई। इस काल में बाका के कलाकारों द्वारा तैयार की जाने वाली मलमल विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मुसल बादशाहों के लिए तैयार होने वाली मलमल मोहेजोरो की कांस्य मूर्ति
वास का २० गज का पूरा धान तैयार करके बोन की खोखली मर्ती में बन्द करके और इसका जलूस निकालकर बादशाह की भेजा जाता था। इन धाबेरियाँ (बहता पानी), वापत हुआ (बुनी हुआ), यक्षम (घोस) के कवितामय नाम दिये जाते थे। मलमल की चारोंकी और पारदर्शकता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि एक बार औरंगजेब ने अपनी पुत्री को डाँटा कि तु नंगी क्यों जाती है, तुझे लाज नहीं आती? बेटी बोली—“धब्बा जान, धान नाहक बिगड़ते हैं। मैंने तो कपड़े की भात सहे करके उसे लपेटा हुआ है, फिर भी चंग झलकता है तो मेरा क्या कमूर?”

पटोला—गुजरात में विवाह के समय पहनी जाने वाली पटोला साड़ी बुनाई का एक अद्भुत चमत्कार है जो इस युग में कुलात्कारीयती से तैयार की गी। इसमें साड़ी पर बनाई जाने वाले डिजायम को पहले ही स्थान में रखकर लाने-बाने के मूल को विभिन्न रंगों में रंगा जाता है और बुनाई के समय वे सारे डिजाइन कपड़े के दोनों ओर धा जाते हैं।

किमल्लाक—किमलाय का अर्थ है—बुना हुआ फूल (किम—फूल, लाय—बुना)। इसमें बुनाई में विभिन्न रंगों द्वारा समेक प्रकार के डिजाइन बनाये जाते हैं, इसका पटोला से यह अन्तर है कि इसमें दोनों ओर एक ही डिजाइन धाता है और इसमें ऐसा नहीं होता। इसमें सीवे-जोरी के तार (जरी) का भी उपयोग



होता है। इसमें घुड़ सामग्री का प्रयोग किया जाता था अतः यह घोड़ा जाने पर भी वहीं तक धराब नहीं होता था। मध्य युग में किमखाब का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र बनारस था, इसके साथही मुंशिदाबाद, चन्देरी, अहमदाबाद, श्रीरंगाबाद, मुरत, लजोर में भी यह काम होता था।

इसके अतिरिक्त मध्य युग में लखों की रंगाई, छोट, कढ़ाई की कला भी बहुत उन्नत हुई थी। काश्मीर के शाल विदेक-निर्यात थे।



प्राचीन शिक्षापद्धति

भारत में शिक्षा वैदिक युग से मनुष्य के सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थान के लिए आवश्यक समझी जाती रही है। ब्रह्मवेद में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गए हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार की अनेक उपयोगी व्यवस्थाएँ की थीं, जिनसे राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध न होने पर भी इसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन जिन चार अवस्थाओं में बाँटा था, उनमें पहला ब्रह्मचर्य आधम विद्याभ्यास के लिए था। उपनयन-संस्कार सब बच्चों के लिए आवश्यक था, निश्चित अवधि तक इसके न करने अर्थात् विद्याभ्यास में विचिन्ता दिलाने से उन्व वरुं प्राप्य या जाति-श्रुत समझे जाते थे। शिक्षा के सारक को सबके जित पर भली-भाँति बँकित करने के लिए ही स्नातक की पुराने जमाने में राजा से अधिक प्रतिष्ठा दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह न केवल पुत्र की जन्म लेकर पितृ-ऋण से मुक्त हो, किन्तु इसके प्रतिरिक्त ऋषि-ऋण को भी उतारे। हिन्दू शास्त्रकारों ने ज्ञान का प्रसार करने वाले ब्राह्मणों को न केवल नाना प्रकार के दानों का अधिकारी बताया, किन्तु उन्हें करोड़ों से भी मुक्त कर दिया। राजाओं ने अपने उबार दावों से नालरा, चिकित्सा, उद्योग, प्रभृति शिक्षाशास्त्रों के विकास में पूर्ण सहायता दी। यही कारण था कि प्राचीन काल में जितनी साक्षरता भारत में थी, उतनी उस समय किसी दूसरे देश में नहीं थी। राजा अक्षरपति और दशरथ का यह दावा था कि उनके राज्य में कोई अशिक्षित व्यक्ति नहीं है। प्राचीन शिक्षापद्धति से भारत ने न केवल सैकड़ों वर्षों तक मौलिक परम्परा द्वारा विशाल वैदिक वाङ्मय को सुरक्षित रखा; किन्तु प्रत्येक युग में द्रष्ट, व्याप, मणित, ओत्तिष, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों में ऐसे मौलिक विचारक विद्वान् उत्पन्न किये, जिनसे भारत का मूलक आज भी ऊँचा है।

ब्रह्मचर्य-आधम और उपनयन-संस्कार—प्राचीन काल में ऋषियों ने ब्रह्मचर्य और उपनयन-संस्कार की व्यवस्था द्वारा समूचे समाज को शिक्षित करने का सराहनीय उद्योग किया था। ब्रह्मवेद से ज्ञात होता है कि उस समय तक ब्रह्मचर्य की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। ब्रह्मचर्य का वाक्यार्थ है—वेद का अध्ययन। उस समय सरल एवं तपोमय जीवन जिताने हुए आर्य वेद का स्वाध्याय करते थे। यह समझा जाता था कि ब्रह्मचर्य का पालन सभी-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक है। "ब्रह्मचर्य के उपर

ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है। इसी के तप से देवताओं ने अमृतत्व तथा इन्द्र ने उच्च पद प्राप्त किया था।" (अथर्व ११।५—१६)। ये सब उक्तियाँ ब्रह्मचर्य का गौरव सूचित करती हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन-संस्कार से होता था। उपनयन का अर्थ है—समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर, विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। उपनयन चिरकाल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अनिवार्य नहीं था, किन्तु वैदिक साहित्य के अध्ययन और संरक्षण के लिए इसे आवश्यक बना दिया गया। ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्रग्रंथों के निर्माण के बाद धार्मिक साहित्य इतना विस्तार हो गया कि उसकी रक्षा के लिए समूचे समाज का सहयोग आवश्यक प्रतीत हुआ, अतएव उपनयन-संस्कार को तीनों वर्गों के लिए आवश्यक बना दिया गया। इसके न करने पर व्यक्ति समाज से परित्यक्त एवं बहिष्कृत समझा जाता था (मनु २।३६)। बाद-शिक्षा राज्य द्वारा अनिवार्य बनाई जाती है, उस समय धर्म से इसे आवश्यक बनाया। इसका एक युग परिणाम यह हुआ कि भार्यजाति के सब सदस्य थोड़ा-बहुत वैदिक ज्ञान अवश्य प्राप्त करते थे, किन्तु २०० ई० पू० के बाद वैदिक ज्ञान इतना खटित हो चुका था कि उसमें बर्त्तिचित् प्रवेश के लिए भी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतः यह माना जा सकता है कि उपनयन आवश्यक हो जाने के बाद भार्यजाति में साक्षरता बहुत बढ़ी होगी। उस समय संभवतः सौ सौ सदी व्यक्ति साक्षर होंगे। किसी भी अन्य प्राचीन जाति में शिक्षा के क्षेत्र में इतनी प्रगति नहीं की। पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत यूनान में यह अवस्था थी कि एथेन्स में दसवीं सदी और रोम में चार प्रसिद्ध व्यक्ति ही शिक्षा पाते थे। यह बड़े दुःख की बात है कि परबर्ती शासकगणों ने ५००-६०० ई० के बाद यह सिद्धान्त चलाया कि कतिपय में क्षत्रिय और वैश्य वर्ग नहीं होते, इससे इन वर्गों का उपनयन बन्द हो गया और साक्षरता बहुत कम हो गई।

ब्रह्मचर्य के नियम—उपनयन-संस्कार के बाद ब्रह्मचारी गुरु से विद्याध्ययन करता था। विद्याध्ययन-काल में ब्रह्मचारी को अनेक आवश्यक नियमों का पालन करना पड़ता था। प्राचीन शिक्षाप्रणालि का सबसे सरल जीवन तथा उच्च विचार था, अतः सभी नियम इसी को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। उनका भोजन सादा होता था, मांस-मदिरा का सेवन वर्जित था, योगासन में भी सादगी थी, जूते और चाट का उपयोग वर्जित था। किन्तु शासकगणों का यह आशय कदापि नहीं था कि स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने हुए इन तपों का पालन किया जाय। जातक-साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनमें ब्रह्मचारी वनारस और तक्षशिला की भीषण गर्मियों में जूत और छाते का प्रयोग करते हैं। ब्रह्मचर्योक्त्या शारीरिक विकास और वृद्धि का काव्य था, इसलिए शासकगणों ने यह व्यवस्था की थी कि ब्रह्मचारी तपस्या में अपने जीवन को डूब न बनाये, किन्तु जितना जा सकता हो, लगे। ब्रह्मचारी के नियमों में

संयम और सदाचार के पहलु पर बहुत बल दिया जाता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मचर्य शब्द अपने वास्तविक अर्थ वेदाध्ययन की प्रवृत्ति संयत जीवन को अधिक सूचित करने लगा। ऋषियों का यह मत था कि कामोद-प्रमोद से विद्याभ्यास में बाधा पड़ती है।

मित्रा-वृत्ति—कई स्मृतियों में यह व्यवस्था मिलती है कि ब्रह्मचारी प्रतिदिन अपने लिए मात्र से मित्रा माँगकर लाये। श्रमसंवेद में मित्राचरण (११।५।६) का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु यह शास्त्रकारों का आदर्श ही प्रतीत होता है, वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। तक्षशिला के ब्रह्मचारी अपने गुरुओं के घरों में बड़ी सामु के पुत्रों के समान रहते थे। नालन्दा, बलभी, तक्षशिला-जैसे बड़े विश्वविद्यालयों में, जहाँ हजारों विद्यार्थी पढ़ते थे, मित्रा-वृत्ति संभव ही नहीं थी। इन सब स्थानों पर संभवतः बड़े भण्डारों में खाने का प्रबन्ध होता था। नालन्दा की खुदाई में कुछ बड़ी भट्टियाँ मिली हैं। मुघल-खान ने लिखा है कि भारतीय विद्वानों के सम्भार पाण्डित्य का एक कारण यह भी है कि उन्हें भोजन, वस्त्र तथा दवाई की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। दक्षिण के कुछ पुराने अभिलेखों में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि यहाँ विद्यालयों में लोगों के दिये दात से छात्रों के भोजन की व्यवस्था की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मित्रा केवल अत्यन्त निर्धन छात्र ही माँगा करते थे। मित्रा के नियम का उद्देश्य ब्रह्मचारी को गृह बनाना तथा इस बात का ज्ञान कराना था कि वह समाज की सहायता और सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है, उसे उसके प्रति अपने कर्तव्य में आवश्यक रहना चाहिए। मित्रा के नियम का एक बड़ा तान यह था कि हमने निर्धन और पत्नी दोनों मित्रा प्राप्त कर सकते थे। मित्रा की व्यवस्था समाज को भी इस कर्तव्य का बोध कराती थी कि लई पीढ़ी की शिक्षा के लिए उसे चल करना चाहिए। ब्रह्मचारी प्राचीन संस्कृति का संरक्षक तथा उसे आगे बढ़ाने वाला था, इससे समाज की लाभ था, यतः हिन्दू शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को मित्रा देना सब गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य निर्धारित किया था और ब्रह्मचारी पर भी यह कर्तव्य लगाया था कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक मित्रा नहीं लेगा, यदि वह ऐसा करता है तो चोरी का महापाप करता है।

गुरुकुलपद्धति—ब्रह्मचारी मित्रा-काल में प्रायः गुरु के पास रहते थे, इसीलिए उन्हें श्रुतवासी कहा जाता था। मित्रा समाप्त करने पर जब वे सौटते थे तो उनका 'समावर्तन' होता था। गुरु के घर में विद्यार्थियों की भेकता कई कारणों से घोरकर कमजोर जाता था। गुरु की वैयक्तिक देख-रेख में मित्रा अच्छी होती थी, बनारस के राजा यह समझते थे कि इससे राजपुत्रों का अहंकार भंग होता है, वे शास्त्र-निर्भर रहते हैं। दुनिया का अच्छा ज्ञान प्राप्त करते हैं। गुरुकुलों में प्रायः विद्यार्थी आरम्भिक शिक्षा के बाद उच्च शिक्षा के लिए ही भेजे जाते थे। तक्षशिला में जाने वाले विद्यार्थियों की सामु कई बातों में स्पष्ट रूप से १२ वर्ष बताई गई है।

प्राचीन गुरुकुलों के सम्बन्ध में यह लोक-प्रचलित धारणा सर्वांग में सत्य नहीं प्रतीत होती कि वे गहरों से दूर जंगलों में होते थे । इसमें कोई संदेह नहीं कि बालमीकि, कण्व, सांटीपनी आदि मुनियों के आश्रम वनों में थे । किन्तु ऐसे तपोवनों की संख्या बहुत कम थी । अधिकांश गुरुकुल और शिक्षा-केन्द्र गहरों और गाँवों में ही थे । तत्कालीन के गुरु और छात्र गाम्भीर्य की राजधानी में ही रहते थे । स्मृतिमें से यह कहा गया है कि जब गाँव में मृत्यु हो या चोर आया हो तो अनभ्यास हो । यदि गुरुकुल जंगलों में हो तो गाँव के उपद्रवों के कारण अध्ययन बन्द करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध—प्राचीन शिक्षा-पद्धति की एक बड़ी विशेषता गुरु और शिष्य का सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था । शिष्य गुरु के घर घर जाकर उसके परिवार का सदस्य बनकर रहता था । गुरु अपने पुत्र की तरह उसका पालन करता था । भगवान् बुद्ध ने कहा था—‘गुरु को चाहिए कि वह शिष्य को पुत्र समझे और शिष्य को उचित है कि वह गुरु को पिता माने’ । प्रायः गुरुओं के पास १०-१५ शिष्य होते थे और वे न केवल इनके आश्रयन, किन्तु खान-पान और चिकित्सा की भी पूरी भिन्ना करते थे । भगवान् बुद्ध ने उपाध्याय के लिए यह नियम बनवाना था कि वे अपने शिष्यों की देख-भाल, उनके घरों का तथा भिक्षा-पात्र आदि का ध्यान रखें । सातवीं शती में भारत आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे इस नियम का पूरा पालन करते थे । जब शिष्य बीमार पड़ते थे, तो गुरु उनकी परिचर्या भी किया करते थे ।

इसके साथ ही, शिष्यों का प्रधान कर्तव्य गुरु की देवता की तरह प्रतिष्ठा और आराधना करना था । मोक्ष के अनुसार गुरु के प्रति नम्रता और सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है । यह कहा जाता था कि शिष्य को पुत्र, दास और प्राणी की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए । उसे गुरु को वातुन और महाने के लिए जल देना उचित है; आश्रयकता पहले पर जुटे बर्तन मँजने तथा कपड़े धोने का भी काम करना चाहिए । गुरु के घर के लिए वह जंगल से ईख लाता और पशुओं की देख-भाल करता था । कृष्ण और मुदामा ने अपने गुरु सांटीपनी ऋषि की इसी प्रकार सेवा की थी । किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि गुरु शिष्यों से इस प्रकार का कोई कार्य नहीं ले सकता जिससे शिष्यों के अध्ययन में बाधा पड़े (आप० प० स० १ । २ । ८) । यदि गुरु का कार्य करते हुए किसी शिष्य की मृत्यु हो जाए तो उसे बड़ा कठोर श्रावधित करना पड़ता था (ई० प० म० २ । १ । २७) ।

शिक्षा की फीस—उस समय शिक्षा निःशुल्क नहीं होती थी । पत्नी और समस्त शिष्य शिक्षा आरम्भ होने से पहले या बाद में गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु को शिक्षा-शुल्क देते थे और निर्धन विद्यार्थी अपनी सेवा द्वारा फीस सदा करते थे । जातकों में हम छात्रों द्वारा तत्कालीन विश्वविद्यालय में गुरुओं को पहले फीस देने का

स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। एक जातक (सं० २१२) में बनारस से आए छात्र से गुरु पूछता है कि 'क्या तुम गुरु की पीठ लामे हो या मुझसे पहले के पहले मेरी सेवा करता चाहते हो।' जो शिष्य गुरु की सेवा करने पहले थे, उनके लिए शिक्षक रात को विशेष श्रेणियाँ लगाते थे, क्योंकि वे दिन में उनके काम में बने रहते थे। शीश पहले देने के प्रतिरिक्त घंट में गुरु-दक्षिणा के रूप में भी कुछ देने का रिवाज था। कई बार गुरु इसकी अधिक दक्षिणा माँगते थे कि शिष्य उसे अन्य व्यक्तियों से माँग कर पूरा करते थे। कोस ने अपने गुरु वरतन्तु की १४ करोड़ की दक्षिणा महाराज रूप से माँगना करके दी थी। प्राचीन शिला-पद्धति की यह एक बड़ी विशेषता थी कि कोई ज्ञान-पिपामु उससे जीवित नहीं रह सकता था। गुरु सामान्य रूप से किसी शिष्य को ज्ञान देने से इनकार नहीं कर सकता था। यदि कोई गुरु किसी शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति के लिए घाते पर एक वर्ष तक नहीं पहुँचाता था तो वह माना जाता था कि शिष्य के सब पाप गुरु की लगते हैं। छात्र की मिथ्यता का बहाना करके वह उसे नहीं डरका सकता था, क्योंकि छात्र सदैव गुरु की सेवा करने के लिए तैयार रहता था।

शिक्षा-काल—पुराने जमाने में शिक्षा का सत्र धारणी (अग्रस्त) से प्रारम्भ होता था तथा पौष या मार्ग (फरवरी-मार्च) में समाप्त हो जाता था। प्रारम्भ में यह छः महीने का था, विद्यार्थी तथा विद्वानों की वृद्धि से यह बढ़ा होने लगा। उन दिनों साम्राज्य की प्रति प्रतिवर्ष गमियों की वृद्धि नहीं होती थी। किन्तु उस समय के विद्यार्थी भी अनुप्रायशिव के शीर प्रति मास दस, पौर्णमास तथा दो अष्टमियों के चार अवकाशों के प्रतिरिक्त आकाश से प्राप्त होने, विद्वानों का कहना, मृतजाचार पाली, खाँधी, पाला पहले पर भी छुट्टी मिल जाती थी। वे सबकाश उस समय की स्मृति करते हैं, जब गुरु-शिष्य शोषणियों में रहते थे और प्रत्यक्ष अनु-परिचर्यों में अध्ययन जारी रखना अनुभव हो जाता था। शिक्षा-काल सामान्य रूप से १२ वर्ष का था। यह एक वेद के लिए पर्याप्त समझा जाता था। सामान्यतः उच्च शिक्षा १२ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होकर २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी। चारों वेदों के लिए ४० वर्ष का ब्रह्मचर्य रखा जाता था, किन्तु आरथकार इसे ज्ञान नहीं समझते थे।

पाठ्यविषय—नवीन विद्यार्थी और विद्वानों के विकास के अनुसार प्राचीन शिक्षावर्द्धति के पाठ्यविषयों में समयानुसार परिवर्तन होते रहे। कार्यात्मिक वैदिक युग (२००० ई० पू०) तक मुख्य पाठ्यविषय वेद-मन्त्र, इतिहास, पुराण और नारायणी भाषाएँ (और मुक्तियों के चरित) थी। पिछले वैदिक और ब्राह्मण युग (२००० ई० पू०—१००० ई० पू०) में वेद की व्याख्याओं और यज्ञीय प्रक्रियाओं की जटिलता में वृद्धि हुई, ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे गए और इन्हें भी पाठ्य-क्रम में स्थान मिला। उपनिषद् और नृस युग (१००० ई०—पहली श० ई०) तक वेद के विविध

सभी व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण विज्ञान) कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त के विकास के अतिरिक्त अनेक प्रकार के शिल्पों तथा उपयोगी विज्ञानों का आविर्भाव हो चुका था। विद्यार्थी केवल वैदिक विषयों का ही अध्ययन नहीं करते थे, बल्कि लौकिक विज्ञानों से भी परिचित होते थे। उस समय के विषयों का परिचय छन्दोग्योपनिषद् के एक संदर्भ से मिलता है (१०।१।२)। इसमें दर्शन की उच्च शिक्षा पाने के लिए सनातकुमार के पास आये नारद ने कहा है—“भगवन् मीने वेद-वेदांग के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, गणित (राशि) ज्योतिष, मन्त्र विद्या, सर्व विद्या, देव (भूतमन्त्र, वायु-शास्त्र आदि प्राकृतिक भूगोल सम्बन्धी अविद्यतकथन की विद्या), मिथि (जनित्र विद्या सम्बन्धी गढ़े खजाने का पता लगाने का विज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र), वाद्यविद्या, भूतविद्या (प्राणि-शास्त्र), राजशासन विद्या (सैनिक विज्ञान तथा राज-शास्त्र), एकादश विद्या (नीति-शास्त्र) का अध्ययन किया है”। उस समय के सभी छात्र नारद की भांति मेधावी हों तथा सब विषयों का अध्ययन करते हों, सो बात नहीं, किन्तु ऐसा व्यवस्था जान पड़ता है कि उस समय शिक्षा-प्रणालि में साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार के विज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। जातको ये यह बात होना है कि तक्षशिला में क्षत्रिय और ब्राह्मण मुचक तीनों वेदों और अठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे। इन शिल्पों में धनुर्विद्या, वैद्यक, वादू, सर्वविद्या, गणित, कृषि, पशु-पालन, व्यापार आदि का समावेश होता था। इस युग में भारत ने दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, धर्म-शास्त्र, काय-चिकित्सा, शस्त्र-चिकित्सा, मूर्ति, भवन तथा पोत-निर्माण-विद्या में बड़ी उन्नति की। इस समय बौद्ध और जैन साहित्य का विकास हुआ। वैदिक साहित्य में पद, पत्र और जटा पाठ का आविर्भाव हुआ। इन एत्यों वेदों की लोकप्रियता घट रही थी, अतः ब्राह्मणों में केवल १५ प्रतिपाद ही वैदिक विषयों का स्वाध्याय करते थे। अधिकांश विद्वानों का ध्यान अब विधिवित विद्यार्थी—व्याकरण, न्याय, उपनिषद्, दर्शन और धर्मशास्त्र की ओर था। पहली स० ई०—१२०० तक के स्मृति, पुराणों और निबन्ध-ग्रन्थों के युग में वेदों का महत्त्व बहुत कम हो गया। चीनी यात्रियों के विवरण इस समय के विद्वानों और महाविद्यालयों के वाद-कर्म पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं जिनमें वैदिक विषयों से भिन्न लौकिक विषय पढ़ाने जाते थे।

इस्लाम के कल्पानुसार ६ वर्ष की आयु में विद्यार्थी तर्जुमाला सीखना शुरू करते हैं, इसमें छः महीने लगते थे। अगले वर्ष संभवतः गणित पढ़ाया जाता था। भर्षे वर्ष से १२वें वर्ष तक पाश्चिमीय सप्ताध्यायी और उगादि सूत्रों का स्वाध्याय कराया जाता था। १३-१४ वर्ष की आयु में विद्यार्थी का पढ़ाये थे, अतिरिक्त इस विषय में नीति है, सम्भवतः उन्हें काव्य, साहित्य और कौशल का ज्ञान कराया जाता था। १५वें वर्ष से विद्यार्थी उच्च शिक्षा की संस्थाओं में कुछ विषयों का विशेष अध्ययन करते थे। विशेष अध्ययन के विषय व्याकरण, तर्क-शास्त्र, दर्शन, वैद्यक, गणित एवं नीति ज्योतिष थे। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय विषय व्याकरण था।

व्याकरण का उच्च पाठ्य-क्रम पाँच वर्ष का होता था और इसके प्रभान पाठ्य-ग्रन्थ वाशिका और पातञ्जल महाभाष्य थे। छत्तवेरुनी के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शती में भी सबसे अधिक लोकप्रियता व्याकरण को प्राप्त थी। इनके अतिरिक्त पुराणों और नाटकों का भी अध्ययन होता होगा, चीनी यात्रियों ने इसका उल्लेख नहीं किया।

पाठ्य-प्रणाली—प्राचीन काल में पाठ्य-प्रणाली प्रधान रूप से गुरु-मुख से पाठश्रवण करने तथा उसके सामने उसे दोहराने तथा प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करने की थी। इसका कारण यह था कि वेद उस समय लिखित रूप में नहीं थे। लेखन-कला से अभी-भौति परिचित होने पर भी भारतीयों ने वेदों को कई कारणों से लिपिबद्ध नहीं किया। ऐसा होने से भगवती श्रुति के अपवित्र हार्थों में पढ़ने की साक्षका थी, लिपिकारों के अज्ञान और प्रमाद से वेद के स्वरों और वर्णों के दूषित रूप से लिखे जाने की संभावना थी। आठवीं, नववीं शती में कश्मीरी पण्डित बभ्रुक ने पहली बार वेदों को लेखबद्ध करने का साहस किया। उस समय तक शिला मौलिक ही होती थी। गुरु एक-एक विद्यार्थी को प्रत्यक्ष पढ़ाता, उसका पाठ सुनता और गलतियाँ ठीक करता था। इस पद्धति से कई लाभ थे। गुरु सब विद्याधियों पर वैयक्तिक ध्यान देता था, इसका अभाव वर्तमान शिक्षा-पद्धति की सबसे बड़ी कमी है। पुरानी पद्धति में पुस्तकीय शिक्षा पर बल न होने से विद्यार्थी प्रत्येक विषय को गुरु-शेष-समझकर याद करता था। यह कहना मतलब है कि उस समय की शिक्षा-पद्धति में रटना और पोटना ही प्रधान था। यास्काचार्य और मुद्गुत ने पोटने की और निष्ठा की है, मुद्गुत ने रटने वाले छात्र की उस गंध से तुलना की है जो घ्राणे पर बीभ का तो अनुभव करता है किन्तु वह नहीं जानता कि वह किस पस्तु का बीभ है। वेद का अध्ययन वेद-मन्त्रों की व्याख्या के साथ होता था। समुच्च वाङ्मय-साहित्य इसी प्रकार की रचना है। भारतीय विद्वान् परम-धर्मों के व्याख्या-कोषण के लिए जलप्रसिद्ध थे। इसीलिए चीनी यात्रियों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इसीसे ने लिखा है कि "मैं इस बात से सर्वत्र बड़ा प्रसन्न हूँ कि मुझे भारतीय पण्डितों के घरों में बैठकर वह ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है, जो अगम्य नहीं प्राप्त हो सकता था।" मुद्गुत व्यास ने भारतीय पण्डितों की विशेष प्रशंसा इस दृष्टि से की है कि वे अस्पष्ट स्वर्णों की सुन्दर व्याख्या करते हैं। प्राचीन पाठ्य-पद्धति की यह बड़ी सुखी थी कि वह समझकर ग्रन्थ कण्ठस्थ करने पर बल देती थी। उस पद्धति से पढ़े व्यक्तियों का पाण्डित्य बड़ा गम्भीर होता था। वर्तमान काल की निदरा पुस्तकालयों में रखे विद्व-कोशों में है, प्राचीन पण्डित अपने छात्रों को अतर्क-किरता विद्व-कोश बनाने का प्रयत्न करते थे।

इस प्रकार की पाठ्य-पद्धति में गुरु अधिक छात्रों की नहीं पढ़ा सकता था। सामान्य रूप से लगभग १५-२० से अधिक छात्र नहीं होते थे। गुरु उन विद्याधियों पर पूरा ध्यान देता था। प्रत्येक विद्यार्थी को

पिछला पाठ सुनाने पर उसकी शोभ्यता के अनुसार बगला पाठ दिया जाता था। मुख शिक्षण-कार्य में बड़े विद्याधियों का भी उपयोग करता था। महामुत्तरीमकांतक के अनुसार कुम्हेश के एक राजपूत ने धन्य छात्रों की अपेक्षा पहले विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर ली, उसे अपने छोटे भाई की शिक्षा का काम सौंप दिया गया, मुख की अनुपस्थिति में बड़े छात्र उसके समान की पूति करते थे। इससे एक घोर जहाँ की विद्याधियों की किरातमक अनुभव मिलता था, वहाँ दूसरी घोर इन छात्रों द्वारा निःशुल्क शिक्षण से शिक्षा का व्यय भी कम होता था।

शिक्षा प्रदर्शक तथा मार्गदर्शक की पद्धति से दी जाती थी। उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या के ब्रह्म तत्त्वों का इसी तरह उपदेश दिया गया है। भगवान् बुद्ध की उपदेश-शैली भी इसी प्रकार की थी। इसका बड़ा ज्ञान यह था कि शिक्षा के समय शिष्य को उसमें पुरा मनोयोग देना पड़ता था, उसमें विचार और विवेचन की भाँति विकसित होती थी। आवश्यक विषयों पर मुख तथा शिष्यों में वाद-विवाद होते थे। इनसे उनमें जागरूकता, चिन्तन, निरीक्षण, तुलना आदि की अनेक मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित एवं पुष्ट होती थीं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी प्रायः निष्क्रिय रूप से अध्यापकों के व्याख्यान सुनता है, अतः उसका उचित मानसिक विकास नहीं हो पाता।

परीक्षाएँ और उपाधियाँ—प्राचीन भारत में न तो वर्तमान शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी और न ही शिक्षा-समाप्ति के बाद कोई उपाधियाँ दी जाती थी। उस समय मुख प्रतिष्ठित समा पाठ पढ़ाने से पहले इस बात की काफी कड़ी मौखिक परीक्षा लेता था कि शिष्य को पिछला पाठ भली भाँति स्मरण हो चुका है या नहीं, ऐसा न होने पर बगला पाठ नहीं दिया जाता था। अतः उस पद्धति में दैनिक परीक्षा होने के कारण वास्तविक परीक्षा की आवश्यकता ही नहीं थी। शिक्षा-समाप्ति के बाद समावर्तन से पहले कई बार शिष्यों को विद्वत्परिषद् में उपस्थित किया जाता था और उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। राजसेखर और चरक ने राज-दरबारी में शास्त्रार्थों द्वारा होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है, किन्तु ये वर्तमान परीक्षाओं से सर्वथा भिन्न हैं। धार्मिक परीक्षाओं में गुरुतम उत्तीर्णों को लेकर विद्यार्थी पास हो जाते हैं, किन्तु पुराने शास्त्रार्थों में अधिकतम विद्वत्ता और पाण्डित्य दिखाने वाला ही पास हो सकता था। वे प्रायः विशेष अवसरों पर होते थे, सामान्य रूप से इनका प्रचलन नहीं था। परीक्षाएँ न होने के कारण, उस समय कोई उपाधियाँ भी नहीं दी जाती थीं। मुघल जमाने में लिखा है कि सातवीं शती में कुछ लोग अधिक सम्मान पाने के लिए यह कहा करते कि वे सातवाँ शती में हुए हैं। सातवाँ में उपाधियाँ न दी जाने में ही उन्हीं ऐसी वृत्तता का बीड़ा मिलता था। समय-समय के अन्तिम भाग में विकसमिता विद्वत्विद्यालय के संरक्षक शास्त्रार्थों राजा समावर्तन के समय विद्यार्थियों की उपाधियाँ देने लगे। मध्यकालीन बंगाल में कुछ विद्वत्परिषद् मशहूर जयदीन-जैने प्रकाश विद्यापीठों

को सर्वोपेक्ष्यती, तर्कालंकार को प्रतिष्ठित पदवियाँ देती थीं ; किन्तु यह पद्धति प्राचीन नहीं थी ।

परीक्षाओं और उपाधियों के न होने से वर्तमान काल के विद्यार्थियों को यह नहीं समझता चाहिए कि प्राचीन काल का शिष्य उनकी अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली था । आजकल का छात्र परीक्षा से पहले सब-कुछ रटकर और परीक्षा-भवन में उसे उमरकर पास हो जाता है और फिर उपाधि प्राप्त करके अपना सारा पढ़ा-लिखा भुला सकता है । जब तक उसके पास उपाधि का प्रमाण-पत्र है, उसकी योग्यता में कोई संदेह नहीं कर सकता, किन्तु पुराने विद्यार्थी को न केवल प्रतिदिन गुरु को कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी, अपितु उसे विद्यास्वास्थ्य के बाद भी अपने ज्ञान को अधुण्य हो नहीं किन्तु सर्वोत्तम खोजों से समृद्ध बनाये रखना पड़ता था । उसे सदैव सारी विद्या कठस्थ रखनी पड़ती थी । किसी भी समय उसे शास्त्रार्थ के लिए बुलाया जा सकता था और उस समय उसकी योग्यता की परीक्षा वाद-विवाद से होती थी । वह अपनी उपाधि के बल पर तथा तोटवुकों द्वारा वर्तमान विद्यार्थी की भाँति उस अग्नि-परीक्षा से नहीं बच सकता था ।

शिक्षा-संस्थाएँ—प्राचीन भारत में पाँचवीं-छठी शती ई० तक शिक्षा प्रदान करने के लिए समाज या राज्य की ओर से वर्तमान काल की भाँति सुसंघटित शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं । गुरु वैयक्तिक रूप से स्वयंसेवक शिष्य को शिक्षा दिया करते थे । संघटित शिक्षा-संस्थाओं का विकास सर्वप्रथम बौद्ध विद्वानों ने किया । इनमें पहले भिक्षु-भिक्षुणियों को तथा बाद में सर्वे-साधारण जनता की व्यवस्थित रूप से शिक्षा दी जाने लगी । नामगदा इस प्रकार का पहला विश्वविद्यालय था । संभवतः इसके अनुकरण से हिन्दू-मन्दिरों के माध्यम शिक्षा-संस्थाओं का विकास हुआ । बौद्ध-विहार लगभग १०० ई० से शिक्षा का कार्य आरम्भ कर देते हैं, किन्तु हिन्दू-मन्दिरों के उच्च शिक्षा का वेग्न अपने के निम्नलिखित प्रमाण दसवीं शती ई० से मिलते हैं ।

शिक्षा-केन्द्र—भारत में प्रधान रूप से पाँच प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे राजधानियाँ, तीर्थ, विहार, मन्दिर, अष्टाहार शाल । राजा लोग प्रायः विद्वानों के संरक्षक होते थे, दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् उनके दरबारों में आते थे, राजधानी में रहते थे, उनसे लाभ उठाने के लिए विद्यार्थी आते थे और राजधानियाँ शिक्षा-केन्द्र बन जाती थीं । तलधिला, बनारस, कल्पी, विजिता, आरा, उज्जयिनी, पैठन, भाजसेद, कल्याण इसी प्रकार के केन्द्र थे । तीर्थ प्राचीन काल से विद्वान् आह्वानों के केन्द्र रहे हैं । बनारस, कोशी, तथा नागिक इन्हीं मन्दिरों के कारण प्रमुख शिक्षा-स्थान बने । भगवान् बुद्ध ने बौद्ध-विहारों में नये भिक्षुओं को बौद्ध-धर्म की शिक्षा देने के लिए १० वर्ष की अवधि नियत की थी । पहले इनका शिक्षण-कार्य भिक्षुओं तक सीमित था, बाद में साधारण जनता भी इनसे लाभ उठाने लगी । बौद्ध-विहारों की भाँति जब हिन्दू-मन्दिरों को बड़े-बड़े-दान मिलने लगे तो उनका कुछ भाग शिक्षा के लिए सुरक्षित

रखा जाने लगा। हिन्दू-मन्दिर न केवल हिन्दू धर्म, संस्कृति और सम्प्रदाय के प्राप्ति हिन्दू धार्मिकों के शिक्षण का भी केन्द्र बने। पहले बताया जा चुका है कि हिन्दू मन्दिरों द्वारा शिक्षण-कार्य के निश्चित प्रमाण दसवीं शती ई० से मिलते हैं। किन्तु यह संभव है कि मन्दिरों ने यह कार्य काफी पहले शुरू कर दिया हो। पुराने जमाने में विद्वान् ब्राह्मण-कुलों को अपने निर्वाह तथा छः प्रकार के शास्त्र-प्रतिपादित कर्तव्यों को पूरा करने के लिए जो गाँव दान में दिये जाते थे, वे ब्रह्महार कहलाते थे। ब्राह्मणों का एक कर्तव्य व्यव्यापन भी था, सर्वज्ञपुर (हसन जिले के प्रसिकेरी) तथा राष्ट्रकूट राज्य के कातिपुर (प्राधुनिक कलस) नामक ब्रह्महार गाँव निश्चित रूप से शिक्षण-कार्य में लगे हुए थे। सारे देश में बिखरे हुए ऐसे सैकड़ों गाँव ज्ञान-प्रसार का पुनीत कार्य कर रहे थे।

प्रसिद्ध विश्वविद्यालय

तक्षशिला—प्राचीन भारतवर्ष का सबसे पुराना और प्रसिद्धतम शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला था। रामायण के वर्णनानुसार भरत ने इस नगर की स्थापना की थी और अपने पुत्र लक्ष्मण को उसका पहला शासक बनाया था। महाभारत में अश्वमेध का नागमन इसी स्थान पर होने का वर्णन है (१।३।२०)। रामायण और महाभारत में इसके प्रसिद्ध केन्द्र होने का उल्लेख नहीं, किन्तु सातवीं शती ई० पू० तक यह स्थान विद्यापीठ के रूप में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि राजगृह, बनारस और मिथिला-जैसे दूरवर्ती स्थानों से छात्र यहाँ पहुँच आते लगे थे। तक्षशिला पर विदेशी आक्रमण होते रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि उससे उसे काफी क्षति पहुँची। इस प्रदेश पर छठी शती ई० पू० में ईरानियों, दूसरी शती ई० पू० में बौद्धों के भूतानी राजाओं, पहली शती ई० पू० में पाकों, पहली शती ई० में कुषाणों तथा पाँचवीं शती ई० के अन्त में हूणों के प्रबल आक्रमण हुए। फाहिमान की पाँचवीं शती के प्रारम्भ में शिक्षा की दृष्टि से यह स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। उस समय तक यह विद्यापीठ समाप्त हो चुका था।

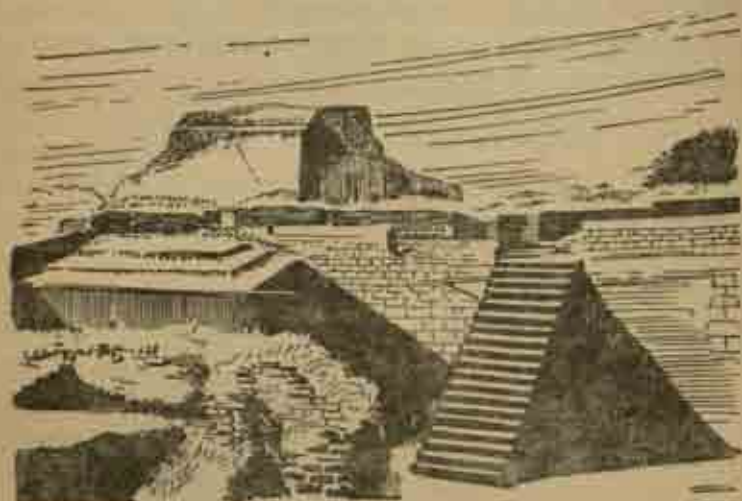
तक्षशिला प्राधुनिक काल के बड़े कालिजों या विश्वविद्यालयों की भाँति संघटित विद्यापीठ नहीं था। न तो उसके शिक्षक किसी केन्द्रीय नियन्त्रण में थे, न वहाँ का पाठ्य-क्रम और शिक्षा-काल निश्चित था। वहाँ कोई परीक्षाएँ भी नहीं होती थी और न ही कोई उपाधियाँ दी जाती थी। यह केवल एक विक्रमात शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ अनेक जगत्-प्रसिद्ध (विश्वप्रसिद्ध) विद्वान् रहते थे। ये किसी कालिज से सम्बद्ध या उसके वेतनभोगी शिक्षक नहीं, किन्तु स्वतन्त्र थे। इनकी कीर्ति से आकर्षित होकर भारत के सभी प्रांतों से विद्यार्थी आते थे, इनके घर में रहते हुए इनके घरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे। यद्यपि जातकों में किसी मुस के पास ५०० से कम छात्रों का वर्णन नहीं, किन्तु वास्तव में ये प्रायः १५-२० से अधिक नहीं होते थे। इनमें पौन देने वाले छात्र मुस के घर में पुषों के समान रहते थे और निर्धन छात्र

दिन-भर गुरु का काम करके रात को उससे पढ़ते थे। प्रत्येक गुरु का अपना स्वतन्त्र कालिज था, उसका कोई भी उसकी इच्छा पर प्रबलम्बित होता था और विद्यार्थी को विषय पढ़ने के लिए उत्सुक होते थे, वही उन्हें पढ़ाया जाता था। शिक्षा-काल की कोई व्यवधि निर्दिष्ट नहीं थी। भगवान् बुद्ध के चिकित्सक जीषक को वहाँ पढ़ते हुए जब सात वर्ष बीत गए तो गुरु से अनुमति प्राप्त करके वह राजपूत लौट आया। यद्यपि उस समय गुरु ने उसकी द्रव्य-गुण की क्रियात्मक परीक्षा ली थी, तथापि वह आजकल की परीक्षाओं से भिन्न थी।

तत्कालीन साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं का शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ 'तीनों' वेदों तथा षठारह शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। शिल्पों में वैद्यक और अनुविद्या प्रधान थे। वैद्यक की शिक्षा बहुत उच्चकोटि की थी, जोषक ने वहाँ से शिक्षा-ग्रहण करने के बाद पैट और सिर के जो आपरेशन किये हैं, उन्हें आजकल के बहुत कम शल्य-चिकित्सक कर सकते हैं। अनुविद्या के एक 'अगस्तसिद्ध' आचार्य से देश के विभिन्न भागों से आये हुए १०३ राजपूत शिक्षा ग्रहण करते थे। तत्कालीन में प्रायः विद्यार्थी १५-२५ वर्ष की आयु में जाते थे और छः से साठ वर्ष तक वहाँ अध्ययन करने पर लौट आते थे। बनारस के राजा अपने राजपूतों को शिक्षा के लिए तत्कालीन में ही भेजते थे। कौशलराज प्रमेनजित् ने भी वहाँ शिक्षा पाई थी। पाणिनि षट्क के पास शालाशुर गाँव के रहते जाते थे। सम्भवतः वे वहाँ के विद्यार्थी और बाद में गुरु ग्ने होंगे। कुछ जनश्रुतियों के अनुसार व्याकरण यहीं के आचार्य थे।

नालन्दा—प्राचीन काल का दूसरा बड़ा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा पटना के दक्षिण पश्चिम में ४० मील की दूरी पर आधुनिक बङ्गाँव था। इसका उत्कर्ष पाँचवीं शती के मध्य में गुप्त राजाओं के उद्भूत दानों से हुआ। कट्टर हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इसके संरक्षण और विकास में बड़ा भाग लिया। शकाचित्त (जो सम्भवतः कुमार गुप्त प्रथम ४१४-४५४ ई०) ने एक विहार की स्थापना करके नालन्दा की नींव रखी। इस विहार का बौद्ध मन्दिर कई शतियों तक नालन्दा का केन्द्रीय देवालय रहा। इसके बाद तथामल गुप्त, सरसिह क्षालाशिल (४६०-४७२ ई०), बुधगुप्त (४७५-५०० ई०) ने एक तथा बज्र नामक राजा ने इसमें दो सप्ते विहार बसवाये। छठी शती ई० में इसे सम्भवतः बौद्ध-धर्म के कट्टर द्वेषी हुए राजा मिहिरकुल और बंगाल के शशांक के हाथों काफी हानि उठानी पड़ी। किन्तु सातवीं शती के पूर्वार्ध में बुधान्ध्र्य के जाने तक वह पूर्ण हो गई तथा इस बीनी माती के जीवनी-लेखक के वर्णनानुसार नालन्दा की सबसे उपरली मंजिल बादलों से भी ऊंची थी और वहाँ पर बैठने वाला दशक यह देश सकता था कि बादल किस प्रकार अपने आकार बदलते हैं। इसमें भले ही अशुक्ति हो, किन्तु नालन्दा की 'अभिलिङ्गविहारपालि' का वर्णन यक्षोवर्मा के अभिलेख में भी है।

मुघलन ज्वांग के जीवनी-लेखक ने, जो कभी भारत नहीं आया था, सातवीं शती के दूसरे चरण में यहाँ के भिक्षुओं की संख्या दस हजार लिखी है। इस्लाम यहाँ ६७५ ई० में आया। उसके वर्णनानुसार यहाँ तीन हजार से अधिक भिक्षु नहीं रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शती में यहाँ की सातारण छात्र-संख्या पाँच हजार



नालन्दा के प्राचीन-अवशेष

थी। नालन्दा की गल्लरों में भिक्षुओं के कमरे तथा बड़ी-बड़ी भट्टियाँ मिली हैं। कुछ कमरे एक ही भिक्षु के लिए होते थे कुछ दो के लिए। सबमें सोने के लिए एक या दो प्रस्तर-शय्याएँ दीपक के लिए तथा पुस्तकों के लिए तक हैं।

सातवीं शती ई० के पूर्वार्ध में नालन्दा में धर्मपाल, चन्द्रपाल, पुणर्मति, स्थिरमति, प्रभाकर भिन्न, जिनमिन्न, जितचन्द्र, दीनभद्र नामक प्रतिष्ठित बौद्ध आचार्य थे। एक हजार विद्वान् ऐसे थे जो समूचे बौद्ध वाङ्मय की व्याख्या कर सकते थे। विश्वविद्यालय में पाठ करने और तीन सौ छोटे कमरों के और प्रतिदिन एक हजार व्याख्यान होते थे। उन दिनों नालन्दा की इतनी स्याति थी कि कोरिया, चीन, तिब्बत, तथा मध्य एशिया से सैकड़ों छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। नालन्दा में प्रवेश पावे के लिए कड़ी परीक्षा होती थी। मुघलन ज्वांग के वर्णनानुसार दसमें बौद्ध या तीस प्रतिशत विद्यार्थी ही पास होते थे। नालन्दा की एक बड़ी विशेषता 'धर्मसूत्र' नामक विद्यालय पुस्तकालय था। चीनी यात्री पुस्तकों की प्रतिनिधि करने के लिए भी यहाँ आते थे। इस्लाम पाँच लाख इलाकों के बार सौ संस्कृत-ग्रन्थों की नकल यहाँ से ले गया था। नालन्दा के महाप्राज्ञ बौद्ध धर्म का केन्द्र होने से यहाँ मुख्य रूप से बौद्ध धर्म और दर्शन पढ़ाया जाता था। किन्तु इसके साथ ही वेद, श्रेष्ठ विद्या (तर्क-शास्त्र), शब्द, आदि विद्या (व्याकरण),

विक्रिया तथा अगर्बवेद (जादू-सम्बन्धी ग्रन्थ) और सांख्य दर्शन का भी अध्यापन होता था।

छाठवीं शती में नालन्दा भारत का सबसे बड़ा शिक्षा-केन्द्र था, इसे उसे समय तक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसके अनेक आचार्यों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ा भाग लिया। नववीं शती में जावा, सुमात्रा के राजा बाल-बुद्धदेव जे नालन्दा में एक विहार बनवाया। इसवीं, ग्यारहवीं तथा बारहवीं शतियों में इसमें बौद्ध धर्म का साहित्यिक कार्य होता रहा, किन्तु ग्यारहवीं शती में पालवंशी राजाओं द्वारा विक्रमशिला को प्रोत्साहन देने से इसमें दीर्घता घटे लगी। यह उन दिनों तांत्रिक बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। बारहवीं शती के अन्त में मुक्तों के आक्रमण ने इसका अन्त हो गया।

वत्सभी—वत्सभी (काठिमावाड़ में आधुनिक बला) यह सातवीं शती में नालन्दा के समान ख्याति प्राप्त विद्यापीठ था। इस्लाम के कर्जनानुसार विज्ञान उन्न-शिक्षा पूरी करने के लिए यहाँ अथवा नालन्दा दो-तीन वर्ष रहा करते थे। वत्सभी में सारे भारतवर्ष के विज्ञान विद्वान्त्रों पर विचार करने के लिए एकत्र होते थे। जिस पण्डित का विचार वत्सभी के विज्ञान सही मानते, वह अपनी बुद्धिमत्ता के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध हो जाता था। वत्सभी को भी राजाओं द्वारा सहायता मिलती थी। वत्सभी की उन दिनों इतनी ख्याति थी कि उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत भी अपनी सन्मान को विद्या के लिए यहाँ भेजा करते थे।

विक्रमशिला—विक्रमशिला (भागलपुर से पूर्व में २४ मील दूर पथरपाट) की स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने छाठवीं शती में की थी और बार शतियों तक पूर्वी भारत का यह शिक्षा-केन्द्र प्रकाण्ड विज्ञान पैदा करता रहा। तिब्बत के साथ इसका विशेष सम्बन्ध था। तिब्बती विद्याविधियों के लिए यहाँ एक विशेष धर्मशास्त्र भी बनाई हुई थी। यहाँ के अनेक आचार्य तिब्बत जाते तथा संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद करते रहे। इनमें दीपकर बोद्धान सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, वे ग्यारहवीं शती में तिब्बत गये, उन्होंने दो सौ पुस्तकें लिखी तथा अनुवाद की। बारहवीं शती में इसमें तीन सौ शिक्षु और एक विशाल पुस्तकालय था। इस विद्यालय में प्रवेशार्थी विद्याविधियों की परीक्षा के लिए छात्रात पण्डित थे। यहाँ अक्षरमय, भाष्य, दर्शन तथा ज्ञान का विशेष रूप से अध्यापन होता था।

विक्रमशिला अथ मय विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और व्यवस्थित था। यहाँ शिक्षा समाप्त होने पर विद्याविधियों को बंगाल के राजाओं द्वारा उपाधियों वितरित की जाती थी। जेठारि और रत्नबख को महोपाध और कनक नामक राजाओं ने पदविर्ता प्रदान की थी। विदर्शनशास्त्र के धुराने प्रसिद्ध ज्ञानों की स्मृति कालिका-ज्ञान की दीवारों पर उनके चित्र-चित्र बनाकर सुरक्षित रखी जाती

वी। १२०३ ई० में मुहम्मद बिन बक्सियार खिलजी की सेना ने इसे दुर्ग समझा और इसका पूर्ण विध्वंस किया।

बनारस—बनारस इस समय संस्कृत शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र है, किन्तु २,५०० वर्ष पहले यह स्थिति नहीं थी। सातवीं शती ई० पू० में हम बनारस के राजाओं के पुत्रों को अध्ययन के लिए तक्षशिला जाता हुआ पाते हैं। भगवान् बुद्ध के समय इसका कुछ धार्मिक महत्त्व प्रबल था। उन्होंने सारनाथ में ही धर्मचक्र प्रवर्तन किया। अशोक ने यहाँ अनेक विहार बनवाये। हिन्दू धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण संस्कृत पण्डितों का यह बड़ा केन्द्र था। ग्यारहवीं शती में अलबेखानी ने इसे तथा काशीर को शिक्षा का बड़ा केन्द्र लिखा है। यहाँ ससे पण्डित अपने पुस्तक अध्यापन केन्द्र चलाते रहे। ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यहाँ कभी नासन्द्य या विक्रमादित्य-जैसे सुसंगठित विद्यालय स्थापित हुए हों।

शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य—भारतीय शिक्षा-पद्धति के चार प्रधान उद्देश्य थे और यह इनमें पूरी तरह सफल हुई।

पहला उद्देश्य चरित्र का निर्माण था, आचार्यों का धर्म ही आचार का निर्माता है। ब्रह्मचर्यावस्था में संयम, सादगी और सच्चरित्रता पर बहुत बल दिया जाता था। भारतीय शिक्षा-पद्धति की चरित्र-निर्माण के उदात्त ध्येय में कितनी सफलता मिली, यह मेगस्थनीज, युधान ज्ञान, इदरीसी, मार्कोपोलो प्रभृति विदेशी यात्रियों के विवरण से भली-भांति स्पष्ट है। इन्होंने भारतीयों के चरित्र की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

दूसरा उद्देश्य व्यक्तिगत का विकास था। गुरु के घर में रहते हुए विद्यार्थी को अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों के विकास का पूरा अवसर मिलता था। गुरु उसमें ध्यात्म-सम्मान, ध्यात्म-विरुद्ध और ध्यात्मसंयम की भावना पैदा करता था। यह धर्म की जाति की संस्कृति और सम्मता का संरक्षक था। जाति का उत्थान और उन्नति उसके कामों पर अवलम्बित है, ऐसा उसे पूरा ज्ञान कराया जाता था। इसका महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होने के कारण ही स्नातक की राजा से ऊँचा स्थान दिया गया था। इसने उसमें उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य की भावना का जन्म होता था और यह उसके स्वकित्तव के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होता था।

तीसरा उद्देश्य सामरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का बोध था। स्नातक होने समय उसे यह बताया जाता था कि तुमको स्वार्थ-परायण जीवन नहीं बिताना चाहिए। समाज का तुम पर ऋण है, समाजोत्पादन और उनकी उचित शिक्षा द्वारा वह ऋण तुम्हें उतारना है। अपने पते का विनियोग भोग-विनाश के लिए नहीं, किन्तु लोक-हित के लिए करना है। विभिन्न पेशेवालों को अपने व्यवसाय के उच्चतम उदात्त धाड़ों सर्वत्र सामने रखने पड़ते थे। उदाहरणार्थ वैद्यों के लिए यह नियम

बनाया गया था कि अपने प्राण चाहें संकट में हों, किन्तु बीमारों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

चौथा उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का संरक्षण था । इसमें शिक्षा-पद्धति पूर्ण रूप से सफल हुई । विशाल वैदिक बाङ्गमय सैकड़ों वर्षों तक गुरु-शिष्य-परम्परा ने ही सुरक्षित रहा है । इसे सुरक्षित रखते हुए, प्रत्येक पीढ़ी ने उसे समृद्ध बनाने का यत्न किया ।

उपसंहार—प्राचीन शिक्षा-पद्धति ने नाना जातियों वाले इस देश में एक विलक्षण सांस्कृतिक एकता उत्पन्न की । इसी भारतीय मस्तिष्क का यह उत्कृष्टतम विकास हुआ, जिससे गुप्त युग तक हम दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों और ज्ञान के सभी क्षेत्रों में विश्व का नेतृत्व करते रहे । पुरानी शिक्षा-पद्धति की कुछ विशेषताएँ अद्वितीय हैं । उपनयन द्वारा समूचे समाज को साक्षर बनाना स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था, चरित्र-निर्माण तथा सागरिक गुणों का विकास किसी दूसरे देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में नहीं दिखाई देता । इसके कुछ मौलिक सिद्धान्त गुरु-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध, गुरुकुल जीवन का आदर्श, माया रहस्य-महान तथा उच्च विचार, साहित्यिक एवं उपयोगी कलाओं की शिक्षा सर्वमान युग में भी सर्वहोम तथा अनुकरणीय हैं ।

आधुनिक भारत

आधुनिक युग का महत्त्व—प्रठारहवीं शती के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई, धीरे-धीरे सारा देश बंगेजों के आधीन हो गया। १६० वर्ष (१७५७-१९४७ ई०) तक भारत परतन्त्र रहा। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का असाधारण महत्त्व है। ब्रिटिश शासन में ही भारत ने कई शक्तियों की कुम्भकर्णी मित्रा का परिचय किया, इसी समय धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक, आर्थिक क्षेत्रों में असाधारण जागरण और उन्नति हुई। धार्मिक क्षेत्र में राजा राममोहनराय, श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री केशवचन्द्र सेन महर्षि दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति महापुरुषों ने भारत का मस्तक ऊँचा किया। राजनैतिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में बंगेजों से संघर्ष करके भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। सामाजिक क्षेत्र में सती-दाह, कन्या-वध, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के हटाने, विधवा-विवाह, हरिजन-उत्थान, स्त्री-शिक्षा आदि उपयोगी सुधारों के अन्तर्गत हमारे समाज का काया-पलट हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में आधुनिक भाषाओं के विकास तथा श्री रवीन्द्रनाथ-टैगोर, श्री धरविन्द-जोशी आदि व्यक्तियों के उत्पन्न करने का श्रेय सर्वमान्य भारत को ही है। इसी काल में श्री जगदीशचन्द्र बोस तथा रमण-जैसे वैज्ञानिकों, टाटा-जैसे उद्योगपतियों, श्री धरविन्द-जोशी आदि व्यक्तियों का आधुनिक हुमा है। सारे भारतवर्ष में एक नई भावना और नई चेतना का उदय हुआ और इससे भारत ने मध्य युग से आधुनिक युग में प्रवेश किया है।

यों तो प्रत्येक पीढ़ी अपने को आधुनिक कहती है, किन्तु इतिहास में कई विशेषताएँ उत्पन्न होने पर ही आधुनिक युग का श्रीगणेश समझा जाता है। धार्मिक परम्परा वर्तमान काल को कलियुग बताती है किन्तु ऐतिहासिक इसे कल-युग कहते हैं। आधुनिकता का प्रधान चिह्न कलियुग होना अर्थात् मशीनों की सहायता से भारी परिणाम में उत्पादन तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का अधिकारिक उपयोग है। इसकी अन्य विशेषताएँ राष्ट्रीयता की भावना, प्रजातन्त्र प्रणाली तथा धार्मिक विचार-स्वातन्त्र्य है। ये किसी भी देश में सामूल परिवर्तन कर देती हैं। पिछले दो वर्षों में इन्हीं के कारण भारत में नवयुग का प्रारम्भ हुआ है। यही सांस्कृतिक दृष्टि से हुए

महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख किया जायगा। ये परिवर्तन धर्म, समाज, साहित्य और कला के क्षेत्र में हुए हैं और इनसे अभूतपूर्व भारतीय जागरण हुआ है।

धार्मिक आन्दोलन

आधुनिक भारत में नवयुग की ज्योति सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट होती है। इस समय भारत में जो जागृति दिखाई देती है, उसका सूत्रपात इन्हीं से हुआ है। इनसे भारत को सर्वप्रथम अपनी दौर्भाग्यपूर्ण वर्तमान स्थिति का बोध, स्वयंमें अतीत का ज्ञान तथा उत्तमवर्त भविष्य में विश्वास उत्पन्न हुआ। इन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से शास्त्रों के अध्ययन पर जल दिया, भ्रम-विष्वासों और रुढ़िवाद के स्वान पर तर्क और बुद्धि को प्रधानता दी। इन आन्दोलनों के प्रेरक कारण ब्रिटिश शासन से उत्पन्न नवीन परिस्थितियाँ थीं। ईसाई-प्रचारक हिन्दू और मुस्लिम धर्मों पर प्रबल आघात कर रहे थे, धर्मवीर शिक्षा के प्रसार से पश्चिम के उदार विचार विभिन्न जनता तक पहुँच रहे थे और खमोर की भाँति धीरे-धीरे उन्होंने समूचे भारत को अपने प्रभाव से घोल-घोल दिया। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में भारत के सभी धर्म अपने धर्म-प्रवर्तकों की असली शिक्षाएँ भूलकर नाना प्रकार के धर्म-विश्वासों, रुढ़ियों, आडम्बरों, शुष्क कर्मकाण्ड तथा भ्रान्त विचारों के मोह-जाल में फँस गए थे। पश्चिमी ज्ञान के आलोक से आँखें खुलने पर तथा पराधीनता की पीड़ा अनुभव करने पर समझदार भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी, उन्हें उसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसके परिणाम उन्नीसवीं शती के धार्मिक आन्दोलन थे।

ये आन्दोलन दो प्रकार के थे। कुछ उच्च सुधारवादी थे, ये धर्म और समाज में सच्चे आन्तरिक सुधार चाहते थे, इनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत पश्चिमी शिक्षा और विचार-धारा थी। इनमें ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज मुख्य थे। इनके नेताओं ने पश्चिमी विचारों से आकृष्ट होकर जब आधुनिक मौलिक परिवर्तन करने चाहें तो इसकी प्रतिध्वनि कट्टर सुधार-आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। विद्योत्पत्ति और राम-कृष्ण मिशन ऐसे ही प्रयास थे। दोनों प्रतिवादिनों के बीच में अनेक तरह के विचारों वाले सुधारक तथा प्रार्थना-समाज के नेता थे, जो वैदिक परम्परा को ध्वस्त करने लगे हुए परधर्मी युग में उत्पन्न हुई कुरीतियों का संशोधन करना चाहते थे।

ब्रह्मसमाज—ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२—१८३३ ई०) थे। बचपन से ही वे मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, उनका विश्वास था कि सब धर्म एक ही ईश्वर को मानते हैं। १८१३ ई० के बाद ईसाई-मिशनरी हिन्दू धर्म पर बहुत प्रबल आक्रमण करने लगे। राममोहन राय पहले तो इनका उत्तर देते रहे और बाद में उन्होंने कुछ एकेश्वरवाद की उपासना के लिए ब्रह्म-समाज की स्थापना की। इसकी पहली बैठक कलकत्ता में २० अगस्त, १८२८ को हुई, इसके साप्ताहिक अधिवेशनों में वेदों का पाठ, उपनिषदों के जंगल अनुवाद का पाठन और जंगल में उपदेश

होते थे। राममोहन राय दो वर्ष बाद इंग्लैंड चले गए और १८३३ ई० में उनकी मृत्यु के बाद इसके प्रधान नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर बने। उन्होंने ब्रह्म-समाज के संगठन को निश्चित विधान तथा नियम बनाकर सुदृढ़ किया। इन्होंने सम्पूर्ण वेदों को प्रामाणिक मानने का विचार छोड़ दिया। १८५७ ई० में ब्रह्मसमाज में अंग्रेजी शिक्षा-सम्पन्न, अत्यधिक भावुक तथा बाग्मी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का धाममल हुआ। इसने ब्रह्म-समाज की नई भावना और स्फूर्ति से प्रोत्-प्रोत् किया। इसके विचार बहुत उदार थे और १८६० में इसने उदारता के नाम पर पवित्र यज्ञोपवीत को भी तिलाज्जलि दे दी। उन दिनों श्री केशवचन्द्र सेन पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक पड़ रहा था। १८६६ ई० में उनके एक व्याख्यान से श्रोताओं ने यह समझा कि श्री सेन अब ईसाई होने वाले हैं। ११ नवम्बर, १८६६ को उन्होंने अपना पृथक् समाज स्थापित किया। इसके बाद ब्रह्मसमाज में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गए और उसका प्रभाव क्षीण होने लगा।

ब्रह्मसमाज ईसाइयत के विरोध में हिन्दू-समाज की रक्षा के लिए पहला बाध था, किन्तु वह अन्त में ईसाइयत के जबरदस्त प्रवाह का मुकाबला न करके उसी के साथ बह गया। मूर्ति-पूजा के विरोध में प्रतिरिक्त ब्रह्मसमाज ने जाति-भेद आदि की कुरीतियों का निवारण की ओर भी बहुत ध्यान दिया। श्री केशवचन्द्र सेन के प्रयत्न से १८७२ ई० में 'विशेष विवाह कानून' पास हुआ, जिससे ब्राह्मों के अन्त-जातीय विवाह वैध हो गए।

ब्रह्मसमाज हिन्दू-समाज में उच्च सुधार करना चाहता था, उस पर पाश्चात्य प्रभाव, ईसाइयत और अंग्रेजी शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसका क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था। पश्चिमी भारत में १८६४ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन की वाषा तथा भाषणों का मिश्रित जनता पर गहरा असर हुआ। १८६७ में बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई। यह ब्रह्मसमाज का ही दूसरा रूप था। इसके नेता डॉ० बालभाराम पाण्डुरंग रामकृष्ण गोपाल भट्टाकर, महादेव गोविन्द रानाडे थे। वे जाति-प्रथा के उच्छेद, विधवा-पुनर्विवाह, स्त्री-शिक्षा का प्रसार तथा बल-विवाह-निषेध के सुधारों पर बल देते थे। निश्चित नियमों के आधार पर इस समाज का संगठन न होने से, यह आन्दोलन सक्तिमान्नी नहीं बन सका।

ये सुधार-आन्दोलन केवल हिन्दू-धर्म तक ही सीमित न थे। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा जिस पाश्चात्य प्रभाव और ईसाइयत के प्रसार ने हिन्दुओं में ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज पैदा किये, उसी से अरबुद्धी एवं सुस्तिम धर्मों में सुधार की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। १८५१ ई० में शिक्षित पारसियों ने पारसी धर्म की रक्षा तथा कुरीतियों के संशोधन के लिए 'रहनुमाय मन्दावस्तान' नामक समाज की स्थापना की। इसका उद्देश्य पारसी समाज का पुनरुज्जीवन तथा पारसी धर्म की प्रावर्तन पवित्रता की ओर से जाना था। इसके नेता शहा माई मोरोजी तथा जे० बी० कामा आदि महानुभाव

वे। इस्लाम में तम धार्मिक सुधारों का श्रीगणेश करने वाले सर सय्यद अहमद थे। कट्टर एवं रुढ़िवास्त इस्लाम को उन्होंने युक्ति-संगत बनाने का प्रयत्न किया, वे तर्कों को ही परम प्रमाण मानते थे। हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं को समझानुसूल बनाने का दूसरा प्रयत्न भारत के सर्व-प्रथम त्रिची कीन्सलर श्री अमोर बलो ने किया।

उपयुक्त सभी आन्दोलन उच्च सुधार तथा आधुनिक परिवर्तन के पक्षपाती थे। १८२८ से १८७७ ई० तक इनकी प्रधानता रही। किन्तु इसके बाद उच्च सुधार आन्दोलनों की प्रतिक्रिया कट्टर आन्दोलनों के रूप में शुरू हुई। इन्होंने न केवल ईसाइयों के खतरे का अनुभव किया, किन्तु हिन्दू-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा और विरस्कार को भली भाँति समझा। पचास वर्ष पहले जहाँ शिक्षित हिन्दुसमान हिन्दू धर्म के विविध सिद्धान्तों और अनुष्ठानों की मिली उड़ाता था, अब वह उसका वैज्ञानिक समर्थन करने लगा। प्रत्येक हिन्दूप्रथा और रुढ़ि का वाहे वह सामाजिक दृष्टि से हानिकर ही क्यों न हो, आत्मकारिक ढंग से इस प्रकार वर्णन किया जाने लगा कि वह स्पर्हाणीय और आदर्श समझी जाय। इस प्रकार के आन्दोलनों में श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रचार और निमोषण मुख्य थे।

रामकृष्ण-मिशन-आन्दोलन—श्री रामकृष्ण परमहंस उच्चकोटि के सन्त और साधक थे। १८५६-१८७१ ई० तक उन्होंने कठोर साधना की, अल्प धर्मों के प्रति उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार थी। वे मौलिक रूप से शिक्षों को उपदेश देते थे। उनके शिक्ष्यों में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। युव की मृत्यु के बाद इन्होंने संन्यास ग्रहण किया, छः वर्ष तक सिद्धत आदि में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए पर्यटन करते रहे। १८६३ ई० के मितम्बर मास में शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी जिससे अमरीका को भारत के धार्मिक महत्त्व का पहली बार पुरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इंग्लैंड में हिन्दू-धर्म का प्रचार करने के बाद वे वापस भारत लौटे। सारे देश में उनका प्रभुत्वपूर्ण स्वागत हुआ। उन्होंने बेनूर और मायावती (अजमेरा) में दो केन्द्र स्थापित किये। देश में दुर्मिथ पढ़ने पर उन्होंने सहायता-कार्य का संगठन किया, इसी संगठन ने बाद में श्री रामकृष्ण-सेवाधर्म का रूप धारण किया। ४ जुलाई, १९०२ को स्वामी विवेकानन्द दिवंगत हुए।

रामकृष्ण-मिशन-आन्दोलन की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। यह सुधारों की दृष्टि से ब्रह्म-समाज की भाँति उच्च नहीं है, वेदान्त के सिद्धान्तों की आदर्श मानता है और आध्यात्मिकता का विकास ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इस समय के अन्य सुधारक मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, किन्तु रामकृष्ण परमहंस इसे आध्यात्मिक भावना जाग्रत करने के लिए उपयोगी मानते थे। जिन प्रथाओं और परम्पराओं को पड़तालमाजी या कट्टर हिन्दू-धर्म के अन्य आलोचक समाज के लिए घातक समझते थे, मिशन उन्हें उस रूप में नहीं देखता था। स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के वर्तमान

आडम्बर-प्रधान स्वल्प की कठोर भर्त्सना करते थे, किन्तु फिर भी सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं समझते थे। उनका कहना था "पुराने सभी विचार अन्ध-विश्वास हो सकते हैं, किन्तु अन्ध-विश्वासों के विशाल समुद्र में सरल की मुखर्ण कणिकाएँ हैं। क्या हमने ऐसा साधन ढूँढ निकाला है जिससे मुखर्णों को सुरक्षित रखते हुए उनकी अमूर्ति को दूर कर सकें?" रामकृष्ण-मिशन की दूसरी विशेषता यह है कि यह सब धर्मों की सत्यता में विश्वास रखता है और इसकी धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार है। मिशन का समाज-सेवा का कार्य अत्यन्त सराहनीय है, दुग्ध, बाढ़ आदि विपत्तियों में देश-वासियों की सेवा के साथ, इसके सेवाश्रम रोगियों की चिकित्सा और लोक-शिक्षण में भी लगे हुए हैं। स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से पाश्चात्य देशों में भारत का मान बढ़ा, उन्होंने सर्वप्रथम वर्तमान युग में पश्चिम के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सम्पत्ता के गौरव को प्रतिष्ठापित किया। इसीलिए इस देश में वे बड़े लोकप्रिय हुए। उनका कहना था कि पश्चिम का उद्धार भारतीय अध्यात्मवाद से हो सकता है और भारत की उन्नति पश्चिमी देशों की उपयोगी विशेषताओं को धनाने से हो सकती है। विदेशों में हिन्दू धर्म तथा वेदान्त के प्रचार तथा भारत में लोक-सेवा के कार्य को रामकृष्ण-मिशन ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है।

विधोसकी—विधोसकी की स्थापना मैडम अर्बेदेस्की तथा कर्नेल अन्काट ने १८७५ ई० में अमरीका में की थी। वे १८७६ में भारत आये। १८८६ ई० में मद्रास के निकट अवधार में उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। भारत में इस आन्दोलन को सफल बनाने का प्रधान श्रेय श्रीमती एली बीसेष्ट को है।

विधोसकी आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन कड़ियों, विश्वासों और कर्म-काण्ड का बड़ा प्रचलन पैदा किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय धारणाओं और धर्मग्रन्थों को पुनरुज्जीवित करना था। श्रीमती बीसेष्ट के प्रयत्न से इस सङ्घ की पुति के लिए बंगाल में 'किन्द्रीय हिन्दू स्कूल' की स्थापना हुई, बाद में उसने कासेम तथा धत में हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण किया। प्राचीन संस्कृति पर बल देने के कारण, यह आन्दोलन हिन्दू-समाज में बड़ा लोकप्रिय हुआ, किन्तु पुरानी कड़ियों और विश्वासों के समर्थन तथा रहस्यमय कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद पर बल देने से विहित समुदाय में इसके प्रति आकर्षण घट गया। इसका अधिक प्रभाव दक्षिण भारत के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों पर ही पड़ा।

कट्टर सुधार आन्दोलनों का एक सुपरिणाम यह हुआ कि लम्बायु एवं निष्कल हिन्दू धर्म ने धार्मिकशास्त्रिक रूप धारण किया। पाश्चात्य शिक्षा और सम्पत्ता की पहली शकाधीन में विहित वर्ग हिन्दू-धर्म में विश्वास खो चुका था, उसमें नास्तिकता और संदेह की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गई थीं, उस समय अनेक व्यक्तियों को धर्म के को हिन्दू कहलाये में लज्जा अनुभव होती थी। १८७० से १८८० ई० तक यह मनोवृत्ति समाप्त हुई। बंगाल में पश्चिमी शैक्षणिक तर्कों पुद्गामणि और बंकिमचन्द्र इस आन्दोलन

के नेता थे। इनका प्रधान कार्य हिन्दुओं की मानसिक दासता को दूर करना था। उन्होंने वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर हिन्दू कर्मकाण्ड तथा ऋद्धियों को ग्रास्य एवं आवश्यक ठहराया। श्राधपर के मतानुसार केवल भारत ही ऐसा देश था जहाँ सन्ध्या का पूरा विकास हो सकता था, बाकी सब धर्म और सन्ध्याएँ हिन्दू-धर्म को तुलना में अधूरी, सर्वज्ञानिक और हानिप्रद थे। शिक्षाधारण इसलिए उचित एवं विज्ञान-सम्मत था कि इससे शरीर में किञ्चित् भारावों का बक ठीक तरह चलता रहता है। श्राधपर ने उसके साधियों की सुक्तिर्षी में भले ही पूरी सत्यता न हो, किन्तु मध्यम वर्ग के हजारों बलकों, व्यापारियों तथा शिक्षकों पर उनका सहारा बसर पड़ा, इनमें उनमें अपने धर्म के प्रति आत्मविश्वास और आत्मभिमान जाग्रत हुआ। शिक्षित वर्ग में यही कार्य श्री बंकिम ने किया, उन्होंने पाठरियों द्वारा कृष्ण-चरित्र पर किये गए आलोचों का सुन्दर समाधान किया।

धार्मिकसमाज—धर्म सुधार तथा समाजसंशोधन के पिछली शती के धार्मिकों में सम्भवतः सर्वोच्च स्थान धार्मिकसमाज का है। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) थे। २२ वर्ष की अवस्था में सत्य की खोज में उन्होंने भगवान् बुद्ध की भाँति महाभिनिकमण (गृह त्याग) किया। १४ वर्ष तक सन्नेयस की डूँडते रहे, उन्होंने दुर्गम तीर्थों में योग-साधना करते हुए ज्ञान-संचय किया। १८६० ई० में वे मथुरा में बड़ी स्वामी विरजानन्द के शिष्य बने। ३ वर्ष तक उनके घरों में बैठकर विद्याभ्यास करते रहे, उनसे उन्होंने प्रत्येक बस्तु के सत्तासत्य निर्णय की धार्मिक-दृष्टि प्राप्त की। १८६६ में हरिद्वार के कुम्भ में हिन्दू-धर्म की लोक-नीय दशा देखकर उन्होंने इसके महान् पालन के विरुद्ध पालन-संशोधनी पत्रिका गाढ़कर अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया। उनका ध्येय जीवन हमें सहसा संकराचार्य की स्मृति करा देता है। ऋषि दयानन्द का प्रधान मन्तव्य था कि मूर्ति-पूजा केवल-विहित नहीं है। सर्वत्र वे पण्डितों को उसे केवलानुकूल सिद्ध करने की चुनौती देते थे। काशी के तीन सौ पण्डित स्वामी जी को वेदों में से मूर्ति-पूजा सिद्ध करने वाला एक भी प्रमाण ढूँढ़कर नहीं दे सके (१६ नवम्बर, १८६२ ई०)। इससे बढ़कर उनकी विजय क्या हो सकती थी। स्वामी जी ने अपना सध जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्ध-विश्वासों तथा कुरीतियों के खण्डन और वैदिक शिक्षाओं के प्रचार में लगाया। १८७४ ई० में उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखा। जीवन के अन्तिम चार वर्ष वे देशी राजबादों में रहे। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के बाद उन्होंने 'संस्कार-विधि' 'यजुर्वेद भाष्य' (सम्पूर्ण), 'ऋग्वेद-भाष्य' (अपूर्ण), 'ऋग्वेदविभाष्य भूमिका' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ३० अक्तूबर, १८८३ ई० को दीनमातिका के दिन, अचानक से उन्होंने अपनी जीवन-लीला पूर्ण की।

धार्मिकसमाज की विशेषताएँ—स्वामी दयानन्द ने अपने कार्य की स्थायी रूप देने के लिए पहले राजकोट और पुना तथा फिर बम्बई में १८७४ ई० में धार्मिकसमाज

की स्थापना की। यद्यपि उन्होंने उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में वैदिक धर्म का प्रचार किया, किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में ही पड़ा। कर्मठ पंजाबियों ने इस आन्दोलन को उन्नीसवीं शती का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन बना दिया। धार्मिक समाज के आन्दोलन की कई विशेषताएँ थीं। उसने मूल-युवा का वर्णन करते हुए हिन्दू धर्म के मूल स्रोत वेद को प्रधान आधार बनाया था। श्री धरानन्द के शब्दों में राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गए थे, दयानन्द ने उपनिषदों से भी थोड़े देखा और यह जान लिया कि हमारी संस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है। सामाजिक क्षेत्र में धार्मिक समाज ने जाति-भेद, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वधू-विवाह की भयंकर कुरीतियों के उन्मूलन का यत्न किया, स्त्रियों की दशा उत्तम की। इस दिशा में धार्मिक समाज का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य बुद्धि था। पिछली शती के किसी अन्य समाज-सुधारक को इस बात की कल्पना भी नहीं हुई थी कि यह विधर्मियों को हिन्दू-समाज में मिलाते की व्यवस्था करे। अहि दयानन्द और धार्मिक समाज को इस बात का श्रेय है कि इस व्यवस्था से उन्होंने हिन्दू जाति को सबल और किमानील बनाया। राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द का यह कार्य बहुत महत्व रखता है कि उन्होंने भारतीयों की मानसिक पराधीनता को दूर किया। शिक्षित वर्ग पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति ने उसका बंध-भक्त बनकर आत्म गौरव लो बैठा था। उसमें अपनी प्राचीन संस्कृति और राष्ट्रीय अभिमान का जोष हो चुका था। ऐसे समय में अहि दयानन्द ने यह प्रचार किया कि वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है, उसमें विज्ञान के सभी धातुनिक साधन तत्वा विद्याएँ बीज रूप से निहित हैं। हमें इस विषय में पश्चिम से लज्जित होने की आवश्यकता नहीं, वैदिक काल में धार्मिक जगद्गुरु थे। अहि दयानन्द के इस प्रचार ने संकल्प की भाँसा से मुगल भारतीयों की मोह-निद्रा को भंग किया। उनमें आत्म विश्वास और राष्ट्रीयता की भावना को पुनः किया। भारत में स्वराज्य का मार्ग उन्पादन करने वाले पहले भारतीय अहि दयानन्द थे। १८८३ ई० में कांग्रेस की स्थापना से दो वर्ष पहले प्रकाशित 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उन्होंने लिखा था कि अन्धे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य को तुलना नहीं कर सकता।

अहि दयानन्द की मृत्यु के बाद, धर्मवीर, लेखराम, मुन्दत विद्याधी, जाला राजपतराय, महात्मा हंसराज, तथा स्वामी अज्ञानन्द आदि ने धार्मिक समाज के आन्दोलन की सक्तिवाली बनाया। शिक्षा के प्रश्न पर धार्मिक समाज में कालेज तथा मुस्कूल सामक दो दल हो गए। कालेज-दल ने डी० ए० बी० कालेज स्थापित करके शिक्षा का प्रसार तथा वैदिक शिक्षाओं का प्रचार किया। मुस्कूल दल के नेता महात्मा मुन्शीराम (स्वामी अज्ञानन्द) ने १८७२ में बंगाल पर हरिद्वार के पास मुस्कूल कॉलेज की स्थापना की। यह देश का पहला विश्वविद्यालय था जहाँ मातृभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा सकलतापूर्वक दी गई। धार्मिक समाज ने शिक्षा, हिन्दी-प्रचार

सुद्धि, समाज-सुधार, सति-प्रथा, वैदिक धर्म के प्रसार, जाति-भेद के उन्मूलन, लोक सेवा तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्यों में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

समाज-सुधार

ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर भारतीय समाज की दशा घलघल सीखनीय थी। इसमें कन्या-व्रज, सती-प्रथा जैसी भीषण एवं बाल-विवाह जैसी घातक और असुस्पष्ट तथा जाति-भेद जैसी हानिप्रद कुरीतियाँ प्रचलित थीं जो देश के सभ्य-पतन का कारण बनी हुई थीं। उन्नीसवीं शती के सभी धार्मिक सम्प्रदायों—ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज और विशेषतः आर्यसमाज ने इनके निवारण के लिए बहुत प्रयत्न किया।

१८८५ ई० में जब देश की राजनैतिक दशा उन्नत करने के लिए कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय यह अनुभव किया गया कि सामाजिक दशा सुधारने के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १८८८ ई० से कांग्रेस की प्रत्येक बैठक के साथ प्रतिवर्ष 'राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद्' के अधिवेशन होने लगे। इस परिषद् के प्राण महादेव गोविन्द रामादे थे। इसमें हर साल स्त्री-शिक्षा के प्रसार, बाल-विवाह और पर्व के विरोध, विधवाओं और असुस्पष्टों की दवा सुधारने, पञ्चजातीय कान-बाल और विवाहों के प्रोत्साहन आदि विषयों पर प्रस्ताव पास होते थे। १८९० से समाज-सुधार का प्रबल समर्थक 'इण्डियन सोशल रिफार्मर' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। १८९७ ई० में बम्बई तथा मद्रास में समाज-सुधार के प्रांतीय संगठन बने। बीसवीं शती में समाज-सुधार का कार्य पहले आर्यसमाज और फिर कांग्रेस द्वारा हुआ। महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार और सादक-द्रव्य-निषेध पर बहुत बल दिया। १९२० के बाद से भारतीय नारियों में धर्मतत्त्व जागृति हुई है। यहाँ काल-क्रम से सामाजिक सुधारों का संश्लेष वर्तित होगा।

सती-प्रथा—पिछली शती में ब्रिटिश शासकों तथा भारतीय समाज-सुधारकों का ध्यान सबसे पहले सती-प्रथा और कन्या-व्रज की ओर गया। पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा उसकी बिछाव पर सती होने की प्रथा का विशेष प्रचार मध्य पुग में हुआ था। धारम्भ में पति के दिवंगत होने पर पत्नी के सामने शास्त्रम ईश्वर या पिता-रोहन के विकल्प थे। किन्तु बाद में धर्मशास्त्रों में सती होने की महिमा गाई जाने लगी। स्मृतिकारों ने यह कहा कि सती होने वाली स्त्री न केवल पति के साथ धर्मतत्त्व बाल तक स्वर्ग के सबों का उपभोग करती है किन्तु यह धरने इस कार्य से पति और पितृकुल की तीन पीढ़ियों का भी उद्धार करती है। इस प्रकार धार्मिक व्यवस्था होने पर सैकड़ों स्त्रियाँ सती होने लगीं, किन्तु कई बार विधवाओं की सम्पत्ति के लोभसे सगे सबंधी भी स्त्रियों को सती होने के लिए बाधित करने लगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बड़े दाक्षिण उपायों का अवलम्बन किया जाता था। स्त्रियों से सती होने की स्वीकृति पाने के लिए उन्हें अफीम आदि मादक पदार्थ खिलाकर बिलकुल बेमूय

कर दिया जाता था। स्त्रियों चिता की ज्वाला प्रज्वलित होने पर वहाँ से उठकर भागती तो उन्हें बाँतों से जबरदस्ती चिता में डेला जाता था, उनका कण बोलार दर्शकों के हृदय को विदीर्ण न कर सके, इसलिए धूल, डोल, लड़ताल आदि माघ गुरु जोर से बजाये जाते थे। स्त्रियाँ चिता से उठकर भाग न सकें, इसलिए प्रायः स्त्रियों को चिता के साथ रस्सियों से गुरु कसकर बाँध दिया जाता था।

मध्ययुग में मुहम्मद तुगलक तथा अकबर ने इस कुप्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह बन्द नहीं हुई। ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय से संश्लेष अफसर और ईसाई पादरी इसे बन्द करने पर बल दे रहे थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। धीरे-धीरे सरकारी अफसरों द्वारा इस दारुण प्रथा का निरन्तर विरोध किये जाने पर सरकार ने १८१२, १८१४ और १८१७ ई० में कुछ ऐसे नियम बनाये जिनसे छोटी धातु की, गर्मबत्ती तथा बच्चों वाली विधवाओं के सती होने पर रोक लगा दी गई, किसी स्त्री को इसके लिए बाधित करना और उसे शफीम आदि से बेसुध करना भी दण्डनीय अपराध बना दिया गया।

श्री राममोहन राय १८११ ई० में अपनी मामी के जबरदस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखकर इस प्रथा के धीरे विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक साधनों द्वारा इसके विरुद्ध प्रचार किया। १८१७ का सती प्रथा विरोधी नियम बनने पर जब बंगाल के कट्टरधर्मियों ने इसे रद्द करने के लिए सरकार को धावेदन-पत्र भेजा तो राममोहन राय ने इसका जबरदस्त प्रत्युत्तर देते हुए सती-प्रथा की हृदय विदारक घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखा कि सब शास्त्रों के अनुसार यह नारी-हत्या है और इसका अंत होगा चाहिये। अंत में दिसम्बर, १८२८ ई० को लार्ड बैटलर ने सरकारी कानून द्वारा इसे सर्वथा धीरे दण्डनीय अपराध बना दिया।

बालवध—बालवध की बुराई दो कर्णों में प्रकटित थी। बंगाल में यह बड़ी पुरानी प्रथा थी कि कोई अमीर पुरा होने पर बच्चे की बलि दी जाती थी। उदाहरणार्थ निःसन्तान स्त्रियाँ यह संकल्प करती थी कि यदि उनके एक से अधिक बच्चे हुए तो वे एक बच्चा भगा-माला की भेंट करेगी। १७६५ ई० में बंगाल में इस प्रथा को कानून द्वारा नर-हत्या का अपराध घोषित करके बन्द किया गया। दूसरी सोचनीय प्रथा बालिका-वध की थी। मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों, मैथों में कन्या का जन्म होते ही उसे शफीम आदि देकर या अन्य डंगों से मार दिया जाता था ताकि कन्या के विवाह के समय दहेज आदि के कारण जो अपमान सहना पड़ता है तथा परेशान होता पड़ता है, उससे मुक्ति हो जाए। १८०२ ई० के एक कानून के अनुसार इसे भी बन्द करने का यत्न किया गया।

विधवा-विवाह—सती-प्रथा बन्द हो जाने के बाद विधवाओं की समस्या विशेष रूप से विषम हो गई। बाल-विवाह और बेमेल विवाह की प्रथा के कारण हिन्दू

समाज में बाल-विवाहों की संख्या बहुत अधिक थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। उन्हें अश्वत्थ संवम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता था। हिन्दु परिवार में उन्हें प्रतिदिन भयंकर धममाय सहना होता था। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न से भारत सरकार ने १८५६ ई० में विधवा पुनर्विवाह को जायज ठहराने वाला कानून बनाया।

किन्तु इस कानून से भी विधवा-विवाहों की संख्या नहीं बढ़ी, क्योंकि अोकमत इसके पक्ष में नहीं था। धर्म-धर्म: इस प्रथा के विरुद्ध जलमत प्रयत्न होने लगा और इन विवाहों को अब समाज में पहले की तरह बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवाओं की सहायता करने तथा उनकी दशा सुधारने के लिए देश में धनेक संस्थाएँ काम कर रही हैं। १८८७ ई० में दक्षिणपद बनर्जी ने इस प्रकार की सर्व प्रथम संस्था कलकत्ता के पास बरहासगर में खोली थी। १८८६ में एक ईसाई स्त्री पवित्रा रमा बाई ने पूना में हिन्दु विधवाओं के लिए शारदा सदन खोला। इस सदन की विधवाओं के ईसाई हो जाने से हिन्दु विधवाओं की सेवा के लिए भी कर्त्त ने १८८६ में हिन्दु विधवाधम की स्थापना की। १८८६ के बाद धर्मसमाज ने विधवाधम स्थापित किये। उत्तर भारत में इस प्रकार का सबसे बड़ा प्रयत्न सर गंगाराम का था। १८९४ में उन्होंने लाहौर में विधवा-विवाह-सहायक समा की स्थापना की और इसके लिए लाखों की सम्पत्ति का दान किया। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश के धनेक शहरों में इसकी शाखाएँ हैं।

बालविवाह—मध्य युग में बालविवाह की बुराई अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची थी। ऐसे भी उपाहरणों की कमी नहीं जिनमें दूध पीते तथा गर्भाशयस्थ शिशुओं की दावी तप हो जाती थी। ब्रह्म समाज, धर्म समाज और एक पारसी पत्रकार बहराम जी मलाबारी ने सर्व प्रथम इस बुराई की ओर देश का ध्यान खींचा। श्री मलाबारी ने १८८० ई० में धनेक हिन्दु नेताओं और सरकारी अफसरों की सम्मति्यों के साथ इसके विरोध में एक पुस्तिका प्रकाशित की। १८८० में एक बंगाली लड़की कलमणि दासी के बलिदान से देशव्यापी बालविवाह की बुराई की तीव्रता में अनुभव करने लगे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में पति द्वारा सहवास से कलमणि की मृत्यु हो गई और जब पति पर हत्या का अभिमेप चलाया गया तो उसने अपनी सफाई में भारतीय दण्ड विधान की यह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाहित जीवन में सहवास के लिए न्यूनतम आयु दस वर्ष थी। श्री मलाबारी आदि सुधारकों ने तथा ईसाइयों ने भारत सरकार पर सहवास-आयु बढ़ाने तथा बाल-विवाह रोकने के लिए कानून बनाने पर बल दिया। भारत सरकार ने जब सहवास-वय को दस से बारह वर्ष करने का प्रस्ताव पाल किया तो कट्टरपन्थियों ने उसका धोर विरोध किया। फिर भी १८८९ में यह प्रस्ताव कानून बन गया। देशी राज्यों में बड़ीया ने सर्व प्रथम १८०९ में बाल-विवाह-निषेधक कानून द्वारा लड़के-लड़कियों के विवाह के लिए न्यूनतम आयु कमशः सोलह और बारह वर्ष रखी। ब्रिटिश भारत में श्री हरधत्तास शारदा के प्रयत्न

से १६२६ में बाल-विवाह-निषेधक कानून पास हुआ। इसके अनुसार सट्ठाह वर्ष से कम आयु के लड़के तथा चौपह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह नहीं हो सकता। बाद में इस कानून में कई संशोधन हुए। शिक्षा के प्रसार से बालविवाह भी बुराई शहरों में बहुत घट रही है।

जाति-भेद—हिन्दू समाज की सबसे बड़ी विशेषता जात-पात बताई जाती है। हिन्दू जाति लगभग तीन हजार ऐसे वर्गों में विभक्त है जिनका खान-पान और विवाह अपने ही वर्गों तक सीमित रहता है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में जाति-भेद की व्यवस्था बड़ी कठोर थी। एक जाति का व्यक्ति न केवल खान-पान और विवाह के विषय में जातीय बन्धनों में जकड़ा हुआ था किन्तु वह अपने वैतुक पैसा भी नहीं छोड़ सकता था, विदेशियों के सम्पर्क से दूषित होने के भय से विदेश बचवा समुद्र-यात्रा भी नहीं कर सकता था। खान-पान में ब्राह्मणों के कुछ ऊँचे वर्ग शुद्ध का इतना अधिक विचार रखते थे कि एक ही उप-जाति के व्यक्ति एक दूसरे के हाथ का बना भोजन भी नहीं खाते थे। यही बात 'मो कनौजी तरह चुल्हे' आदि कहावतों में प्रतिबिम्बित हुई है। स्वामी विवेकानन्द को इसी परिस्थिति से लीभकर कहना पड़ा था कि 'हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने के बतों है—हमारा सिद्धान्त है 'मुझे न छुओ, मैं पवित्र हूँ'।'

शिक्षित व्यक्तियों द्वारा सर्व प्रथम खान-पान और विदेश-भाषा के बन्धन तोड़े गए। पिछली अती के अन्त में कांग्रेस के साथ होते वाली समाज-सुधार-परिपक्वों की समाप्ति अन्तर्जातीय भीषणों के साथ होती थी। साधारण जनता में रत्नों ने इस विचार को मिश्रित करने में बड़ी सहायता की है, क्योंकि इनमें छुपाछुल और शुद्ध की मर्यादों का पालन करना बड़ा कठिन है। होटल भी इसमें बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। आज से सौ वर्ष पहले विदेश-भाषा करना बड़े बाह्य का कार्य था। राजा राममोहन राय इसलिये जाते हुए अपने साथ ब्राह्मण रसोइया लेते गए थे ताकि अनाविज विदेशी भोजन से वे परेशान न हों। विदेश जाने वालों को भारत वापस आने पर बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थी। प्रायश्चित्त से शुद्धि न करने पर वे जाति से बहिष्कृत कर दिए जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे शिक्षा के लिए यूरोप और अमरीका जाने वालों की संख्या बढ़ने से यह बन्धन मिश्रित हो गया।

जाति-भेद का सबसे जबरदस्त बन्धन विवाह-विषयक था। धर्म्य समाज ने चारों वर्गों को युगकर्मनुसार मानते हुए इसे तोड़ने पर बहुत बल दिया। इससे समाज की बड़ी हानियाँ हो रही हैं, चुनाव का क्षेत्र संकुचित होने से वह बहुत अधिक सींचा जाता है, इसलिए या तो विवाह कठिनाई से ही होते हैं या सहकियाँ अविवाहित रह जाती हैं अथवा बेमेल विवाह होते हैं। स्व० श्री विठ्ठलनाई पटेल ने इस बुरावस्था को दूर करने के लिए १९१७ में एक बिल पेश किया था, किन्तु उसका कट्टरपंथी वर्ग ने इतना विरोध किया कि वह पास न हो सका। १९२२ में लाहौर में जात-पात का

विरोध करने के लिए जात-पात-तोड़क-मण्डल स्थापित हुआ। १९३७ में धर्म-विवाह-कानून द्वारा धर्मसमाजियों के धर्मवैवाहिक विवाहों को वैध बना दिया गया।

जाति-भेद की श्रृङ्खलाएँ पश्चिमी शिक्षा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, समानता पर तब दबे बाली उदार विचार-धारा तथा रेसों आदि के आगमन से तथा नई धार्मिक परिस्थितियों से टूट रही थी। पेशे का वर्णन, जो पहले प्रायः नीची जातियों के साथ था, लभभय समाप्त हो रहा है, क्योंकि अपने पुराने पेशों की अपेक्षा नये कारखानों में काम करने से अधिक आय होती है, दूसरी ओर ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों के व्यक्ति धार्मिक परिस्थितियों से बाध्य होकर डॉक्टरों, व्यापारी, दुकानदार बन रहे हैं। समूचे देश में एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का शासन होने से भी पुराना जातीय भेदभाव समाप्त हो रहा है। स्वतन्त्रता पाने के बाद यह अनुभव किया जा रहा है कि सूच्य लोकतन्त्र की स्थापना के लिए जाति-भेद की मिटाना अनिवार्य है। हाल में ही पूना में इसी उद्देश्य से जाति-निर्मूलन सामक संस्था स्थापित हुई है। १९४६ ई० में बम्बई में जाति-भेद पर कुठाराघात करने वाला एक नया कानून पास हुआ है, इसके अनुसार जाति-बहिष्कार को दण्डनीय अपराध बना दिया गया है।

सामाजिक क्षेत्र में आधुनिक भारत के दो बड़े क्रान्तिकारी सुधार हरिजनोद्धार और महिलाओं की आर्थिक-जनक उन्नति हैं। हिन्दू समाज ने कई सौ वर्ष तक नीच जातियों तथा स्त्रियों के साथ कृत व्यवहार और घोर उत्पीड़न किया था, पिछले पचास वर्षों से वह उनका प्रामाण्य करने में लगा हुआ है, उन्हें मध्यमवर्गीय हीन स्थिति से उठाने के नयी संभावित प्रयत्न किये जा रहे हैं।

हरिजनोद्धार—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में नीच जातियों के करोड़ों हिन्दू प्रछूत माने जाते थे, इनके साम झसझ और बकपनीय व्यवहार होते थे। दक्षिण में यह प्रथा उग्रतम रूप में थी। वहाँ उच्च जातियाँ नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं, छाया तक से अपवित्र हो जाती थीं। कोचीन की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे, किन्तु कम्मलन (राज, बड़ई, मुहार, बप्पार) ब्राह्मणों की २४ फुट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ठाही निकालने वाला ३६ फुट से, बेधमन कुषक ४८ फुट से, और परैयन (सामाज-मण्डक परिहा) ६४ फुट से। वह मन्तीय की बात थी कि इससे पुरानी रिपोर्टों में परिहा ७२ फुट की दूरी से अपवित्र करने वाला माना गया है। अन्तर्गत प्रछूत गृहों से बाहर रहते थे, मन्दिरों में इनका प्रवेश वर्जित था, क्योंकि सब भक्तों का उद्धार करने वाले देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे। ये कुँधों से पानी नहीं भर सकते थे, हस्पतालों और पाठशालाओं का लाभ नहीं उठा सकते थे। उच्च वर्ग के देवार आदि के व्यवहार सहते हुए ये बड़े दुःख से अपने नारकीय जीवन को पकियाँ बिताते थे।

इनके उद्धार की ओर सबसे पहले धर्म समाज ने ध्यान दिया। १८७६-७७ ई० में हमारे देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। देहातों में हजारों अस्तुन्य बुरी तरह मरने

लगे। इस समय ईसाइयों ने सहायता-कार्य का संगठन किया। १८८० ई० में दलित जातियाँ बड़ी संख्या में ईसाई होने लगीं। धार्मिक समाज ने इस सतर्क को अनुभव किया और उनके उद्धार का बहुत यत्न किया। ब्रह्म समाज और प्रार्थना-समाज ने भी इस क्षेत्र में कुछ काम किया। १८२० ई० के बाद से महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने असुस्थता-निवारण को राजनैतिक कार्यक्रम का अंग बना लिया। हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के लिए कानून बना। १८३२ में सर्वोच्च शासन-योजना बनाते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने निर्वाचन के लिए जब खड़तों को हिन्दुओं से अलग रखने का यत्न किया तो महात्मा गांधी ने पूना में अंतर्धान करके इसका विरोध किया और उनकी बात स्वीकार कर ली गई। इसी समय उन्होंने खड़तों को हरिजन का नाम दिया और उनकी दशा सुधारने के लिए 'हरिजन सेवक संघ' और 'हरिजन' पत्र की स्थापना की और हरिजनोद्धार के लिए देश का दौरा किया।

१८३७ में कांग्रेसी सरकारों के स्थापित हो जाने के बाद हरिजनों की उन्नति, शिक्षा तथा सामाजिक बाधाओं को दूर करने की और अधिक ध्यान दिया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तथा विशेषतः भारत के स्वतन्त्र होने के बाद कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने परिमणित एवं दलित जातियों के उत्थान के लिए पुरा प्रयत्न किया है। भाषा सभी प्रान्तों में असुस्थता-निवारक कानून पास हो चुके हैं। इनके अनुसार असुस्थता कानूनी ढंग से दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। हरिजन जब तक पुरानी सामाजिक प्रथा के अनुसार सार्वजनिक जलाशयों, मन्दिरों तथा शिक्षा-संस्थाओं का अछूत होने से उपयोग नहीं कर सकते थे। असुस्थता के कारण होटलों में भोजन करने तथा अनेक स्थानों पर बोला-ब्यालकी आदि सवाहिर्यों पर बैठने का अधिकार नहीं रखते थे। १८५५ ई० के असुस्थता उन्मुलन के नये कानून द्वारा खड़तों को ऊँची जातियों के बराबर समझते हुए उपयुक्त सभी सामाजिक प्रतिद्वन्द्व अवैध एवं दण्डनीय अपराध बना दिए गए हैं। शिक्षा की दृष्टि से हरिजन जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं। उनमें शिक्षा-प्रसार का विशेष यत्न किया जा रहा है, हरिजन विद्याविधियों के लिए शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त स्थान सुरक्षित रहे जाते हैं, उनके लिए प्रथम श्रेणी से विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था है, सरकारी होस्टलों में रहने की विशेष सुविधाएँ हैं, छात्रावास के सभी कार्य भाग हैं। सरकारी नौकरियों में इस प्रतिभात स्थान उनके लिए सुरक्षित हैं। इन पक्षों पर नियुक्ति के लिए नियत प्राप्ति में उन्हें तीन वर्ष की छूट है। व्यवस्थापिका-सभाओं में उनके स्थान सुरक्षित हैं तथा प्रांतीय व केन्द्रीय सभी मन्त्रिमण्डलों में असुस्थों के प्रतिनिधि हैं। भारत के नये संविधान में असुस्थता को एक अपराध घोषित किया गया है और इस प्रकार कानूनी दृष्टि से इसकी धनधोषि कर दी गई है।

सिधियों का उत्थान—पिछली सदी में हरिजनों के बाहिरिक समाज में सिधियों की दशा भी अत्यन्त घाबरायी और निरी हुई थी। तारियों को समाज में अत्यन्त विरसकार की दृष्टि से देखा जाता था, उन्हें घर की कुली समझा जाता था। स्त्री-

समाज को शिक्षा से वंचित एवं ज्ञान-भूझकर पर्वों में रखा जाता था। पुरुषों की अपेक्षा उनके साम्प्रदायिक एवं साम्प्रदायिक अधिकार नाम-मात्र को ही थे। पिछले पचास वर्षों में इस स्थिति में धातु परिवर्तन आ गया है। हमारे देश की नारियों में असाधारण जागृति हुई है और उन्होंने सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार और स्थिति प्राप्त कर ली है।

पिछली शती में स्त्रियों के उत्थान का अग्रगण्य स्त्रीशिक्षा में हुआ। ईसाई मिशनरियों ने ईसाइयत के प्रचार की दृष्टि से इसे प्रारम्भ किया। बंगाल में बहा समाज ने तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री-शिक्षा के लिए बड़ा यत्न किया। १८६० के बाद से धार्मिक समाज ने उत्तर भारत में और विशेषतः पंजाब में इस कार्य को बड़े जोर-शोर से किया तथा आज ही पर्वों की सुरक्षा के विषय भी ध्यानोत्पन्न किया। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने से बड़ी जागृति हुई। वे भी अपने राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगीं। २८ दिसम्बर, १९१७ को भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधि मण्डल ने पहली बार भारत-मन्त्री साफ्टेयू से मद्रास में मताधिकार की माँग की, किन्तु १९१८ की साफ्टेयू-वेम्सफोर्ड रिफार्म स्कीम में स्त्रियों के मताधिकार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं था। इस पर भारतीय स्त्रियों ने इसके लिए और ध्यानोत्पन्न किया और नारियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल पार्लियामेंट के सदस्यों से यह माँग मनवाने इरादें भी बनाये। १९१९ के शासन-विधान के अनुसार प्रांतीय व्यवस्थापिका-परिषदों को नारियों को बोट-बनाने का अधिकार दे दिया गया। इसके अनुसार सबसे पहले मद्रास ने १९२६ में स्त्रियों को व्यवस्थापिका-परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार प्रदान किया और दो वर्षों में लगभग सभी प्रांतों में स्त्रियों निर्वाचक बन गईं। यूरोप में नारियों को जो अधिकार और संपर्क के बाद प्राप्त हुआ, वह भारतीय स्त्रियों को अल्प प्रयास से और पॉम आदि कई देशों की स्त्रियों से पहले मिल गया।

यही दशा सामाजिक और कानूनी अधिकारों की भी है। १९२० के बाद स्त्रियों ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में भी बहुत भाग लिया। उनमें शिक्षा और जागृति बढ़ रही थी। १९२६ में श्रीमती मॉन्टेज कनिंग ने महिलाओं के संगठन का प्रयास किया, फातरवक्त अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुई। इसका पहला अधिवेशन जनवरी, १९२६ में गुवा में हुआ। यह शिक्षित महिलाओं का प्रथम संगठन है और विदेशी दो वसाजियों में भारतीय नारियों पर लगे प्रतिबंधों और कानूनी-बाधाओं को हटाने तथा समान अधिकारों की माँग करने में इस संस्था ने मुख्य भाग लिया है। इसके समागति पर को बड़ीया तथा टाउनकोर की महारानीयाँ, नवाब भूपाल की बेगम, श्रीमती सरोजिनी नायडू, राजकुमारी अमृतकोर, रामेश्वरी नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित-बैती प्रसिद्ध भारतीय नारियाँ सुलभित कर चुकी हैं। प्रतिबंध यह स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पेश करती है।

भारत सरकार की नीति भी नारी-आन्दोलन के अनुकूल रही है और नारियों को बड़ी तेजी से राजनीतिक अधिकार मिले हैं। १९३५ के वासन-विधान में प्रांतीय एवं केन्द्रीय असेम्बलियों में स्त्रियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गए। मद्रास में इनकी संख्या आठ थी, बम्बई और पू० पी० में छः, अजिमेकत बंगाल में पाँच, पुराने पंजाब तथा बिहार में चार, मध्यप्रान्त में तीन, उड़ीसा तथा सिन्ध में दो तथा आसाम में एक, आजकल पर्याप्त संख्या में स्त्रियाँ केन्द्रीय व्यवस्थापिका-परिषद् में सदस्या हैं। स्त्रियों के धारा-सभाओं में पहुँचने का एक सुपरिणाम यह हुआ है कि उन्होंने समाज-सुधार और स्त्रियों को नवीन कानूनी अधिकार दिलाने के प्रस्ताव पेश किये हैं। सर्वोच्च सम्बद्ध की व्यवस्थापिका-सभा की महिला-सदस्याओं ने इस प्रकार के अनेक विना उपस्थित किए। वहाँ पुरुषों के बहु-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने वाले तथा हिन्दू स्त्री-पुरुषों को कुछ विशेष अवस्थाओं में तलाक का अधिकार देने वाले कानून पास हो चुके हैं। १९५५ में भारतीय संसद् ने इस प्रकार का हिन्दू विवाह कानून पास किया।

कांग्रेसी सरकारों ने स्त्रियों को ऊँचे पद देकर नारियों को उच्चतम प्रतिष्ठा देने के प्राचीन भारतीय आदर्श का पालन किया है और स्त्रियों की स्थिति को बहुत ऊँचा उठाया है। सं० रा० समरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में भारतीय राजदूत के पद को श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने धन्यवत् किया, राजकुमारी चमृतकौर, श्रीमती तार-केश्वरी सिन्हा आदि कई स्त्रियाँ केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में, मन्त्रिणी बनीं हैं। दिवंगता भारत-कोकिला सरोजिनी नाम्दू उत्तर प्रदेश के गवर्नर पद पर धासीन थीं। उनकी पुत्री पद्मा नाम्दू पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल बनीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि समानाधिकारवादी पश्चिमी देशों में स्त्रियाँ अभी तक इतने ऊँचे पदों पर नहीं पहुँचीं। संयुक्त राज्य अमेरिका में १९४६ ई० पहुँची वार एक महिला को राजदूत बनाया गया है। स्वतन्त्र भारत ने न केवल अपने वासन-विधान में स्पष्ट रूप से स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार समान माने हैं किन्तु १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई० ए० एस०) की प्रतिप्रोगिता-परीक्षाओं में नारियों को भी बैठने का अधिकार देकर उक्त योजना को क्रियात्मक रूप प्रदान किया है। वह अधिकार अभी तक स्त्रियों को पश्चिमी देशों में बहुत कम प्राप्त है।

नये कानून—नारियों की पुरुषों के तुल्य कानूनी अधिकार देने का सबसे बड़ा और कानूनी परिवर्तन नये सामाजिक कानूनों का निर्माण है। भारतीय पारिवारिक-संघ ने हिन्दू स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित सामाजिक कानून बनाये हैं।

(१) १९४६ का हिन्दू विवाहित स्त्रियों के धृक् विवाह और निर्वाह व्यवसाय कानून।

(२) १९५५ का हिन्दू विवाह कानून।

(३) १९५६ का हिन्दू उत्तराधिकार कानून।

(४) १९५६ का हिन्दू दत्तकपुत्र ग्रहण तथा निर्वाह व्यवसाय कानून।

(५) १९५५ का हिन्दू अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता कानून (Hindu Minority and Guardianship Act) ।

इन कानूनों से स्त्रियों की दशा पहले की अपेक्षा बहुत उन्नत हो गई है, अब प्रत्येक क्षेत्र में उनके अधिकार पुरुषों के बराबर हो गये हैं। पहले विवाहित स्त्री पूर्ण रूप से पति की कृपा और दया पर अवलम्बित थी। एक बार विवाह हो जाने पर पुरुष यथेच्छ विवाह कर सकता था, किन्तु पत्नी पति के क्रूर, अत्याचारी अत्याचारी रोमों से पीड़ित होने पर भी उसके साथ रहने की बाध्य थी। पति की सम्पत्ति का वह केवल उपभोग कर सकती थी, किन्तु अब इस सम्पत्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त करने तथा यथेच्छ विनियोग करने का कोई अधिकार नहीं था। महिलाओं को पिता की सम्पत्ति में पुरुषों की तरह कोई हक नहीं मिलता था। अब उपर्युक्त कानूनों से स्त्रियों को पति और पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिल गये हैं और कुलमन विवाहों की विशेष व्यवस्थाओं में अंग करने का हक पति-पत्नी दोनों को समान रूप से प्राप्त है। स्त्री-पुरुषों के कानूनी अधिकारों में पूरी समानता स्थापित हो गई है।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण समाज सुधारों के अतिरिक्त मादक-द्रव्य-निषेध की और भी कांग्रेसी सरकारों ने बहुत ध्यान दिया है। देवदारियों के मृष्टार, मन्दिरों की सम्पत्ति के उचित उपयोग, बेमेल विवाह आदि कुप्रथाओं के विरोध, दहेज की बुराई तथा शादी का सर्वे काम करने का भी आन्दोलन हो रहा है। धाजा है स्वतन्त्र भारत में कुछ दशाब्दियों में अधिकांश सामाजिक दुरीतियों का अन्त हो जायगा।

साहित्यिक जागृति

साधुनिक काल में साहित्य एवं सामाजिक जागृति के साथ साहित्यिक जागृति भी हुई। अंग्रेजों द्वारा संस्कृत के अध्ययन में भारत-विषयक अध्ययन का उदय हुआ जिससे हमें अपने देश के गुप्त गौरव और अतीत इतिहास का प्राथमिक परिचय मिला। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और छात्रेत्थानों के माध्यम से भारत का बौद्धिक जागरण प्रारम्भ हुआ और इसका सबसे बड़ा और विलक्षण परिणाम प्राचीन भाषाओं के साहित्य का विकास है।

भारत-विषयक अध्ययन का प्रारम्भ—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ब्रिटिश शासकों की शासन-प्रवृत्ति के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान माने की आवश्यकता अनुभव हुई। वारेन हेस्टिग्स ने संस्कृत एवं बरबी की शिक्षा के लिए अगारस में संस्कृत कालेज और कलकत्ता में बरबी मदरसे की स्थापना की। उसके प्रोत्साहन से संस्कृत सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विलकिन्स था, किन्तु भारत-विषयक अध्ययन की नींव रखने वाला तथा संस्कृत का महत्व सही-भाँति अनुभव करने वाला पहले व्यक्ति सर विलियम जोन्स (१७४६-१८२९ ई०) थे। वे १८०६ ई० में सुपीम कोर्ट के जज बनकर भारत आये थे और १८०४ में इन्होंने वीरन्ध्र बाह्मण और ज्ञान-निदान की घोष के लिए बंगाल रामन एगिमाटिक सोसायटी की स्थापना की।

इन्होंने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा कि यूरोप की पुरानी साहित्यिक भाषाओं—यूनानी तथा लैटिन की तथा ईरान की पुरानी खन्द का संस्कृत से अनिष्ट सम्बन्ध है, ये सब भाषाएँ एक मूल-स्रोत से प्रादुर्भूत हैं। बाद में इन्हीं भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यूरोप में तुलनात्मक भाषा-शास्त्र (Comparative Philology) की नींव पड़ी। इसी से यह भी बात हुआ कि इन्होंने बोलते-बाली जातियों के धर्म-कर्म, देवतावाधों, प्रथाओं तथा संस्थाओं में भी बड़ा सादृश्य था, जो यार्न जाति का पता लगा। यूरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज विषय के सांस्कृतिक इतिहास में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज-जैसा ही महत्त्व रखती है।

थॉमस ने पुराणों के चन्द्रगुप्त तथा यूनानी लेखकों के मेण्डाकोट्टस की अभिलेख मानकर, प्राचीन भारत के विधि-कर्म की आधारभूतता रखी। १७८५ ई० से पुराने अभिलेख पढ़ने की ओर विद्वानों का ध्यान गया। पहले गुप्त-युग तक की लिपि पढ़ी गई और बाद में १८३७ तक ग्रिन्थोप ने यूनानी सिक्कों की सहायता से मौर्य-युग की ब्राह्मी लिपि पढ़ ली। इन सिक्कों के एक ओर यूनानी लेख थे और दूसरी ओर उन्हीं के प्राकृत अनुवाद। यूनानी लिपि की मदद से प्राकृत लेख पढ़े जाने से पुराने अभिलेख पढ़ना आसान हो गया। कनिंघम ने मारहुत तथा सांची आदि स्थानों की खुदाई कराई। कौनिंग के समय पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना हुई, सारे देश का पुरातत्त्व-विरोक्षण किया जाने लगा और उसकी रिपोर्टें प्रकाशित हुईं। लार्ड कर्जन के समय प्राचीन इमारतों का संरक्षण-कानून बना तथा उत्खनन की ओर अधिक ध्यान दिया गया। उस समय से पुरातत्त्व विभाग ने तल्लिगा, सालन्दा, मोहेंजोदड़ो (सिन्ध), हड़प्पा (पंजाब), पहाड़पुर, साँचो, सारनाथ, नागार्जुनीकोण्डा आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई कराई। इनसे भारत के प्राचीन इतिहास का पुनरुद्धार हुआ। इस कार्य में गण-प्रदर्शक अग्रज थे, भारत अपने गौरवपूर्ण धरोहर पर प्रकाश डालने वाले इन विद्वानों का सदैव कर्णी रहेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि अब भारतीय विद्वान् और संस्थाएँ इतिहास की खोज और संशोधन-कार्य में अग्रसर हो रही हैं।

प्रांतीय भाषाओं का विकास—ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय स्थिति एवं सुसंस्कृत भारतीय घरकी तथा संस्कृत का अध्ययन करते थे। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिळ, वेतल बहुत काल से लोक-प्रचलित थीं, किन्तु इनमें उस समय पद्यात्मक साहित्य—वीररस, शृङ्गार रस और भक्ति रस की कविताएँ तथा महाकाव्य ही थे। ब्रिटिश काल में अनेक कारणों से लोक-भाषाओं में मध्य साहित्य का निर्माण तथा इसका असाधारण उत्कर्ष हुआ। ईसाई पादरियों ने बाइबिल का संदेश जलसा तक पहुँचाने के लिए लोक-भाषाओं की उन्नति की ओर ध्यान दिया, तिराम-पुर के कैटलिक मिशनरी इन कार्य में अग्रणी थे। इन्होंने सबसे पहले बंगला, हिन्दी आदि लोक-भाषाओं के शास्त्र बनावे, छापेसाले स्थापित किये, इनका भूतं ज्ञान पाने के लिए व्याकरण और शब्द-कोष बनावे। प्रायः सभी प्रांतीय भाषाओं के पहले व्याकरण-लेखक ईसाई पादरी हैं। पुरानी मुद्रिकवित लोक-भाषाओं के भक्तिरस

इन्होंने छोटी और अविकसित भाषाओं को भी ईसाइयत के प्रचार के लिए अपनाया, उनका स्वरूप निम्नलिखित किया और उनमें साहित्य बनाया। अन्य अनेक दृष्टियों से ईसाई प्रचारकों का कार्य सराहनीय नहीं रहा, किन्तु लोक-साहित्य के निर्माण द्वारा उन्होंने भारत की समुल्लेख सेवा की है।

प्रांतीय भाषाएँ देर तक अंग्रेजी के प्रभाव से दबी रही किन्तु राष्ट्रीय आगरण और गद्य-व्यवसायों के प्रकाशन से लोक-भाषाओं को बड़ा उत्तेजन मिला है। निम्नलिखित भाषाओं में साहित्य की विविध शाखाएँ—उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कविता आदि में सभी प्रांतीय भाषाओं के साहित्यों में उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी गई हैं। बंगला राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यानाथ, माइकेल मधुसूदनदास, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शरच्चन्द्र चटर्जी की समुल्लेख कृतियों में समृद्ध हुई है। हिन्दी के उत्थान और उन्नति में अल्लाहाबाद, सदाशिव, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा प्रेमचन्द आदि लेखकों और काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं ने बहुत सहयोग दिया। उर्दू मुगल बादशाहों की अवन्त अवस्था में भी रूप उन्नत, परिष्कृत एवं परिमाणित हुई। बर्से, मौदा, भासिक और लोक ने इसे चमका दिया। १८३५ ई० में सदाशिव भाषा हो जाने के बाद उत्तरी भारत में उर्दू का प्रचार बहुत बढ़ा। सर सय्यद अहमदशाही, अजाद तथा इकबाल-प्रभृति विद्वानों ने तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी और अजुमल-नारकी-ए-उर्दू आदि संस्थाओं ने उर्दू के साहित्य को बहुत उत्तत किया है। मराठी साहित्य की यह विशेषता थी कि ब्रिटिश शासन से पहले उसमें काफी गद्य था, वह उन इतो-सिनी भाषाओं में है जिसका बाल्य-काल पद्य में नहीं किन्तु गद्य में बीता है। अंग्रेज पादरियों के लोगों तथा व्याकरणों से मराठी का नया रूप प्राचीन परम्परा में चलन होने लगा। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने अपनी निबन्धमाला में इस अंग्रेजी 'वतार' (रूप) की एक सवर की और मराठी साहित्य में लक्ष्य का प्रारम्भ किया। विष्णुभाषे, राममोहन चटर्जी, केशवसुत, विश्वनाथ, काशीनाथ राजवाड़े, हरनारायण धाटे तथा लोकमान्य तिलक ने मराठी साहित्य के विविध वर्गों को समृद्ध किया। गुजराती में आधुनिक साहित्य अंग्रेजी शैली के साथ प्रारम्भ हुआ। १८४८ में भाभाई द्वारा 'गुजराती बनीसपूतरी-सोसायटी' की स्थापना द्वारा इस साहित्य की उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न होने लगा, दत्तत्रिराम और मन्मथकर के साथ वर्तमान साहित्य का भीरगोश होता है। रणधीर भाई उदयराम, लक्ष्मणर तुलजा शंकर, गोवर्धनराम विपाठी, कन्हैयालाल भाणिकलाख मुन्शी, महादेव देसाई, तथा महात्मा गांधी आदि की रचनाओं से इस साहित्य की विविध शाखाओं की उन्नति हुई है। तामिल में आधुनिक गद्य का प्रारम्भ श्रीराममुनि तथा अय्यमुनाय्यर ने किया। महाभारत लक्ष्मण राजगोपाळ-चारमर की कृतियों में शामिल समृद्ध हुई। तेलुगु के उन्नायकों से चिन्तय पुरि तथा बरेल्लिपुम् उल्लेखनीय है। आधुनिक आसामी साहित्य 'बोनाकी' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन से १८६६ में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादकों—लक्ष्मीनाथ बरुआ,

चन्द्रगुप्त तथा हेमचन्द्र गौतमी ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में रचनाएँ मिली और इनके बाद कमल कान्त, नमिसोबाला, विरेचि कुमार, बरदा आदि लेखकों ने इस साहित्य को उन्नत किया। वर्तमान उड़िया साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेय राजानाम राय, फकीर मोहन, सेनापति और मधुसूदन आदि साहित्यकारों को है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लोक-भाषाओं का स्थल युग आरम्भ हुआ है। पहले राज्य की भाषा अंग्रेजी होने से इनके विकास में बड़ी बाधा थी। विधान परिषद् ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया; यह उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान की राजभाषा पहले ही थी। राजभाषा होने से हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

वैज्ञानिक उन्नति

छठी शती तक वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत संसार का नेता था। पहले यह बताया जा चुका है कि मध्य-युग में किन कारणों से स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द हो गया। बारहवीं शताब्दी की मोह-निशा के बाद विटिदा शासन स्थापित होने पर जब भारत में नवजागरण हुआ तो राममोहनराय आदि नेताओं ने यह अनुभव किया कि पश्चिम की अग्रगण्य उन्नति का एक प्रधान कारण विज्ञान की उन्नति है, भारतीयों को वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। आरम्भ में सरकार की ओर से केवल चिकित्सा-शास्त्र या सिविल इंजीनियरिंग के अध्यापन की व्यवस्था थी। १८५८ से १९०७ ई० तक शासकों ने भौतिक-शास्त्र, रसायन आदि के अध्यापन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, विश्वविद्यालयों में उच्च वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण तथा परीक्षाओं का कोई प्रबन्ध नहीं था। श्री महेन्द्रलाल सरकार द्वारा १८७६ ई० में संस्थापित 'वैज्ञानिक अनुसन्धान की भारतीय परिषद्'-जैसी इन्टी-मिनी संस्थाएँ वैज्ञानिक शिक्षण और प्रोत्साहन का कार्य कर रही थीं। भारतीय वैज्ञानिकों को राज्य या विश्वविद्यालयों की ओर से न धन्यमान को सुविधाएँ थीं और न कोई प्रोत्साहन। इस निराशापूर्ण वातावरण में जब जगदीशचन्द्र बसु ने १८८७ में अपनी भौतिक शास्त्र-विषयक शोधों में यूरोपियन विद्वानों को धारण-वर्णित किया तो भारतीयों में यह धारणा-विकास जागृत हुआ कि वैज्ञानिक क्षेत्र पर यूरोपियनों का ही एकाधिकार नहीं है। १९०२ में श्री बसु के नेतृत्व में 'हिन्दू रसायन का इतिहास' प्रकाशित हुआ, जिससे पश्चिम की भारतीयों की प्राचीन रासायनिक उन्नति का ज्ञान हुआ। इसी साल कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने वैज्ञानिक विषयों की स्वातंत्र्य परीक्षा (बी० एम०सी०) तथा १९०८ में वाचस्पति (एम० एल०सी०) की शिक्षा का प्रबन्ध किया। स्वदेशी आन्दोलन के समय १९०६ ई० में बंगाल में स्थापित 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्' ने वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। १९११ में श्री जमशेद नसरवान जी ताता के पुत्रों सर दोराब जी तथा सर रतन जी ताता के उदार धन से भौतिक-शास्त्र तथा रसायन शास्त्र

प्रायः विषयों के इलाहाबाद अनुसन्धान कार्य के लिए बंगलौर में 'इन्विजन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स' की स्थापना हुई। १९६४ ई० में तारकनाथ पणित धीर रासबिहारी घोष के तयारवान तथा धामुतोष मुकर्जी के प्रयत्न से कलकत्ता विश्वविद्यालयों में गृह्य विज्ञान कालेज स्थापित हुआ। इनके अतिरिक्त अन्य सभी विश्वविद्यालयों में विज्ञान की ऊँची शिक्षा दी जाने लगी तथा अनुसन्धान की व्यवस्था हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध तक भारत में वैज्ञानिक शिक्षण की गहरी नींव पड़ चुकी थी, द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९—४५) में उसके प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे। इस बीच में श्रीनिवास रामानुजन् (१८८७), श्री जगदीशचन्द्र बोस (१८९०), श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमण (१८९०), श्री मेघनाथ साहा (१८९१) तथा श्री बीरबल साहूनी विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में अपनी मौलिक खोजों से राष्ट्रीय सोसायटी के सदस्य होने का ब्रिटिश साम्राज्य में उच्चतम वैज्ञानिक सम्मान प्राप्त चुके थे। श्री रमण वैज्ञानिक खोजों पर नींव डाल (१९३९) जीतने वाले पहले भारतीय थे। द्वितीय विश्वयुद्ध की आवश्यकताओं के कारण भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धान में बड़ी प्रगति की। १९४० में भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान की परिषद्' स्थापित की और युद्धकालीन आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए विज्ञान तथा उद्योग को लगभग सभी शाखाओं के सम्बन्ध में बीच अनुसन्धान समितियाँ विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा वैज्ञानिक संस्थानों में खोज का कार्य करने लगीं। इन समितियों ने रेडियो, रासायनिक रसों, प्लास्टिक तथा उद्योगों में सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में काफी कार्य किया है। युद्ध के दिनों में पाँच भारतीय वैज्ञानिकों श्रीकृष्णन् (१९४०), भामा (१९४१), शान्तिस्वरूप नटनागर (१९४३), चन्द्रशेखर (१९४४) तथा महालनवीस (१९४५) को अपनी मौलिक खोजों के कारण राष्ट्रीय सोसायटी का सदस्य बनाया गया।

स्वतन्त्रता पाने के बाद भारत ने उपनिषदों के 'विज्ञानं ब्रह्म' (विज्ञान ही ब्रह्म है) पर धारणा रखते हुए, तथा विज्ञान को भौतिक उन्नति का मूल मानते हुए वैज्ञानिक अनुसन्धान की धोर विधिमान प्रदान दिया है। प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने १९४८ में सपनीय सम्पन्नता में वैज्ञानिक अनुसन्धान की प्रगति के लिए १९४८ ई० में एक मूल्य विभाय जोला और एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् भी स्थापित की। अनुसन्धान की श्रेय के लिए भारत सरकार ने एक विशेष बोर्ड बनाया। वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद् की देख-रेख में अनेक 'राष्ट्रीय अनुसन्धानशाखाओं' की स्थापना हो चुकी है। इनमें प्रमुख ये हैं—पूना की राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, दिल्ली की राष्ट्रीय भौतिक शास्त्रीय प्रयोगशाला, जमशेदपुर की राष्ट्रीय धातु-शोधनशाला, बनारस की राष्ट्रीय ईश्वर अनुसन्धानशाला तथा कलकत्ता की केन्द्रीय सीमा व जीवी के कर्तव्यों की, मद्रास की जर्म अनुसन्धानशाला, मैसूर की केन्द्रीय साय तथा तन्त्रज्ञ की केन्द्रीय औषधि-अनुसन्धानशाला, बड़क-अनुसन्धानशाला दिल्ली, भवन-निर्माण अनुसन्धानशाला रुक्मी, केन्द्रीय विशुद्ध रासायनिक अनुसन्धान-

शास्त्रा करेकुडी (मद्रास), केन्द्रीय समक अनुसन्धानशास्त्रा भावनगर, केन्द्रीय इलेक्ट्रानिक इंजीनियरिंग अनुसन्धानशास्त्रा पिलानी है। वैज्ञानिक अनुसन्धान में अनुराग की पुष्टि देश के उज्ज्वल भविष्य को सूचित करती है।

सलित कलाएँ

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में शासकों की उपेक्षा तथा शिक्षित व्यक्तियों पर पश्चिमी कला की चकाचौंध का सहारा बसर होने से भारतीय सलित कलाओं की दशा प्रत्यन्त शोचनीय थी। मुगल बादशाहों के संरक्षण में कलाओं की बड़ी उपजति हुई थी, उनके पतन के बाद कलाकारों की देशी राजाओं का पोसाहब मिला, किन्तु ये भी धीरे-धीरे विलायती वस्तुओं की पसन्द करने लगे, जनता सरस्ती और तड़क-भड़क वाली विदेशी वस्तुओं के भुलावे में पड़ गई। भारतीय कलाओं के मष्ट होने की तोषत था गई। किन्तु इसी समय राष्ट्रीय जागृति का आरम्भ होने से भारतीयों का ध्यान कलाओं की ओर भी गया। भारत सरकार ने कलकत्ता, कम्बई, मद्रास तथा लाहौर में कला-विद्यालय (पार्ट स्कूल) खोले और भारतीय कलाओं का पुनरुज्जीवन प्रारम्भ हुआ। इसे प्रारम्भ करने का श्रेय कलकत्ता के सरकारी कला महाविद्यालय के प्रिन्सिपल श्री हैबल तथा डॉ० धानन्दकुमार स्वामी को है। उनकी रचनाओं द्वारा भारतीयों को सर्वप्रथम अपनी प्राचीन कलाओं के मर्म और महत्व का परिचय मिला और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। उन्नीसवीं शती में भारतीय कलाकार की प्रतिभा पारंपार्य शैली के सामने पराभूत भी थी, वर्तमान शती के प्रारम्भ से उसने अपने स्वल्प और गौरव को पहचाना तथा प्राचीन परम्परा से प्रेरणा पाकर नई शैली का विकास किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण बिज-बंगा है।

पिछली शती के अन्त में रजिषर्मा नामक केरल के बिजकार ने पश्चिमी शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट करना चाहा, पर उसकी रचनाएँ बहुत बन्धी नहीं हुईं। इस शती की पहली दशाब्दी में हैबल ने प्राचीन भारतीय बिज-कला के पुनरुज्जीवन पर बल दिया, १९०३-४ में श्री धननीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नई बिज-शैली का विकास किया जो विदेशी शैलियों की अनेक बातें अपना लेने के बावजूद भी पूरी तरह भारतीय है। यह पूर्व और पश्चिम की कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। श्री धननीन्द्र के शिष्यों में श्री सन्धलाल वसु सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल के अन्य बिजकारों में धर्मिष्ठकुमार हाजदार, धामिनी राय, देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चुगताई, जेतुलबाबरीन विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्ति-कला में भी धननीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। इस क्षेत्र में उनके प्रधान शिष्य श्री देवीप्रसाद राय चौधरी हैं। भारत की आधुनिक वास्तु-कला में दो प्रधान शैलियाँ हैं—

(१) देशी कारीगरों द्वारा बनाये गए भवन—ये प्रधान रूप से राजपूताना में हैं।

(२) पश्चिमी देशों पर बनाई इमारतें—ब्रिटिश सरकार ने भारत की प्राचीन वास्तु-परम्परा का कोई ध्यान न रखते हुए देश में पश्चिमी ढंग की इमारतें इमारतें बनवाईं। जब पुरानी वास्तु-कला की ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। अन्य कलाओं की भाँति संगीत का भी पुनरुज्जीवन हुआ और इसका श्रेय स्व. विष्णु दिगम्बर तथा भातखण्डे को है। कलकत्ता, बम्बई, पुना, बड़ोदा आदि बड़े नगरों में भारतीय संगीत और नाचों की शिक्षा के लिए सम्बन्ध विद्यालय खोल गए हैं। नृत्य-कला में भी पुरानी शैलियों का उद्धार हो रहा है। उदयशंकर, रामगोपाल, सक्तिमणी देवी और मेनका ने विदेशों में भारतीय नृत्य के गौरव को बढ़ाया है। भरतनाट्य, कम्पाकती, मणिपुरी आदि नृत्य इस समय भारत में लोकप्रिय हो रहे हैं। धार्मिक-निकेतन, केरल कला-मन्दिर, कला-शेखर जैसी संस्थाएँ भारतीय नृत्य कला के पुनरुज्जीवन में सहयोग दे रही हैं। भारत सरकार ने ललित कलाओं के प्रोत्साहन के लिए संगीत नाटक अकादमी स्थापित की है। इसकी ओर से उत्तम कलाकारों को प्रतिवर्ष पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है।

उपसंहार—पिछले तीस सौ से हमारे देश में युगान्तर हुआ है। इसका भीतरों तक हुआ जब हमने ज्ञान और प्रकाश के लिए अपना मुँह पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ा। पश्चिमी शिक्षा और विचार-धारा से प्रभावित भारतीयों ने देश में सर्वोच्च शिक्षा की ज्योति को जगाया। धन्य-विश्वास और अज्ञान का त्याग बुद्धि और तर्क ने ग्रहण किया। उदारता और स्वतन्त्र विचार कटुता तथा शास्त्रवाद पर विजयी हो गये। धार्मिक और सामाजिक कठिनाईयों को वैदिकों से भारत मुक्त होने लगा। सती-दशा, बाल-वध आदि क्रूरताओं की अन्त्येष्टि हुई, जाति-भेद का कुंभ धरावासी हो रहा है, अस्पृश्यता का जनाजा निकल रहा है। पश्चिम की समानता, स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता की विचारधाराओं ने हमारे देश पर गहरा प्रभाव डाला है। संविधान परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीन शासन-विधान पर इसकी स्पष्ट छाप है। पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनों के ग्रहण द्वारा भारत के भौतिक एवं सामाजिक और सामाजिक जीवन का काया-पलट हो रहा है। पश्चिम की भौतिक उन्नति के कारण भारत उन्नत परावृत्त है। राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता पा लेने पर भी देश में पश्चिमी समता की अन्धका समझते हुए उसके अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सच्ची बातों की मकल होनी चाहिए, किन्तु बुद्धिपूर्वक मकल ही लाभदायक हो सकती है। महारत्ना गांधी दुल से कहा करते थे कि हम लोग ज्ञान-दान, रहन-सहन और फैशन में तो पश्चिम का अनुसरण करते हैं किन्तु संगठन, अनुशासन, समय-पादन, स्वच्छता, सार्वजनिक सेवा की भावना, कर्तव्य-पालन, जातीय हित के सर्वोपरि ध्यान, विद्या-भ्रम, वैज्ञानिक अनुसंधान आदि पश्चिम के प्रगतिशील गुणों को अपने जीवन में नहीं डालते। पश्चिम का अनुकरण करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम जापान की भाँति उनकी बुराइयों की भी

न ले लें। वापस यूरोप का पक्का चेला बना और गुप्त से विज्ञान ग्रहण करने के साथ-साथ, उसने उसकी आक्रमणशीलता, उग्र राष्ट्रीयता, संहार-पटुता, और कमबोर् देशों की आग जगलने वाली लोपों और हवाई जहाजों से 'अन्धता' का पाठ पढ़ाने का मन्त्र भी सीखा लिया। इसका जो भयंकर परिणाम हुआ, उसे देखते हुए पश्चिम के अन्धानुकरण से बचना चाहिए।

पश्चिम की वर्तमान तथा पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों में कुछ अपूर्वताएँ हैं। आध्यात्मिकता की उल्लंघना में कोई मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु कोरी आध्यात्मिकता जीवन की सुखी नहीं बना सकती। इसके होते हुए भी भारत पराधीन और दुर्बलपरायण रहा है। जब तक इसका भौतिकता के साथ उचित सामंजस्य नहीं होगा, भारत की यही दशा रहेगी। एक प्रतिष्ठित पश्चिमी लेखक द्वारा दिये गए दुष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भारत में अण्वों की संख्या बहुत अधिक है, यदि वैद्य होते ही बच्चों की चाँदी के एक समास (रजत नित्त Silver Nitrate) से भी बी जाय तो यह अन्धापन एक सकता है। एक और भारत के मन्दिरों में अन्तर् चाँदी है और दूसरी ओर हजारों अविज्ञ अन्धे हैं। चाँदी के उपयोग से अन्धापन दूर हो सकता है किन्तु कट्टरपंथियों की दृष्टि से यह महान् अधम होगा और अन्धापन यहीं दूर किया जाय, वह तो पूर्वजन्म के पापों का फल है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोरी आध्यात्मिक धृति से हमारे भौतिक उत्थति नहीं हो सकती।

दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति भौतिक उत्थति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। उसे देवताओं की शक्ति मिल गई है, किन्तु वह उसका उपयोग दान्यों की तरह कर रही है, समानुष की भाँति अत्युन्नत, उच्चतम बम, कोबाल्ट बम जैसे प्रलयकर मस्कों से अपने सर्वनाश की ओर बढ़ रही है। गोर्की के कृषक की भाँति एक भारतीय यूरोपियन को कह सकता है—“तुम आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकते हो, समुद्र में मछलियों की तरह तैर सकते हो किन्तु यह नहीं जानते कि पृथ्वी पर कैसे रहना चाहिए।” यूरोपियन राष्ट्रों में ओर अमीका के उन तर-भली जंगलियों में कोई धमर नहीं बिनके भयहों का फैसला सदा तत्परायण हो जाता है। पश्चिमी संस्कृति को भारत की आध्यात्मिकता धार्मिक प्रदान कर सकती है और भारतीय संस्कृति को पश्चिम की भौतिकता सुखी बना सकती है। पूर्व और पश्चिम का यह आदान-प्रदान, सुखर सम्मिलन और सामंजस्य दोनों के लिए व्यपेक्षकर सिद्ध होगा।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

पिछले अध्यायों में धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, राजनीति आदि विविध क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की प्रगति का परिचय दिया जा चुका है। अब अन्त में उसकी प्रधान विशेषताओं, उसके विकास और ह्रास के कारणों तथा भविष्य पर प्रकाश डाला जायगा।

विशेषताएँ

प्राचीनता—भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता प्राचीनता है। चीन के अतिरिक्त किसी अन्य देश की संस्कृति इस दृष्टि से इसकी तुलना नहीं कर सकती। इसने यूनान और रोम का उत्थान तथा पतन देखा। जरफ़ूरी, सहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के बाद ये मिल और मेसोपोटामिया की सभ्यताएँ भी इससे पुरानी नहीं रही। विश्व-कवि रवीन्द्र के इन शब्दों में बड़ी सचाई है—“प्रभाव उद्यम तब गगने। प्रथम सामरस्य तब सरोवरे।”

वैविध्यविता—किन्तु प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी बड़ी विशेषता वैविध्य-जीविता, चिरस्थायिता और अमरता है। यह पुरानी होते हुए भी सब तक जीवित और क्रियाशील है। इसके साथ ही सुमेर, बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम की सौख्यपूर्ण प्राचीन संस्कृतियों अब केवल शब्द-हुरों के रूप में बची हैं, उनके निर्माता मर चुके हैं और यूरोपियन विद्वान् उनकी कबे खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा मोहेंजोदड़ो से महात्मा गाँधी के सुम तक कई महासाधियों का सुदीर्घ काल व्यातीत हो जाने पर भी सशुण्ण है। संस्कृत आज भी पवित्र-मण्डपों में आई-नील हजार वर्ष पहले की मूर्ति मिली, पढ़ी, बोली और समझी जाती है। अनेक सामाजिक परिवर्तन होने पर भी प्रजासत्ता में अंगित वैचारिक विधि लगभग वही हजार वर्ष से एक-जैसी है। भारतीय समाज का आधार और आकाशार्थ रामायण, महाभारत के समय से लगभग वही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न समयों में नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती रही, वे भारत पर अपना अवर्धस्त प्रभाव डालती रही; इस पर ईरानी, यवन, शक, पल्लव, कुशाण, हूण, अरब, तुर्क, पठान, मंगोल व यूरोपियन जातियों के आक्रमण हुए; किन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति

को परम्परा का कर्मी खत नहीं हुआ। समरीका के प्रसिद्ध लेखक विल ह्यूरेण्ट ने भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—“यहाँ ईसा से २६०० वर्ष पहले या इससे भी पहले मोहेन्जोदड़ो से महात्मा गांधी, रमण और टैमोर तक उन्नति और सम्पत्ता का धानदार मिलसिला जारी रहा है। ईसा से साठ शताब्दी पहले उपनिषदों से आरम्भ होकर ईसा के साठ सौ वर्ष बाद शकर तक ईश्वरवाद के हजारों रूप प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक यहाँ हुए हैं। यहाँ के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पहले ज्योतिष का आविष्कार किया और इस जमाने में भी नोबल पुरस्कार जीते हैं। कोई भी लेखक मिस्र, येलीसोनिया और असीरिया के इतिहास की भाँति भारत के इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भारत में इतिहास का सभी तक निर्माण हो रहा है, उसकी सम्पत्ता अब भी विकासशील है।” महाकवि शकबाज ने इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लिखा था—“यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गए जहाँ से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।” यह ‘कुछ बात’ क्या है, अगली विशेषताओं से भली-भाँति स्पष्ट हो जायगी।

आनुकूल्य—भारतीय संस्कृति के दीर्घ जीवन का रहस्य उसकी तीन विशेषताओं में छिपा हुआ है—आनुकूल्य, सहिष्णुता, बहुलधीयता। आनुकूल्य का अर्थ है—अपने की परिस्थितियों के अनुकूल बनते रहना। जीव-शास्त्र का यह नियम है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होते हैं, जिनमें यह विशेषता पाई जाती है। भूतल पर पहले हाथियों से भी कई गुना बड़े भीमकाय जानवर रहते थे, वे जीवन-संघर्ष की प्रतियोगिता में समाप्त हो गए; क्योंकि नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर वे अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके। संस्कृतियों पर भी यही नियम लागू होता है। मिस्र, मेक्सिको और ईरान की संस्कृतियाँ विदेशी आक्रमणों में अपने को नहीं संभाल सकी, उनका अन्त हो गया, किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण इन सब विषम परिस्थितियों में उपयुक्त परिवर्तन करती हुई जीवित रही। हमारे धर्म, समाज, आचार-विचार में निरन्तर अन्तर आता गया, किन्तु यह इतना अन्तः-धर्म और सूक्ष्मता से हुआ कि हमें उसका विलकुल ज्ञान नहीं। वैदिक युग से वर्तमान युग तक पहुँचते-पहुँचते हम काफी बदल चुके हैं, जैसे उस समय में हमारा धर्म-मन्त्र-प्रधान था, आज भक्ति-मूलक है। इसी प्रकार विभिन्न आक्रान्ताओं के आने से जो नवीन परिस्थिति पैदा हुई, उसमें भी इसी अनुकूलता ने भारतीय संस्कृति को बचाये रखा। यह स्मरण रखना चाहिये कि गुप्त युग से भारत के भौतिक आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आया। मुसलमानों और अरबों के शासन-काल में शिक्षित वर्ग द्वारा विजेताओं का रहन-सहन, वेश-भूषण और भाषा आदि ग्रहण करने पर भी भारत ने अपने परम्परागत धर्म और सामाजिक कदियों का परिष्कार नहीं किया, इस्लाम और ईसाइयत को अंगीकार नहीं किया।

सहिष्णुता—यह भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। विजेताओं से प्रायः सहिष्णुता होती है, पुराने जमाने में सब धर्मों और जातियों में यह भावना

उस रूप से पाई जाती थी। यूनान में मुकरात को इसीलिए जहर का प्याला पीना पड़ा था, किलस्तीन में इसी कारण ईसा को मूली पर लटकना पड़ा था। प्राचीन इतिहास में सम्भवतः भारत ही एक मात्र ऐसा देश था, जहाँ हिंसा और पराजय का प्राधान्य नहीं रहा। सामान्य विजेताओं की नीति प्रायः विध्वंस और विनाश की होती है। युरोपियनों ने अमरीका में मय संस्कृति का अन्त किया, अरबों ने भिन्न की यूनानी और ईरान की पुरानी सभ्यताओं की समाप्ति की। धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर किन्तु अपने ही धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर भी भीषण अत्याचार किये, उनसे युरोपियन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्तचरित हैं। सोलहवीं शती में चालीस प्रथम के शासन-काल में केवल हावैड में रोमन कैथोलिकों से भिन्न सिद्धान्तों वाले जिन प्रोटेस्टेण्टों को बिना पर जलाकर या अन्य ढंगों से मारा गया, उनकी संख्या पचास हजार थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह कम-से-कम अन्दाजा है। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम ने १५४४ ई० में अपनी मृत्यु से पूर्व आत्म्य परीक्षा-माला के तीन हजार निरीह निःशस्त्र कृषकों के कले-खाम की आशा देकर धार्मिक शान्ति प्राप्त की। उनका एक साथ अपनाय यह था कि वे ईसाइयत के मूल सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए योग तथा पावरियों की प्रभुता नहीं मानते थे। इस प्रकार की दारुणतम घटना फ्रांस में उस समय हुई जब कि एक ही रात (२३-२४ अगस्त १५७२ ई०) को पेरिस में दो हजार ब्राह्म जनाटो (थीव प्रोटेस्टेण्टों) का बध किया गया। समूचे फ्रांस में एक महीने तक यह क्रूर हत्याकाण्ड चलता रहा। इस अल्प काल में ही सत्तर हजार नर-नारियों और छोटे-छोटे शिशुओं की धर्म के नाम पर बलि चढ़ाई गई। यह सब इसलिए हुआ कि रोमन कैथोलिक यह नहीं चाहते थे कि कोई उनसे भिन्न विश्वास रहे।

किन्तु भारत में प्रारम्भ से ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रचल रही। सबको धार्मिक विश्वास और पूजा-विधि की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। ऋग्वेद में कहा गया था—एक साक्षिप्रा बहुधा वदन्ति (एक ही भगवान् का शान्ति-नाम का से बहूत करते हैं)। गीता में इसी विचार को परावाण्ड तक पहुँचाया गया है। भगवान् कृष्ण को इस कथन से ही संतोष नहीं है कि 'यि यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तर्पेय भवाम्यहम्।' किन्तु उन्होंने यहाँ तक भी कहा है कि अन्य देवताओं की अद्यावृत्त उपासना करने वाले भी मेरा ही भजन करते हैं। (६/२३) असीक ने इस सत्य पर बल देते हुए कहा—'समवाय एव साधु'। भारतीयों का यह विश्वास था कि भगवान् एक शक्तिवत्, अच्युत, सर्वशक्तिमान् सत्ता है, विविध प्रकार की उपासनाएँ उस तक पहुँचने के मार्ग हैं। जब सत्य एक है तो मार्गों के बारे में क्या भ्रमण किया जाय। यही कारण है कि यहाँ सभी पन्थ प्रीतिपूर्वक रहते रहे। इस सहिष्णुता से धार्मिक धर्मों ने अपने-अपने अनादौ और विधियों की उपासना-विधियाँ भी स्वीकार की। भारत ने विदेशों से धार्मिक अत्याचारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, यहूदियों और सौरिपन ईसाइयों को अपने यहाँ उदारतापूर्वक शरण दी। इसी से धर्म-विशिष्ट आचार-

विचार और धार्मिक-विश्वासों वाली भारत की जातियों में न केवल एकता उत्पन्न कर सके, प्रत्युत भारत में अपनी संस्कृति का प्रसार करने में भी समर्थ हुए।

ग्रहणशीलता—सहिष्णुता से भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता या सारम्भी-कारण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसका आधाय यह है कि भारत में जो नये तत्त्व आते गए, भारतीय उन्हें पचाकर अपना धर्म बनाते गए। खरीर तभी तक बढ़ता है जब तक वह खाई जाने वाली वस्तुओं को अपना धर्म बनाता रहे। भारतीय संस्कृति का उस समय तक उत्कर्ष होता रहा जब तक वह बाहर से आने वाले सब तत्त्वों को पचाती रही। प्राचीन काल में उसने ईरानी, यूनानी, शक, यहूदी, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी तत्वों को आत्मसात् कर लिया। जातियों को पचाने के प्रतिरिक्ता, उसने दूसरी संस्कृतियों के सुन्दर तत्व ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। भारतीय ज्योतिष और कला के यूनानी तथा इस्लामी प्रभाव से समृद्ध होने का पहले उल्लेख किया जा चुका है, वर्तमान काल में उसने यूरोप से बहुत-कुछ सीखा है।

इस ग्रहणशीलता के कारण भारत में जितना वैविध्य, विचित्रता और व्यापकता दिखाई पड़ती है, उतनी शायद ही किसी दूसरे देश में हो। हमने ग्रहणशीलता के कारण जो कुछ आया उसे रग लिया और सहिष्णुता के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यही कारण है कि जैसे हमारे देश में सब प्रकार का जल, वायु, वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी पाये जाते हैं वैसे ही सब प्रकार के धार्मिक विश्वास, तथा रहन-सहन के ढंग भी मिलते हैं। श्री कृपतानी ने इस विशेषता का बड़े मनोरंजक ढंग से प्रति-पादन किया है—“हमारा भोजन और पोशाक हर मुग में बदलती रही है। पहले दाल-भात और रोटी भोजन था फिर लिचड़ी आई; पठान, मुगल और तुर्क पुलाव, कुरमा तथा कबाब लाये, यूरोपियों ने चाम, केक, डबल रोटी, बिस्कुट लाये, ये सब भारत में बिना कोई भयका किये सान्तिपूर्वक रह रहे हैं। खाने के बर्तनों का भी यही हाल है। पहले केले के तथा दूसरे पत्ते, मिट्टी और घातु के बर्तन थे, फिर मुसलमानों का सौटा बाका और अन्त में चीनी के बर्तन, अम्भच और खुरी-कटि। ये सब भी इकट्ठे चल रहे हैं। तम्बाकू पीने तक के ढंग में एकता नहीं है, इसमें हुस्के से चिलम, बीड़ी, सिगरेट, सिगार और पाइप तक सब फैशन चलते हैं।—संक्षेप में मानव जाति को विभिन्न हिस्सों में बाँटने वाले सब पन्थ यहाँ पाए जाते हैं। सब प्रकार की पूजा-पद्धतियाँ यहाँ प्रचलित हैं। प्राचीन काल के वेद, कपिल और आर्वाक से आधुनिक युग के इन्द्रात्मक भौतिकवाद तक सब विचारधाराएँ और दर्शन यहाँ मिलते हैं।”—सब प्रकार के वैयक्तिक कानून यहाँ प्रचलित हैं। विवाह पवित्र संस्कार है और दम्पति से लोड़ा जाने वाला सम्बन्ध-साथ भी। बहुवस्तीत्व भी है और बहुपतित्व भी। पुराने चार नरुँ भी हैं और वे चार हजार जातियों तक जा पहुँचे हैं। जो प्रजा, संस्था या व्यवस्था एक बार ग्रहण की जाती है, उत्पन्न हो जाती है, वह कभी नष्ट नहीं होती। भारतीय संस्कृति की विशेषता ग्रहण और संरक्षण है, विनाश और विध्वंस नहीं। यहाँ का मुख्य सिद्धान्त ‘जियो और जीने दो’ का है।

भारत इसी से घटीत में घमर रहा है और जब तक वह इसका ध्यान करेगा, घमर बना रहेगा।"

सर्वांगीणता—भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देना था। उसका लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करना था। वहाँ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के विकास पर समान बल दिया गया। पुराने यूनानियों की दृष्टि शारीरिक और मानसिक उन्नति से घागे नहीं गई। सुकरात का आत्मा को पहचानने का उपदेश वहाँ बरधुप-रोदन ही सिद्ध हुआ। आज पश्चिमी संस्कृति भी भौतिकवाद में आपाद-मस्तक निमग्न है। उसने प्रकृति के अधिकांश रहस्य हँड लिए हैं, उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों की खोज डाला है, घमोका के घने जंगल और भू-मण्डल के सब सागर मस डाले हैं। सब प्रकार के विज्ञानों के अनुसन्धान द्वारा भूतल की प्रत्येक वस्तु को समझने का प्रयत्न किया है, यदि उसने किसी विज्ञान का विकास नहीं किया तो वह है आत्म-विज्ञान। किन्तु भारत में प्राचीन काल से शरीर, मन और आत्मा के सामं-जस्यपूर्ण विकास को जीवन का ध्येय माना गया था। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ प्राप्त करने का बल करना चाहिये। ये हैं—धर्म, धर्म, काम और मोक्ष। इनमें पहला और अन्तिम आधिमिक विकास के लिए था और दूसरा तना तीसरा शरीर और मन की उन्नति के लिए। इनकी समुचित प्राप्ति के लिए जीवन चार आश्रमों में बाँटा गया था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ पहले तीन पुरुषार्थों के लिए थे और अन्तिम दो आश्रमों में मोक्ष-प्राप्ति का बल किया जाता था। प्रायः भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक तत्त्व की प्रधानता मानी जाती है; किन्तु अपने सर्वोत्तम काल में उसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्त्वों पर समान रूप से बल दिया। धर्म और मोक्ष का पालन उसना ही आवश्यक था, जितना कि धर्म और काम का सेवन। यह कहा जाता था कि चारों की प्राप्ति का प्रयास समान रूप से करना चाहिए, जो एक का ही सेवन करता है, वह निन्दा का पात्र है (धर्मोर्चकामाः सममेव निन्दा, जो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः)। मनुष्य का आदर्श सर्वांगीण विकास है, वह न तो धर्म की उपेक्षा करे और न ही काम और धर्म की ओर अधिक ध्यान दे। जब तक भारतीय संस्कृति ऐहिक और आधिमिक दोनों तत्त्वों पर समान ध्यान देती रही, उसका उत्कर्ष होता रहा। उसके पतन का सूचपात उसी काल से आरम्भ हुआ जब उसने दोनों के उचित सामंजस्य और समन्वय की ओर ध्यान न देकर केवल परलोक की ही चिन्ता की।

संघर्षशीलता—भारतीय संस्कृति पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि संन्यास और वैराग्य के तत्त्वों पर बल देने के कारण वह निष्क्रियता की प्रोत्साहित करती है। किन्तु दूसरे सारनाम में यह बताया जा चुका है कि प्राचीन काल में इसका भूत मन्त्र निरन्तर आगे बढ़ने की भावना थी, उसने प्रोत्साहनी भावों की प्रभातता थी। 'कुम्भारतो विश्वमार्यम्' का ध्येय लिए हुए वह दुनिया की किसी आकृतिक या

मानवीय भाषा के आगे द्वार मानने को तैयार नहीं थी। उसे अपने पुरुषार्थ को सफलता में पूरा विश्वास था, उसमें वह पराक्रम, साहस, महत्वाकांक्षा, ऊँची कल्पना, विघाल दृष्टि, आगे बढ़ने की उमंग थी, जो मनुष्य को नये देश खोजने और जीतने की तथा नई जिम्मेदारियाँ उठाने की प्रेरणा देती है। प्राचीन संस्कृति में लगभग वही शोजनिष्ठा और महाप्राणता थी, जो मध्य काल में अरबों ने प्रदर्शित की और आजकल यूरोपियन जातियाँ दिखा रही हैं।

जगद्गुरु—संचरणशीलता के कारण भारतीय संस्कृति का विदेशों में अमृत-पूर्ण प्रसार हुआ। दुनिया की किसी दूसरी प्राचीन संस्कृति ने इतने बड़े भाग को प्रभावित नहीं किया। सिल्वे नेवी के शब्दों में "ईरान से चीनी समुद्र तक, साइबेरिया के तुफारावृत प्रदेशों से जावा, बोर्नियो के टापुओं तक, प्रशान्त महासागर के द्वीपों से सोकोत्रा तक भारत ने अपने धार्मिक-विश्वासी, कथा-साहित्य और सभ्यता का प्रसार किया। उसने मानव जाति के चतुर्थांश पर अनेक शतियों के सुदीर्घ काल तक अपना अमिट प्रभाव डाला।" एशिया के अधिकांश भाग में संस्कृति और सभ्यता का घालीक फैलाने वाले भारतीय ही थे। यही उस समय का ज्ञात जगत् था, अतएव भारत को जगद्गुरु कहा जाता है।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण, गुप्त युग तक भारत ने असाधारण उन्नति की, उसके बाद अवनति प्रारम्भ हुई। पहले ग्रन्थियों में उत्कर्ष और अन्तर्गत के कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि संकीर्णता और अनुदारता की वृत्तियाँ, धर्म तथा परलोक की अत्यधिक चिन्ता, मोह-निद्रा और भ्रम्याभिमान, अन्ध-विश्वासों और संकुचित मनोवृत्तियों का प्राधान्य इसके मुख्य कारण थे। इनसे मध्य एवं वर्तमान युग में प्राचीन काल की भाँति हमारी अग्रणी की स्थिति नहीं रही।

भारतीय संस्कृति का भूत अत्यन्त उज्ज्वल है, भविष्य की उपर्युक्त भूलों से बचते हुए और भी अधिक शौर्यपूर्ण बनाया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, इस विषय में हमारा उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। प्राचीन काल में भारत ने लगभग सारे एशिया में ज्ञान की ज्योति जलाई थी, छठी सती ई० तक विदेश का नेतृत्व किया था। इसके बाद हम प्रगाढ़ मोहनिद्रा में पड़ गए। गैरज्ञ शक्तियों के सुदीर्घ विद्याम के बाद हम आज फिर जगे हैं; किन्तु इस बीच में दुनिया में आधुन-भूत परिवर्तन हो चुके हैं।

इस समय ज्ञान का सूर्य पश्चिम में चमक रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव-जीवन का काया-रूप हो गया है। विज्ञान ने मनुष्य को ऐसा गुरु-मन्त्र प्रदान किया है, जिससे प्रकृति की कुछ शक्तियों के द्वार सहज में खुल जाते हैं, देवताओं की धनीयक शक्ति सुव्यवस्था से प्राप्त हो जाती है। हमारे देश की पुरानी परिपाटी यही है कि हम दूसरों के अत्येक ज्ञान और संपादों को ग्रहण करें तथा उसमें बुद्धि

करके, उसे दूसरे देशों को दें। जो कार्य भारत ने पहले गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में किया, वह आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में होना चाहिए। इसी प्रकार भारत दूसरों का गुल बन सकता है और अपने जगद्गुरु होने की प्राचीन परम्परा को धरातल रख सकता है।

किन्तु इसमें मध्य युग की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अवश्यतः बाधक हैं। आज हमें संकीर्ण एवं धनुवार भावों को तिलाञ्जलि देनी होगी, मिथ्याभिमान का तर्पण और धन्य-विश्वासों की होमनी करनी होगी। जातीय जीवन को दुर्बल बनाने वाले घमण्ड, श्रद्धादि कलकों का परिमार्जन करना होगा। कर्मयोग की विचारधारा को प्रधानता देनी पड़ेगी। परलोक से इहलोक की ओर मुँह मोड़ना होगा। इसको यह कहकर धक्केलना नहीं की जा सकता कि यह तो जड़वाद की ओर कदम बढ़ाना है। पश्चिम में विज्ञान की दृष्टि दानवी शक्ति की ओर संकेत करके अध्यात्मवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि प्राचीनता में केवल संयम है, गति नहीं। प्राथुनिकता में केवल गति है, संयम नहीं। एक जगह समान है, थोड़ा नहीं; दूसरी जगह थोड़ा है, खगाम नहीं। यूरोप ने गतिशील विज्ञान का आश्रय लेकर संयम-प्रधान धर्म को छोड़ दिया है। अतएव वहाँ धनुबम आदि के रूप में सृष्टि का संहार करने वाली कड़ की चरम मूर्ति प्रकट हो रही है।

यह सत्य है। किन्तु अध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद दोनों आवश्यक हैं। दोनों का उचित सामंजस्य होना चाहिए। प्रकृतिवाद अध्यात्मवाद के बिना अध्यात्मवाद प्रकृतिवाद के बिना लंगड़ा है। 'धन्यपंगुन्याय' से दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। धर्म का लक्ष्य पारलौकिक ही नहीं किन्तु ऐहिक उन्नति भी है। 'पतोऽन्मुदमनिःश्वेयसन्निदिस धर्मः' जिससे इहलोक और परलोक दोनों में उत्कर्ष हो, वही धर्म है। पश्चिम में धर्म और उत्पात इसलिये है कि वहाँ केवल जड़वाद है, भारत में दुष्ट और इन्द्र का कारण यह है कि वहाँ केवल योग साधन और प्राणागाम है। शिवकानन्द कहा करते थे—“भारत को विद्वान् भुजाने की आवश्यकता है, पश्चिम को अध्यात्म सीखने की जरूरत है।”

आजकल प्राचीन संस्कृति के मूलस्वरूप पर बड़ा बल दिया जा रहा है। किन्तु यदि इसका अन्तगम केवल इतना ही हो कि हम उस संस्कृति की गौरव-गाथा का गान करें, उस पर अभिमान करके, उससे सन्तुष्ट होकर बैठ जाएँ तो यह उनके साथ और अन्याय होगा। मिथ्याभिमान मध्ययुग में हमारी निष्क्रियता और पतन का कारण बना, आज भी वह हमारी उन्नति में बाधक होगा। हमारे पूर्वज भले ही बहुत बड़े हों, किन्तु सोचना तो यह है कि हम क्या हैं? यदि वे संसार के नेता थे तो हमारा उनके बराबर होने का अभिमान तभी सार्थक होगा, जब हम भी अपने प्रपत्नों से देश की सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न करें और उसे फिर जगद्गुरु बनाएँ।

यह काम कोरी बातों का नहीं, किन्तु उनकी भावनाओं और गुणों—संचरणशीलता, सहिष्णुता, सहृदयशीलता, समन्वय, निरन्तर कर्मशीलता आदि—के धारणाने और उदात्त आध्यात्मिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने से होगा।

पाप संसार के उद्धार की भाषा भारतीय संस्कृति पर है। इस समय यूरोपियन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा से तृतीय विश्व-युद्ध के काले बादलों की घटा छा रही है, चारों तरफ घनान्धकार फैला हुआ है, मानव अपने सर्वनाश की आशंका से भयभीत और संवस्त है। किन्तु इस धीरे-तिमिर में भारतीय संस्कृति तथा उसकी आध्यात्मिकता ही एक-मात्र प्रकाश की किरण है, घने बादलों में आशा की चमकीली रेखा है। विश्व को भस्म कर देने वाले महायुद्धों में प्रचण्ड दावानल को बुझाने का सामर्थ्य यूरोपियन राष्ट्रों या संयुक्त राष्ट्र संघ के पास नहीं। यह अन्त-राष्ट्रीय परिपक्वों और संधियों से भी नहीं शान्त हो सकता। उसे भारतीय संस्कृति, अहिंसा तथा वापु के उपदेशामृत पर आचरण ही बुझा सकता है। विश्व शान्ति की समस्या का हल भारत के ही पास है। अतः भारतीय संस्कृति का भविष्य भूत की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है।

सामान्य प्रश्नावली

पहला अध्याय

१. संस्कृति और सभ्यता का क्या अभिप्राय है ?
२. 'भारतीय संस्कृति सम्मिश्रण का परिणाम है' इसे स्पष्ट कीजिये ।
३. भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता पर प्रकाश डालिये ।
४. विभिन्न युगों की भारतीय संस्कृति का विहंगम परिचय कीजिये ।

दूसरा अध्याय

१. भारत की प्रधान नस्लें कौन सी हैं ?
२. धार्मिक और द्रविड़ नस्लों ने भारतीय संस्कृति को किस प्रकार समृद्ध किया है ?
३. सिन्धु संस्कृति का संक्षिप्त परिचय कीजिये ।

तीसरा अध्याय

१. वैदिक साहित्य का प्रतिपादन कीजिये, उसका निर्माण काल क्या समझा जाता है ?
२. वैदिक युग के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालिये ।

चौथा अध्याय

१. रामायण और महाभारत का भारतीय संस्कृति में क्या महत्त्व है ?
२. उपर्युक्त दोनों महाकाव्यों का कब निर्माण हुआ ?
३. इनसे भारतीय संस्कृति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

पाँचवाँ अध्याय

१. जैन और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के समय भारत की क्या स्थिति थी ?
२. जैन धर्म के प्रवर्तक की जीवनी और शिक्षाओं का वर्णन कीजिये ।
३. महात्मा बुद्ध के जीवन और उपदेशों का परिचय कीजिये ? हीनयान, महायान; विपश्चित तथा चार बौद्ध सभाओं पर प्रकाश डालिये ।
४. बौद्ध धर्म की सफलता के क्या कारण थे ? इसका भारतीय संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

छठा अध्याय

१. भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म की पिछले धर्म से क्या विशेषता थी ? इसका विकास कितने कालों में घटा जाता है ? इसका आरम्भिक स्वरूप क्या था ?
२. भागवत या वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

सातवां अध्याय

१. दर्शन का भारतीय संस्कृति में क्या महत्त्व है, उसका ऐतिहासिक विकास किस प्रकार हुआ ?
२. नास्तिक दर्शन कौन से हैं ? उनके प्रधान सिद्धान्त क्या हैं ?
३. छः नास्तिक दर्शनों के प्रमुख ग्रन्थों तथा भाष्यकारों का परिचय देते हुए इन में से किन्हीं दो के मुख्य सिद्धान्त बताइये ।

आठवां अध्याय

१. मौर्य-सातवाहन युग की सामान्य विशेषतायें बताइये ।
२. इस युग में साहित्यिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन का विकास किस प्रकार हुआ ?

नवां अध्याय

१. गुप्त युग की भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है ?
२. इस युग की साहित्यिक, सामाजिक और आर्थिक दशा किस प्रकार की थी ?

दसवां अध्याय

१. भारतीय संस्कृति भारत से बाहर किन देशों में फैली ? इसका प्रसार किन कारणों से हुआ ? इसे फैलाने वाले कौन थे ?
२. चीनका, मध्य एशिया, चीन, जापान तथा तिब्बत में भारतीय संस्कृति कब और कैसे पहुँची ?
३. दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार कब और कैसे हुआ, वहाँ भारतीयों ने कौन से अन्तिमालो राज्य स्थापित किये ?
४. पश्चिमी जगत् पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ा ?

ग्यारहवां अध्याय

१. मध्य युग के साहित्य और विज्ञान का परिचय दीजिये ?
२. मध्य युग में किन कारणों से वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास की प्रगति मन्द पड़ने लगी ?

बारहवाँ अध्याय

१. इस्लाम का भारत में प्रवेश किस प्रकार हुआ ? मुसलमान, यूनानी, शक, हण आदि आक्रान्ताओं की भाँति भारतीय संस्कृति ग्रहण कर के हिन्दू समाज में ही क्यों नहीं धुल-भिल गए ?
२. इस्लाम का भारतीय संस्कृति पर धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा ?

तेरहवाँ अध्याय

१. प्राचीन भारत में मुख्य रूप से कौन सी शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं ?
२. वैदिक युग या मौर्य युग की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालिये ।
३. प्राचीन भारत में राजतन्त्र पर जो प्रतिबन्ध थे, उनका वर्णन कीजिये ।
४. प्राचीन काल में भारत में कौन से गणराज्य थे ? इनकी कार्य-प्रणाली वर्णन कीजिये ।

चौदहवाँ अध्याय

१. भारतीय कला की क्या विशेषताएँ हैं ?
२. मौर्य युग की कला पर प्रकाश डालिये । भारहुत, साँची, मथुरा, समरावत और गान्धार कला-शैलियों का परिचय दीजिये ।
३. गुप्त युग में भारतीय मूर्ति और चित्र-कला कपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी, इस उक्ति को पुष्ट कीजिये ।
४. मामलपुरम, इलोरा, घाटापुरी, कोरोबुदुर, खजुराहो, देलवाड़ा और भुवनेश्वर के कला-बैभव का परिचय दीजिये ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१. प्राचीन भारत में शिक्षा की क्या पद्धति प्रचलित थी ? शिक्षा किस प्रकार दी जाती थी ? इसका क्या आदर्श था ?
२. तक्षशिला, नालन्दा, बलभी, शिकमाशिला, उदयपुरी के विश्वविद्यालयों का परिचय दीजिये ।

सोलहवाँ अध्याय

१. आधुनिक भारत में तब जागरण किन कारणों से हुआ है ?
२. उन्नीसवीं शती में भारत में कौन से धर्म-मुबार आन्दोलन हुए ?

३. वर्तमान युग की साहित्यिक, कलात्मक और वैज्ञानिक उन्नति का परिचय दीजिये। सामाजिक क्षेत्र में कौन से आविष्कारी परिवर्तन हुए हैं ?
४. पश्चिम का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

सत्रहवाँ अध्याय

१. भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?
२. वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति का क्या महत्त्व है ?

पहला परिशिष्ट

संस्कृति-विषयक संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल
संकेत प्र०-ग्रन्थ, ल०-लगभग, ले०-लेखक, र०-रचना काल, मृ०-मृत्यु काल

- अग्निपुराण—८००-६०० ई० (हरप्रसाद शारदा) ।
अभिनव गुप्त—२० ६६३-१०१५ ई० ।
अमरसिंह—४० अमर कोश ४००—४५० ई० ।
अमरक—नवीं श० से पूर्व ।
अश्वघोष—१वीं श० ई० ।
अश्वघोष—१वीं श० ई० ।
अश्वघोष—१वीं श० ई०, नारद स्मृति का टीकाकार ।
असंग—१० ४५० ।
आनन्दवर्षण—६वीं श० ।
आपस्तम्ब—६००-३०० ई० पू० (कारण)
आपस्तम्ब—३री श० ई०, सांख्यिक सम्प्रदाय के आचार्य ।
आपस्तम्ब—४० ४७६ ई०, २० ४६६ ।
ईश्वर कृष्ण—५० सांख्य कारिका ५५७-८३ ई० में भीमो अनुवाद ।
उदयनाचार्य—१० ६८४ ई०, प्रसिद्ध नैयायिक प्र० कुमुदानन्दानि, न्यायशास्त्रिक की टीका ।
उद्योतकर—६३५ ई०, प्र० न्याय दर्शन पर टीका ।
उमानाथानि—मृ० ८५ ई०, जैन दार्शनिक, प्र० तत्त्वार्थप्रियम ।
आग्नेय—१२०० ई० पू० मैक्समूलर, २५०० ई० पू० विष्टरमिडज, ४००० ई० पू० तिलक और याकोबी, अविनाश-चन्द्र दास २५००० ई० पू० ।
कपालरिस्तागर—ले० सोमदेव २० १०६३-८२ ई० ।
कपिल—८००-५०० ई० पू० (विष्टरमिडज) सांख्य दर्शन का प्रणेता ।
कमलाकर भट्ट—१६१०-४० प्र० निर्गुन-सिन्धु ।
कन्हन—४० राजतरंगिणी, २० ११४८-५० ई० ।
कातन्त्र—ले० धर्मचर्मा, १वीं श० ई० ।
कात्यायन स्मृति—४००-६०० ई० ।
कामन्दक—३००-३५० ई० प्र०, नीतिसार ।
कालिदास—२री श० ई० पू० दास गुप्ता, १वीं श० ई० पूर्व विन्तामिनि वैत ।
३८०-४६३ भण्डारकर । पाँचवीं श० ई० पाठक । ६ठी श० ई० मैक्समूलर ।
कुमारदास—३००-३५० ई० ।
कृत्तुक भट्ट—११५०-१२०० ई०, ल०, मनुस्मृति का टीकाकार ।
कूर्म पुराण—२री श० ई० (हरप्रसाद-शारदा) ।
कंसट—भृगुभाष्य की प्रदीप टीका का काल १००० ई० के बाद ।

महाभरत भट्ट—लगभग १६५० ई०, नव्य-
न्याय के आचार्य ।

महर्षि पुराण—१३वीं श० ई० (ह० प्र०) ।

मंगेश जगन्नाथ—१३७६ ई०, नव्य न्याय
के प्रवर्तक ।

गृह्य सूत्र—८००-४०० ई० पू० ।

गोवर्धनाचार्य—आर्यसप्तशती ११५०-
१२०० ई० ।

गौड़पादाचार्य—न० ७८० ई० ।

गौतम—न्यायसूत्रकार, ४वीं श० ई० पू० ।

गौतम धर्मसूत्र—६००-४०० ई० पू०
(काण्ये) ।

जगन्नाथ—लगभग १०५० ई०, मुम्बत
टीकाकार, चिकित्सा-संग्रह का लेखक ।

जबरक—१ली श० ई० कनिष्क का राजवैद्य ।

जगन्नाथ—१३१४ ई०, धर्मशास्त्रकार ।

जगन्नाथ—७वीं श० ई० बौद्ध वैवाकरण ।

जगन्नाथ तर्कालंकार—१६२५ ई०, प्रसिद्ध
नव्य नैयायिक ।

जगन्नाथ तर्क पंचानन—न० १८०६
ए० विद्यादासवंसेतु ।

जगन्नाथ पण्डितराज—उत्कर्ष-काल
१६२०-५०, ए० रस गंगाधर, गंगा
सहरी ।

जगन्नाथ—१२०० ई०, ए० गौतम गोविन्द ।

जगन्नाथ—न० ६३२, ए० काशिका ।

जगन्नाथ बुद्धि—न० ६०० ई०, जैन
व्याकरण ।

जगन्नाथ—११००-५०, ए० दासभाष
व्यवहार भाषाकार ।

जगन्नाथ—मीमांसा सूत्रकार ५००-२००
ई० पू० ।

जगन्नाथ—११वीं श०, मुम्बत का टीकाकार ।

तर्कभाषा—ले० जगन्नाथ मिश्र १२७२ ई०

तत्त्वसिद्धि—२३५० ई० पू० (तिलक)

वाङ्मय—न० ६४०-४५० ई० ।

विद्वत्पात्र—न० ५०० ई०, बौद्ध
नैयायिक, ए० प्रमाण समुच्चय, न्याय
प्रवेश ।

विद्वत्पात्र—१ली श० ई० ।

वृद्धवत्—नवीं श०, चरक-संहिता का
संशोधक ।

देवनागरी भट्ट—न० ११२५-१२२५
ए० स्मृति चन्द्रिका ।

देवनागरी स्मृति—४००-६०० ई० ।

धनपाल—२० ई० ई०, तिलक-मन्त्रालय ।

धनपाल—न० ६६७ ई०, ए० दत्तक

धर्मकोटि—न० ६३५ ई०, ए० प्रमाण
वातिक ।

नागार्जुन—३३ ई० पू० से ३०० ई०, ए०
माध्यमिक कारिका प्रज्ञाप्रामिता ।

नागार्जुन—न० (१७००-५०), ए०
शब्देन्दुसुखर ।

नारद पुराण—५००-६०० ई० ।

नारद स्मृति—१००-४०० ई० ।

नाथनीलक—४वीं श० ई० का आधुनिक
का भाष्य एशिया से मिला गया ।

निर्दिष्ट वाक्कायाय—८००-५०० ई०,
७०० ई० पू० वेदवत्कार ।

नीलकण्ठ भट्ट—(१६१५-४५ ई०), ए०
व्यवहार मयूख ।

पञ्चतन्त्र—हर्ष के मतानुसार, इसका
मूल तन्त्राख्यायिका २०० ई० पू०
की रचना है ।

- पतञ्जलि—१५० ई० पू० ।
 प्रबोध-चन्द्रोदय—ले० कृष्णमिश्र, १०५०
 १११६ ई० ।
 प्रशासतपात्र—१वीं श० ई० (कीच) ।
 पराशर स्मृति—१००-५०० ई० ।
 पाणिनि—५०० ई० पू० (विष्णुनिम्ब) ।
 ३५० ई० पू० (कीच) ।
 पुराण—इनका काल-निर्णय बहुत कठिन
 है। इनके दो प्रधान वर्ग हैं (१) पहले
 पुराण—वायु, विष्णु, मार्कण्डेय, कूर्म,
 श्रीर मत्स्य, ये ३००-६०० ई० में
 बने किन्तु इनका बहुत-सा अंश
 ३०० श० ई० से भी बहुत पहले
 का है (२) विष्णु पुराण-विष्णु, वराह
 बृहन्नारदीय, मत्स्य, स्कन्द, ब्रह्म,
 अविष्णु ६००-१००० ई० ।
 बाणभट्ट—६४८ ई० ।
 बिल्हण—१०३०-११००, श० विक्रमादित्य
 देवचरित ।
 बृहत्कथा ले० गुणादय—२री श० ई० ।
 बृहद्देवता—४थी श० ई० पू० कीच ।
 बृहत्संहिता स्मृति—२००-४०० ई० ।
 बौधायन धर्मसूत्र—५००-२०० ई० पू०
 ब्रह्मसूत्र—५६०-६६५ ई०, श० ब्रह्म स्मृत
 सिद्धान्त ।
 ब्राह्मण धर्म—रचना-क्रम ऐतरेय, तैत्तिरीय,
 जैमिनीय, ईश्वरिष, कौषीतकी शतपथ,
 शौण्य, २०० ई० पू० (कीच) ।
 भगवद्गीता—२०० ई० पू० (विष्णु-
 निम्ब) ५०० ई० पू० (विष्णु) ।
 भट्टि—३वीं श० ई० ।
 भरत—पहली श० ई०, श० मातृमयास्व ।
 भर्तृहरि—वाक्यपदीय २० ६५१ ।
 भवभूति—३००-३५० ई० ।
 भामह—६ठी शती मध्य ।
 भारवि—५७५ ई० ।
 भागवत पुराण—नवीं श० ई० ।
 भावप्रकाश—ले० भाव मिश्र, १५५०
 ई० ।
 भास—गणपति वाक्पदी ६ठी श० ई०
 पू०, दासगुप्ता ३री श० ई० पू०;
 बानेट ७म श० ई० ।
 भास्कराचार्य—८० सिद्धान्त शिरोमणि
 २० ११५० ई० ।
 मदनमाल निघण्टु—२० १२६०-२० ई० ।
 मध्वाचार्य—११६६-१२७० ई० के
 प्रसारक ।
 मनुस्मृति—२०० ई० पू०—२०० ई० ।
 मम्मट—लगभग ११०० ई० ।
 मल्लिनाथ—१४५० ई० ।
 महामारत—४०० ई० पू०—४०० ई०,
 २०० ई० पू० के लगभग पू०
 (कीच, जगन्निम्ब) ।
 महाभारत—१ली श० ।
 संज्ञ—११२०-७० ई०, श० श्रीकण्ठचरित ।
 माघ—लगभग ६२५ ई० ।
 माधवाचार्य—गु० १३७२ ई० श० पराशर
 माधवीय ।
 माधव निदान—८वीं नवीं श० ।
 मुद्राराक्षस—विद्यानरत ५०० ई० (जगन्-
 नाल) धर्म, ६ठी श० ई० ।
 मुरारि—१०५०-११३५ ई० ।
 मेदिनी—४० धनेकार्थ धर्मकोष १४वीं
 शाखावी ।
 मेघातिथि—८२५-६०० ई०, मनुस्मृति का

प्रथम टीकाकार ।

मिहिरकुल—५१०-४० ई० ।

मिलिन्द—१५० ई० ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति—१००-३०० ई० ।

रघुनन्दन—१५२०-७५ ई० ।

रघुनाथ शिरोमणि—१४७७-१५४७

प्रसिद्ध मध्य नैयायिक तत्त्वचिन्तामणि
दीपति के प्रणेता ।

रस-रत्नाकार—ले० मायाकुंज, ७वीं-८वीं
श० ।

राजनिघण्टु—ले० नरहरि, १२३५-५० ई०

राजशेखर—११७ ई० काव्य सीमांसाकार

रामायण—८००-५०० ई० पू० जेकोबी,
४०० ई० पू० कीम ।

रघुट—८००-५० ई० काव्यालंकार ।

रामक—११५० ई० धर्लंकार शास्त्री ।

सहित विस्तर—दुसरी श० ई० ।

सहस्रधर—११०४-५४ ई० कलौज के
राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री, कल्प-
कल्प तर के लेखक ।

शोलिम्बराल—१६३३ ई०, ५० वीं
जीवन ।

वररुचि—(ल० २०० ई०) स० प्राकृत
प्रकाश ।

बराहमिहिर—(५०५-५८७) स०
बृहत्संहिता ।

यत्नभाष्य—१४७६-१५३१ शुद्धार्त-
वादी के लेखक ।

वर्षाष्ट धर्मसूत्र—३०० ई०-१०० ई० पू०

धनुषाधु—४८० ई० बौद्ध दार्शनिक, स०
धर्मपरम कीम ।

वाग्भट्ट—(१) बृहज्वाग्भट्ट, घण्टांग संहिता
कर्ता घाटवी श० ई० ।

(२) वाग्भट्ट-घण्टांग हृदय का लेखक
नवी श० ई० ।

वाचस्पति मिश्र—(१) ८४१ ई०, न्याय,
सांख्य योग वेदान्त के प्रसिद्ध
भाष्यकार ।

(२) लगभग १४५० ई०, प्रसिद्ध
धर्मशास्त्री विवाद-चिन्तामणि के
लेखक ।

वात्स्यायन—(१) न्यायभाष्य-प्रणेता ३वीं
श० ई० पू० ।

(२) कामसूत्र के प्रणेता २री श० ई०
पू०, कीम ५०० ई० ।

वाग्रज—८०० ई०, स० वाग्यार्त्तकार सूत्र ।

वायु पुराण—४वीं श० ई० (स्मिथ) ।

वामन पुराण—२री श० ई० (ह० प्र०)

विद्यापति—१३७५-१४५० ई० ।

विद्वन्नाथ—१३२० ई० स० साहित्यदर्पण

विद्वन्नाथ पञ्चानन—१६३४ ई० प्रसिद्ध
नैयायिक ।

विश्व रूप—८००-८२५ ई० राज० स्मृति
की वालकीश नामक टीका का कर्ता ।

विष्णु धर्मसूत्र—१००-३०० ई०, ३री
श० ई० (ह० प्र०) ।

विष्णु पुराण—३री श० ई० (हरप्रसाद
शास्त्री) ।

विज्ञान निधु—१६वीं श०, सांख्य सूत्रों
का भाष्यकर्ता ।

विज्ञानेश्वर—१०७०-११०० ई०, राज०
स्मृतिपर मिताक्षरा टीका का लेखक ।

वीरमित्रोदय—ले० मिश्रमिश्र, १६१०—
४० ई० ।

वृत्तरत्नाकार ले० केदारभट्ट—१२५० ई०
ले पुर्व ।

विष्णु संहार—महाराष्ट्र, नवीन का
पूर्वार्द्ध ।
संस्कृतभाष्य—१०५०-११५० ई० आग्नेय
भाष्यकार ।
संस्कृत संहितायें—ब्राह्मण और उपनिषद्
४०००-१००० ई० पू० ।
व्यास-स्मृति—२००-५०० ई० ।
शबर—२००-५०० ई०, सं० मीमांसा
दर्शन का भाष्य ।
शंकराचार्य—७८८-८२० ई० ।
शंखलिलित धर्मसूत्र—३००-१००
ई० पू० ।
शाङ्गधर—१२४७ सं० संगीत रत्नाकर ।
शुद्धक—मृच्छकटिक २०० ई० ।
श्रीहर्ष—लगभग ११७५, सं० नैपथीय
चरित ।
श्रीतनुज—८००-४०० ई० पू०, रचनाक्रम
मानव, बीजायन, शाखायन आरम्भक
आश्वलायन (४०० ई० पू०) आश्वलायन
श्रीतनुज, आपस्तम्ब (३५०-३००
ई० पू०) (वीथ), सत्यापाङ्ग, काठक ।
सम्बन्धभद्र ज्ञानाचार्य—६०० ई०, सं०
आप्तमीमांसा ।
समुद्रमण्डरीक—२०० ई० ।
सायणाचार्य—मृ० १२८७ ई०, १३८१ ई०

में वेदभाष्य पूर्ण किया ।
सिद्धसेनगणि—६०० ई० उमास्वाति के
तत्त्वार्थाभिगम के टीकाकार जैन
विद्वान् ।
सिद्धसेन दिवाकर जैन वाणिज्य—
(५३३ ई०) सं० व्यापारतार ।
सोददल—१०२६-५०, सं० जयसुन्दरी,
कथा ।
सौमदेय—१०६२-८१, सं० कथा-
सरित्सागर ।
सौमदेय सूरि—१५६ ई० सं० नीति
वाचस्पत्युत ।
हरदत्त—११०० ई०, आपस्तम्ब भग्न पाठ,
आश्वलायन गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों के
टीकाकार ।
हर्षवर्धन—मृ० ६४८, सं० रत्नावली,
प्रियदर्शिका, नामानन्द ।
हारीत धर्मसूत्र—४००-३०० ई० ।
हेमचन्द्र—१०८८-११७२ ई० ।
हेमाद्रि—लगभग १२६०-१२७५, सं०
चतुर्वर्ग-चिन्तामणि ।
श्रीरत्नामो—१०५०-११००, अमरकोश
का टीकाकार ।
श्रीमेन्द्र—१०२०-१०८०, सं० बृहत्कथा-
संस्मरी ।

दूसरा परिशिष्ट

संस्कृति सम्बन्धी प्राचीन भौगोलिक स्थानों के वर्तमान रूप

संकेत—घ० घस्ती, श० शहर, न० नदी, प० पर्वत, दे० देश,
जा० जाति, राज० राजधानी, ल० लगभग

- घंग दे०—भागलपुर, मुंगेर का प्रदेश ।
 घग्नि घ०—कराचहर (मध्य एशिया) ।
 अघरान्त दे०—उत्तरी कोकण ।
 अमरावती घ०—मुम्बई जि० में कृष्णा
 नदी पर ।
 अमोघ्या घ०—अमुगिया (स्वाम), हृदय-
 राज द्वारा ल० १३५० में संस्थापित ।
 अरिमवेनपुर घ०—पवान (बर्मा) ।
 अश्वत्ति—पश्चिमी मालवा ।
 अश्वक—अहमदनगर ।
 अश्वकायन जा०—अफगान ।
 अस्तिवनी न०—चिनाब ।
 अहिच्छथा घ०—रामनगर, जिला बरेली ।
 अश्वत्त दे०—साठियावाड़ का पश्चिमी भाग,
 राजधानी द्वारका ।
 आग्ध दे०—सोदावरी कृष्णा का दोघाव
 प्राचीन राज० अमरावती या अमरकंटक ।
 आर्षावत्त दे०—उत्तर भारत ।
 इन्द्रधनुस्—अण्डमान द्वीप ।
 इरावती न०—इरावती (बर्मा) ।
 उद्दिपान दे०—स्वात नदी की घाटी,
 इसका अर्थ नाम उद्यान है ।
 उद् (ओद्) दे०—पश्चिमी सिन्धुनापुर प०
 सिंहभूमि, द० बाँकुवा के जिले ।
 उत्कल दे०—(उत्तरी कनिम) बालासोर
 से सरगुजा तक का प्रदेश ।
 उत्तर कुश—साइबेरिया ।
 उपरिज्ञान प०—हिन्दूकुश पर्वत ।
 उशीनर दे०—अंग मणिमाना (पश्चिमी
 पंजाब) ।
 ऐर्याषण दे०—ईरान ।
 अफिका दे०—खानदेश ।
 कटाह द्वीप—केटा (मलाया) ।
 कपिलवस्तु—नेपाल में बुद्ध की जन्मभूमि
 लुम्बिनीदेई (लुम्बिनी वन) में १० मी०
 पश्चिमी तिसीरा गाँव ।
 कपिश दे०—काफिरखान ।
 कपिशा—बंघान, काबुल से ५० मी० उत्तर ।
 कम्बुज—कम्बोजिया (फ्रांसिस् हिन्दचीन) ।
 कम्बोज—गामौर बदख़ा ।
 कर्णावती—अहमदाबाद ।
 कसिमगंध द्वीप—ओनियो ।
 कनिग—बालासोर के भद्रक से दक्षिण में
 विजयापट्टम् तक का उड़ीसा का प्रदेश ।
 कसु—कुर्रम न० ।
 कान्यकुब्ज—कन्नौज (जि० फर्रुखाबाद) ।
 काम्पित्य—द० कपिल (जि० फर्रुखाबाद) ।
 कामरूप—घासाम ।

काँची—काँचीवरम् ।

कुमिन—यमुना का उपरला प्रदेश ।

कुभा न०—काबुल नदी ।

कुह—सतलुज यमुना के मध्य का भूभाग,
सम्बाला द्वीपजन ।

कुशीनगर—कसिया (जि० गोरखपुर), बुद्ध
का निर्वाण स्थान ।

कैकय—राहपुर गुजरात जिले (पश्चिमी
पंजाब) ।

कौलनद—यजीरिस्तान ।

कोशल—अवध (राजधानी अयोध्या) ।

कौठार—न्यात्रंग (फैज हिन्दचीन) ।

कौशास्वी—कोसम, इलाहाबाद से ३० मी.
द. द० ।

गन्धार दे०—रावलपिण्डी और पेशावर के
जिले, पूर्वी गान्धार की राजधानी लक्ष-
शिला भी और पश्चिमी की काबुल और
स्वात नदी के संगम पर बसी पुष्करा-
वती (धार्मिक प्रांग और चारसदा) ।
चीन का दक्षिणी प्रान्त मुहाना भी
गन्धार कहलाता था ।

निरिषज ब०—अवध की राजधानी धार्मिक
राजमिर के निकट इसके अवशेष हैं ।

गुजंर—नवीं, दसवीं शती में वर्तमान राज-
पुताना गुजंर जाति का प्रदेश होने से
गुजंरभूमि कहलाता था । इसकी एक
धाता बालुकर्मा द्वारा जोते जाने पर
वर्तमान गुजरात का यह नाम पड़ा ।

गोमती—गोमल न०

गोड़ दे० तथा ब०—बंगाल, इसकी राज०
का नाम भी गोड़ (वारेन्ड)
लक्ष्मणावती या लखनौती था ।
मातदा से १० मील दूर ।

धोरक—गोर्-यंजकोरा (गौरी) नदी के
उद्गम पास का देश ।

चम्पा—(१) अन्ताम (हिन्दचीन) (२)
भागलपुर के पास प्राचीन अंग देश
की राजधानी ।

समन्वती—सम्बल ।

वेदि—यमुना के दक्षिण में बुन्देलखण्ड
का प्रदेश, इसका दूसरा नाम डाहल
भी था ।

खेर—केरल, मलाबार ।

खोल—मेल्लूर से पुद्द कोटे तक का
प्रदेश, राजधानियाँ उरयवूर, (कावेरी
पर त्रिचनापल्ली के पास), काँची
और तंजौर ।

डाहल दे०—वेदि ।

लक्षकोल—लकुभापा (बर्मा) ।

लक्षशिला—रावलपिण्डी से १२ मी०
उत्तर पूर्व शाहडोरी की बस्ती ।

लक्षिक जा०—अरब ।

लक्षनिलिप्त—लामसुक (जि० मेदिनीपुर) ।

लोवालि—घोसी (उड़ीसा) ।

लुषद्वती न०—अम्बर (पूर्वी पंजाब) ।

दक्षिणापथ—नर्मदा से दक्षिण का प्रदेश ।

द्वारावती—मेनाग नदी का निचला कांठा ।

नक्कमारम्—मिकोबार ।

नगरहार—जलालाबाद ।

नालम्बा—राजमिर से ६ मी० उ०
बहगौज की बस्ती ।

नेमियारण्य—नीमसार (जि० सोतापुर)

नक्कन जा०—पटान ।

पन्मुपायन—फिलिपाइन ।

पक्ष्मी—रावी ।

पंचाल—बहुलखण्ड द्वीपजन तथा गंगा

यमुना के दीपाव का कुछ भाग इसके दो भाग थे ।

(१) उत्तर पांचाल—रा० अहिच्छपा (रामनगर जिला बरेली) ।

(२) दक्षिण पांचाल—रा० काम्पिल्य (कम्पिल जिला फर्रुखाबाद) ।

पाटलिपुत्र—पटना ।

पाण्ड्य—तिरुनलवेल्ली, मद्रुरा के जिले ।

पारस्य (अ०) —पारसीक, पशु, फारस ।

पावा—(१) कसिया से १२ मी० उ० पू० वर्तमान पड़रौना ।

(२) बिहारशरीफ से ७ मी० पू० महाबौर का निवाँन स्थान ।

पुण्ड्र—मालदा तथा पूर्णिया एवं दिनाजपुर और राजशाही जिलों के कुछ भाग ।

पुरुषपुर—पेठाबर ।

पुष्कलावती—चारसदा ।

पौण्ड्र—सन्धाल परगना, बीरभूम के जिले तथा हजारी बाग का उत्तरी भाग ।

प्रतिष्ठान—पैठन, धौरंगाबाद, से २५ मी० द० गोदावरी के उत्तरी तट पर ।

प्राचीक—बलस ।

प्रायेक—वेवीलोमिया ।

भृगुक्षेत्र—जडौल ।

भगव—दक्षिणी बिहार; पटना, गया के जिले ।

भरथ—धामुनिक धनतर ।

भट्ट—रपालकोट के भागपस का प्रदेश ।

महोदधि—बंगाल की खाड़ी ।

मानव—मातका ।

मिथिला द०—बिदेह की रा० दरभंगा जिले में जनकपुर (वर्तमान सीता-मढ़ी के निकट)

मेह—नामीर का ऊँचा पठार ।

मगदोप—बाबा ।

रत्नाकर—बरक सागर ।

सन्ध्याक—तमसान; काबुल नदी के उत्तर में जलालाबाद से २० मी० उ० पू० ।

सुम्बिनी वन—कश्मिरदेई (नेपाल) ।

वकन, वकन—वखाँ, अफगानिस्तान का उ० पू० प्रदेश ।

वरस—इलाहाबाद के भागपाथ का प्रदेश (रा० कौशांबी)

वलभी—काठियावाड़ प्रायद्वीप तथा भरुच तथा सूरत जिले । रा० वला भावनगर से १८ मी० उ० पू० ।

वंग—मुर्शिदाबाद, नदिया, पशोहर के जिले तथा राजशाही पबना, फरीदपुर के कुछ भाग । सुवान वंग के अनुसार—बंगाल के पाँच भाग थे पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), समतट (पूर्वी बंगाल), कर्ण-मुख्य (पश्चिमी बंगाल), ताम्रलिप्ति (दक्षिणी बंगाल), कामरूप (आसाम) ।

वंशु न०—मानू (पापस) ।

वातापि—बीजापुर जिले में चालुक्यों की राजधानी धादामी ।

वाचन द्वीप—बोर्नियो ।

विजय—बिल्लविल्ल (केच हिन्दुओं में) ।

विजयनगर—हाम्पी जिले में बेलारी ।

वितस्ता—बेहलम ।

विपाशा (विपाद्)—व्यास ।

वैशाली—वसाड़, मिथिलविर्मा की राजधानी (जि० मुजफ्फरपुर) ।

अरुथान—सीस्तान ।

आकन—रपालकोट ।

- मुमुक्षु—सतपुत्र ।
 मूरसेन—मयुरा ।
 मूषा—मूसा (ईरान की एक पुरानी राजधानी) ।
 म्यावरती—कोसल की राजधानी सहेत महेट (गोंदा, बहराइन जिलों की सीमा पर) ।
 श्रीविजय—पलेमबोंग (सुमात्रा) ।
 श्रीक्षेत्र—ग्रोम (बर्मा) ।
 तरस्वती—अफगानिस्तान की धरमन्दाब नदी ।
 तारनाथ—बनारस ।
 सिंहपुर—सिमापुर ।
 सिंहल—श्रीलंका ।
 सौता—मध्य एशिया की मारकन्द नदी ।
 सुखोदय—सुखोमई (स्याम) ।
 सुधम्मवती—पंतोन (बर्मा) ।
 सुवर्णद्वीप—सुमात्रा, मलाया, जावा यादि हिन्द पूर्वी द्वीप समूह ।
 सुवर्णभूमि—बर्मा ।
 सुवासु—स्वात ।
 स्वप्न—धामेसर से ४० मी० दूर समुद्रा नदी के पूर्वी किनारे की बस्ती ।
 सोराट्ट—काठिमावाड़ ।
 स्वम्भ-तीर्थ—सम्भार ।
 हस्तिनापुर—मेरठ से २२ मी० उ० में हसनपुर गांव ।
 हंसकायन—हुंवा ।
 हन्तावती—पेरू ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

भारतीय संस्कृति और इतिहास विषयक सामान्य ग्रन्थ

- Cambridge History of India Vols. I to VI (S. Chand & Co., Delhi.)
 D. N. Roy : The Spirit of Indian Culture (Calcutta University)
 Dutta : Indian Culture (Cal. Uni.)
 Gokhale, B. G. : Ancient India (Asia, Bombay)
 J. N. Sarkar : India Through the Ages.
 Kabir, H. : The Indian Heritage (Asia, Bombay).
 K. T. Shah : The Splendour that was Ind.
 Panikkar, K. M. : A Survey of Indian History (Asia, Bombay).
 Ramakrishna Centenary Committee : Cultural Heritage of India
 Revised Edition, 5 Vols., Calcutta.
 R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar : History and Culture of
 the Indian People Vol. I, Vedic India, Vol. II The Age of Imperial
 Unity, Vol. III The Classical Age, Vol. IV The Age of Imperial
 Kanauij, Vol. V Delhi Sultanate (Bhartiya Vidyabhavan,
 Bombay)
 R. C. Majumdar, H. C. Raychaudhari and K. K. Datta : Advanced
 History of India, 2nd revised, enlarged edition (Macmillan
 1960).
 R. C. Majumdar : Ancient India, Revised (Enlarged edition)
 Motilal Banarasidas, 1960.
 R. K. Mukerji : Hindu Civilization
 Sengupta, P. : Everyday Life in Ancient India (Oxford Uni. P.).
 Smith, V. A. : Early History of India, 4th Revised edition (Oxford
 University Press.)
 Smith, V. A. : Oxford History of India, Revised Edition (Oxford
 University Press.)
 Thomas : Indianism and Its Expansion (Cal. Uni.)
 इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय संस्कृति का प्रवाह
 केदारनाथ शास्त्री : विष्णु-सम्भवा का प्रादि केन्द्र हड़प्पा
 केदारनाथ शास्त्री : भारत की सांस्कृतिक परम्परा
 मधुरसेन : भारतीय संस्कृति का इतिहास ।

- जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास का उन्मीलन ।
 जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की सीमांसा ।
 जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय कृष्टि का क, ख, ग ।
 डा० वामुदेव शरण खड्गवाल : भारत की मौलिक एकता
 डा० वामुदेव शरण खड्गवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष ।
 परमानन्द कोसाम्बी : भारतीय संस्कृति और ग्रहण ।
 मधुरालाल शर्मा : भारत की संस्कृति का विकास ।
 महावीर अधिकारी : भारत का विजय इतिहास
 रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय ।
 विमलचन्द्र पाण्डेय : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास ।
 गाने गुरु जी : भारतीय संस्कृति ।
 शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति ।
 डा० देवराज : भारतीय संस्कृति ।
 मल्लिकार्जुन विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ।

अनुक्रमणिका

अंकीरणीय १३४, १३५, १६८	अमेकान्तवाद ६२
अंकीरणम् १३८, १६८	अनेकार्थ संग्रह १४६
अगिरम् ४३	अन्तर्लिखित ८३
अकबर १६०, १६८, २००, २२६	अन्धक-वृष्टि १७५
अकका देवी १४६	अज्ञातार, तुल्यता के २३
अगस्त्य १२६	अपभ्रंश शैली १६६
अग्नि ४१	अपर जन गद १६७
अग्नि पुत्राण १२२, १७१	अपाङ्कक्य १०४
अग्निमित्र ११०	अप्यवधीक्षित २५
अग्निष्टोम १७	अभिधम्म पिटक ६६
अग्रहार ग्राम २११, २१२	अभिधानरत्नमाला १४६
अग्रज्वा १८८	अभिलक्षमुल १४८
अग्रज्योति १७२	अभिलक्षणाकार ६३
अज्ञातमानु १७३, १७४	अमरकोष १११, १२२
अज्ञाता देवी की मन्त्रिका १६२	अमरसिंह १११
अग्रज्योति १७, २६, २०३	अमरावती १८३
अग्रज्योतिरम् ८६	अमरावती शैली १८६
अग्रज्योति ४२	अमरी २२
अग्रज्योति की मन्त्रिका १६२	अमरक वातक १४८
अग्रज्योति ६५	अमरी प्रली २२१
अग्रज्योति २०७	अमरी सुमरो ४, १६२
अग्रज्योति १४७, १४८	अम्बुड १७५
अग्रज्योति, भारतीय संस्कृति की विशेषता १७८	अयम् ५०
अनुराधपुर १३०	अरव व्यापारी-इस्लाम के प्रचारक १५३
अनुलोम विवाह १०४, ११८	अरविन्द २२४
अनुसन्धान समितियाँ २३७	अरवाण्ड ६, १०७, १०८, ११०
	अरविल्ली १२४, १४४, १४६, १४७, २०६
	अलमनूर, १५०

- अलमसुदी १२४
 अल मासून १५०
 अलाई करवाका १६२
 अलाउद्दीन १५६
 अलीमुराफ २२
 अल्लकण के बुली १७३
 अवतार कल्पना ८४
 अवदान ११२
 अवदान यात्रा ११२
 अवनीन्द्रनाथ ठाकुर २३८
 अवन्तीमुन्दरी १४६
 अविनाशचन्द्रदास ४०
 अशोक ६, ७०, ७६, १०१, १०३, १०६,
 १०७, ११३, ११४, १३०, १३८,
 १६७, १७२, १७४, १८०, २४३
 अश्वघोष ११०, ११२, १३१
 अश्वपति २०३
 अश्विनी ४१
 अष्टांगमार्ग ६८
 अष्टांग संग्रह १२५
 अष्टांग हृदय १५०
 अष्टाध्यायी २०८
 अर्थ ६३
 अश्वरी विवाह १४२
 अशिकनी ३५
 अमूर्त्यम्पदा ६०
 अस्पृश्यता ११६, २३०
 अस्पृश्यता उन्मूलन २३०
 अहोम २०
 अक्षयनीवी १०६
 अक्षय ४६
 आगम ८६
 आगस्त्य ११६
 आग्नेय जाति १५, १७, १८
 आठ प्रकार के विवाह ५६
 आपस्तम्ब ३७, ३८
 आर्मीड प्रमोद २६, १०६
 आत्मयज्ञ ५७
 आधुनिक युग का महत्त्व २१६
 आधुनिक युग की संस्कृति का विकास
 २१६-४०
 आनन्द कुमार स्वामी (आ०) ६३८
 आनन्दवर्धन १४८
 आन्ध्रवंश ६६
 आयोजित अर्थव्यवस्था १६८
 आरम्भक ३६
 आकिमोविस् १५०
 आर्जुनायन १७५
 आर्थिक जीवन ५०
 आर्थिक दशा ६१
 आर्थ तथा आर्थिक संस्कृतियों का संगम २०
 आर्थिक ६३, १०१, १२२
 आर्थिक ११, १२४, १२७
 आर्थिकमात्र २२३, २२८, २२९,
 आलवार ८५
 आशुतोष मुखर्जी २३७
 आश्वमेधवस्था ४७
 आश्वम, कम्बुज में १३४
 आश्वलायन ३७
 इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस २३७
 इण्डियन सोशल रिफार्मर २२५
 इकबाल २३५, २४२
 इकबाकु राया ११६
 इतिहास, १६२, २०६, २०८, २०९,
 २१५, २१५
 इन्दुलेखा १४६
 इन्द्र ४१
 इन्दुवर्मा १३४, १३५

- इब्न तुर्गुतबेह १३६
 इब्राहीम भाषिन्नाह १५६
 इतिहास ५६
 इलोरा ८८, १६१
 इस्लाम का एकेस्वरवाद १५५
 इस्लाम का प्रचार १५३
 इस्लाम में परिवर्तन १६०
 ईश्वरकृष्ण १२२
 ईरान का प्रभाव ११३, ११४
 ईश्वरचन्द्र विद्यासागर २३१, २३५
 ईश्वर सम्बन्धी विचार ४१
 ईसा २४३
 उड़िया साहित्य २३६
 उत्तरकुव ५०
 उत्तर मद्र १७३
 उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ६४
 उत्तररामचरित १४७, १४८
 उत्तर वैदिक युग ४६, ५१
 उत्तर वैदिक युग का धर्म ४३
 उत्तरापथ १६७
 उज्जैनपुरी १२३
 उदयनाचार्य ६७
 उद्यानकला ६१
 उद्यान निर्माण कला १६३
 उद्योगधर्म २६, १०६
 उद्योतकार ६१, ६७, १२२
 उद्वाहिका १७६
 उपमन्यु सरकार २०४
 उपनिषद् ३७, ६०
 उपरता हिन्द १६०
 उपवर्ग ६३
 उमा १६
 उर २६
 उषा ३५, ४१
 उपवदात १००
 जैन-नीच तथा असुव्यता का विकास ४६
 ऋग्वेद ३, ५, ६, ८६, २४३
 ऋषी का विचार ४७, २०३
 एंग्लो-सैक्सन जाति ५१
 एकान्तिक धर्म ४३
 एरियन १०६
 एरुदोक्स १०८
 ऐतरेय ब्राह्मण ३६, ५२, १६५
 ऐतनीज १३८
 ओटोसी ५६
 औरंगजेब १०२, १५४, २०१
 ओगावा ४१
 कल्याण १११
 कठोपनिषद् ६०
 कठिरी १३६
 कणाद ६८
 कण्व ६६
 कणासरीसागर १४८
 कदम्ब ११८, ११६
 कनिषम २३४
 कनिष्क ७०, ७६, ६६, १००, १०१, १६६
 कान्दरीयनाथ १६६
 कान्हेरी १८७
 कपात २७
 कपिल ६६
 कपिलवस्तु के शासन १७३
 कवीर १५८, १५६
 कमलाकर भट्ट १५७
 कम्बन १५०
 कम्बुज १२, १२८, १३४
 कम्बोज ६१, १०५, ११२
 कर पद्धति ६२
 कर्जन २३४

कर्मकाण्ड की जटिलता ४३, ८०
 कर्मर ५०
 कर्मे २२७
 कलश १७२
 कलिवर्ण्य १४२
 कान्ह १४७
 कब्बाली १६२
 कदम्ब मार्तण्ड १३१
 कांजीवरम् १६१
 कांस्य प्रतिमाएं २००
 काठक ३८
 कातन १११, १४६
 कात्यायन ३७, १२२
 कादम्बरी १४८
 कापालिक ८६
 कामन्दकीय नीतिसार १२२
 कामशास्त्र १११, १२२
 कायवर्धन ८६
 कास्बाकी १०५
 कार्लो की मुफाएं १००, १८७
 कायभुज ८६
 कानिदास ११८, १२०, १२७
 कालीकट १५३
 काशिकावृत्ति १४६
 काश्मीर ६१, ८७
 किमसाव २०१
 किराताजुंसीय १२१
 कीथ ५१
 कुणिन्द १७४
 कुतुब मीनार १२५, १६२
 कुतुब १३७
 कुन्दकुन्दाधाम ६२
 कुमा ३५
 कुमारगुप्त १०, १२६, १४५

कुमारजीव ११७, ११८, १३१
 कुमारदेवी १७४
 कुमारपाल चरित १४७
 कुमारसम्भव १२१
 कुमारस्वामी ११५
 कुमारिल भट्ट ८५, ६४
 कुरंग गुग २६, २६
 कुम पांचाल ३५
 कुम्भक भट्ट १५७
 कुषाण ६६
 कुशीनारा १७३
 कुह १८
 कुचा १३१
 कुत्तिवास १६३
 कुत्थकल्पतरु १४८
 कुपलानी २४३
 कुपि ५०, ६१, १०७
 कुण्ड २०, ७५, ८३, १६३
 कुण्डल ५१
 कुण्ड सीतार्थ ८४
 कुण्ड यजुर्वेद ३५, ३६
 केशवचन्द्र सेन २२०
 केशविन्यास २७
 केशमुख के कालाम १७३
 केशव मन्दिर १६३, १६५
 कोक शास्त्र १४६
 कोटला निहंग २२
 कोणार्क १६६
 कोटिया १३२
 कोटिल्य ६०, १०५, १०६, १०६, ११०,
 १६७, १७१, १७२
 कोठार १०२
 कोन्डिय १०२, १२६, १३४, १३७
 कोरस २०७
 कोशिक ३८

- कोपीतकी ३६
 कागोड १३७
 कजुराहो १६१, १६५
 करोन्द्रोत्तिपि ११४, १३१
 खान-यान मोहेंजोदड़ों में २५, मौर्य युग में १०६
 खारवेत ६६
 खिलजी ११
 खिलौंग १३३
 खोतन १३१
 ख्याल १६२
 खंभा १८, ३५
 खंभा पार का हिन्द १२८
 खंगाराज १३५
 खंवेश उपाध्याय ६६, ६७
 खजुरिकित्सा १५१
 खणतन्त्र ५६, ५०, १७५
 खणितशास्त्र १२३
 खदाधर भट्टाचार्य ६७
 खरहृन्वज ८३, ८४, १००, १८७
 खर्गलहिता १११
 खंखर्ब विवाह ५६, १०५
 खंखार १०१, १८६
 खंखार खैली १८५
 खाचा सप्तमती ११२, १५६
 खार्गी ४७
 खीतखोविन्द १५८
 खीता ५७, ५८, ५६, २०६, २४३
 खिबराती खैली १६६
 खिबरान ६२
 खिबरमर् ११८
 खिषाह १५८
 खिप्त भूतिका १८८
 खिप्तयुग की आरंभ प्रणाली १६६-७०
 खिप्तयुग की विशेषताएँ ११७
 खिप्तयुग की संस्कृति १८७
 खिप्त और खिप्त के सम्बन्ध २०६
 खिप्तकाल कागड़ी २२४
 खिप्तदक्षिणा २०६
 खिप्तकाल पद्धति २०५
 खिप्तमत ६४
 खिप्तार १८२, १८७
 खिप्तगुप्त ३७
 खिप्तिकर्ता ५६
 खिप्तिकन्द १५८
 खिप्त आरक्षण ३६
 खिप्तराज १२०
 खिप्तिर्मा ८६
 खिप्तिरम् १६१, १६७
 खिप्तिर ३८
 खिप्तिरी ३५
 खिप्तिरी २५०
 खिप्तिरराज १५८
 खिप्तिराज ६५, ६६
 खिप्तिर ६६, ६७
 खिप्तिर खमंखुव ५७
 खिप्तिरखिप्तिर सातकर्मा १५५
 खिप्तिरखिलता, भारतीय संस्कृति की विशेषता २४३
 खामली ५६
 खामपंखावत १७०
 खाम्पवादी ५०
 खारापुरी १६४
 खोपा, विश्ववारा और खोपासुदा ५४
 खकतिर्मा २७
 खकुरागिदत १५०
 खन्दकीर्ति ६३, १२२
 खन्दगुप्त मौर्य ७, ६, ७६, ६६, ११३, ११४, १६७
 खन्दगुप्त विक्रमादित्य ११६, १२०, १२६

चन्द्र गोमी १२१, १२३
चन्द्रव्याकरण १२२
चन्द्रोत्तर वैकटरमण २३७
चन्द्रवदो २२
चम १३५
चम्पा १२, १०२, १३४, १३५
चम्पू १४८
चरक १११
च्यवन ऋषि ३६
चरित्र घोर साधार, भीम युग में १०६
चर्वन १३१
चाङ्कियेन १०२, १०६
चाणक्य १६८
चातुर्धाम ६६
चार धर्म सत्य ६८
चारुस पंचम २४३
चारुस विलिख २३३
चारुस वर्णन ६१, ६२
चितारोहण १४६
चित्रकला १६२, १८८
चित्तुलाचार्य ६५
चोलमेला १५६
चोल १६६
चैतन्य १५६
चैतन्य १८७
छन्द ३८
छान्दोग्य उपनिषद् ७५, ८३, २०८
जगदीशचन्द्र वसु २३६, २३७
जतमेजय ३६
जयन्तवट १५६
जयवर्मा १३४
जयसिंह १४७
जयप्रिय १४६
जयानक १४७

जलानुदीन बुखारी १५४
जहाँगीर २००
जाजलि ५७
जातक ७८, ८३, २०७
जातपात की हानियाँ १४३, १४४
जातिभेद ४५, २२८, २२९
जॉन मार्शल ११५, १५५
जापान १३२
जायसवाल काशीप्रसाद ११५, १७६
जाया १३६
जिन ६६
जीवधर्म ४६
जीवन का धारण ६०, १२०
जीव ६५
जीवक २१३
जुमा ४५, १०७
जैन धर्म का धारिभाव ६५
जैन धर्म का ज्ञान ८२
जैन महासभा १२२
जैनेन्द्र व्याकरण १२२
जैमिनि ६३
जोम्स २३४
जीक २३५
जीनपुर १६२
ज्योतिष ३६, ११५, १२४
टालमी १०८
टालमी एरुगेन १०८
टाय ३०
तंजीर १६१
तत्त्वकीमुवी ६६
तत्त्वदीपिका ६५
तत्त्वार्थदीपिका १२३
तत्त्वसा ५३
तत्त्वोपम पद्यति ५३
तमिल १६

- तलाक १०५
 तक्षशिला २०५, २१२, २१३,
 तानिबंध १३२
 ताण्ड्य ब्राह्मण ३६
 तामिल साहित्य ८७
 तिस्र १३०
 तिब्बत १३३
 तिरुवल्लुवर ११२
 तिलक ३६
 तीसरी बौद्ध महासभा ६६
 तैत्तिरीय उपनिषद् ६०
 तुलनात्मक भाषा शास्त्र २३४
 तुलसी की पूजा २०
 तुषारम् ११४
 तैजपाल १२६
 तोरमाण ११६
 तोलकण्ठम् १११, ११२
 त्रिपोसाफी २२२
 त्रेराष्ट्र १३८
 श्रील संभोट १३३
 दण्डी १४८
 दन्तपुर १३५
 दर्पण २८
 दर्शन ५८, ८६
 दर्शनों का निर्माण ७७
 दशकुमारचरित १४८
 दशगुणीतर अंकलेखन १२४, १३६
 दशरथ २०३
 दसवन्त १६२
 दक्षिणापथ १६७
 दाम ११५
 दामोदर १८
 दाराशिकोह १६०
 दार्शनिक विकास के चार युग ८२
 दास ११
 दिङ्नाम ६१, १२२
 दिवाकर मिश्र १४५
 दिव्यावदान ११२
 दिसापामीषल २१२
 दीनार ११६
 दीपकर श्रीमान ११५, १३३
 दीर्घजीविता भारतीय सांस्कृतिक की विवे-
 षता २४१
 दुर्गा १६
 दुर्जन १११
 दलवादा १६६
 देवकीपुत्र कृष्ण ४३
 देववर्मा १३३
 देवनन्द १२३
 देवधिगण १२२
 देवेन्द्रनाथ ठाकुर २२०
 दोरसमुद्र का होमशलेखन मन्दिर १६७
 द्रम्म ११५
 द्रविड १६१
 द्रविड प्रभाव १८, १६
 द्राह्मण ३७
 द्वैतवाद ६६
 द्वैताद्वैत ६५
 द्वैराज्य १६६
 धर्म १६५
 धनपाल १४६
 धर्म २४, ४०
 धर्म का पालन ५८
 धर्मकीर्ति ६१
 धर्मचक्र प्रवर्तन ६७
 धर्मोत्पत्ति की मुख्यता १७८
 धर्मपाल १२२

धर्मसहामात्र १६८	साधनम् ८७
धर्मरत्न १३१	नारद १२०, १२२, १७५, २०८
धर्मविजय १००	नारायणी पन्थ १६०
धर्मसंग्रह ६३	नारायणी गायार् २०७
धर्मसूत्र ३७, ३८	नारियल १७
धार्मिक धान्दोलन २१६	नारी धान्दोलन २३२
धार्मिक प्रान्ति ७४, ७५	नार्डिक (धार्मिक) १६
धार्मिक दशा २६	नालन्दा ११, १६६, २११, २१३, २१४, २१५
धार्मिक प्रभाव १५७	नामनीतकम् १२५
ध्रुव ७२	नासदीय सूक्त ६०
ध्रुवदेवी १२०	नासिक १००
नकुल ६१	नास्तिक धर्म ६१
नकुलीन ८६	निघण्टु १५०
नचिकेता ६०	निकामुद्दीन घोलिए १५४
नटराज शिव २०१	निदेश ८३
नन्द मौर्ययुग ६	निम्बार्क ८५, ८५
नन्दलाल बसु २३८	निपा १३१
नन्दी ८६	नियोग ५६, १०५
नरवलि ८८	निगल ३६
नल बन्धु १४८	निर्ग्रन्थ ६६
नवसाहसिक चरित १४७	निर्णय-ध्याय १०६
नवद्वीप ६७	निषाद (धाम्नेय) ८
नव्य न्याय धारा ६६	निष्क ५०
नव्य न्याय ६७	नीम २५
नमीर शाह १६३	नीलकण्ठ १५७
नहपान १००, १०६	नृत्य ४५
नागर सर्वस्व १४६	नेषिटी ८, १४
नाम धामाटक-गुप्त युग १०	नेषिटी नस्त की सांस्कृतिक-दिन १६
नामानन्द १४७	नैपदीय चरित १४७
नामाजुन ६६, १११, ११२, १२५, १३२	न्यायकुमुदावलि ६७
नामाजुनी कीर्ति १८३, १८७	न्याय दर्शन ६७
नाममणि ८५	न्याय भाष्य १२२
नालक १५६	न्यायमन्त्ररी ६७
नामदेव १५६	

न्याय वातिक ६१, ६७, १२२	पाठ्यविषय २०७
न्यायवतार १२३	पाणिनि ८३, १२२
न्यून १५७	पाणिनीय अष्टाध्यायी ६४
पञ्चतन्त्र १२१	पाण्डुरंग १३५
पंचरत्नो ६५	पाण्ड्य राजा मुन्दर ८२
पञ्चविंश ब्राह्मण ३६	पार्श्वज महाभाष्य ११०
पटोला २०१	पारस्कर गृह्यसूत्र ३७
पति ५१	पार्थसारथि ६४
पतञ्जलि ८६, ८६, १०४, १०७, ११०, १११	पाश्च ६६
पति ४६	पाश्चन्नाथ पर्वत ६६
पदार्थप्रमंसाग्रह ६८	पालकाप्य १२५, १५१
पद्मपाणि अवलोकितेश्वर १८६	पालागल ४६
पद्मपुराण २०	पालि व्याकरण १११
पद्मसम्भव १३३	पाक्यी ४०
परमाणुवाद ६७	पावा १७३
परमा हिन्द १२८	पाशुपत शैवसम्प्रदाय ८६
पराशर १२२, १५७	पासे २६
परिमल १४७	पिण्डतिथन १६३
परीक्षाएँ और उपाधियाँ २१०	पिप्रावा २१
पञ्चन्य ४१	पीपल २५
परा ४८	पुनर्वसु १११
परम्यी ३५	पुराणों का विकास ८१
पल्लव १६२	पुराणमहाल और नवार्णमहाल ७
पशुपति २५	पुकरवा और जवशी ३६
पशुपति के विग्रह आन्दोलन ४३	पुरुषार्थ ६०, २४५
पशुमेध ३३	पुरुषोत्तम देव १४६
पश्चिमी वृत्तकाल जाति १५	पुरुषमित्र ७६
पहलव ६६, १०५	पूजा १६
पहाड़ी शैली २००	पूरावर्मा १३६
पौषरात्र पद्धति ८४	पूर्व भीमांश ६३
पाटलिपुत्र का प्रबन्ध १६८	पूर्व वैदिक युग ४०-४३, ४४, ४८, ५०
पाटन प्रणाली २०६	पूजा ४१
	पुत्र ६२

पृथ्वीराज विजय १४७
 पेरिप्लस १०६
 पो-मा-सी १३१
 पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के दो
 युग ७४
 प्रगतिशीलता ५२
 प्रजापति ४३
 प्रजातन्त्र १७३
 प्रणाली व्यवस्था २३
 प्रजा ११२
 प्रजापारमिता ११२, १६५
 प्रतिलोम विवाह १०४, १४२, १६८
 प्रफुल्लचन्द्र राय २३६
 प्रमाणवातिक ६१
 प्रमाणसमुच्चय ६१
 प्रसन्नपाद ६८
 प्रस्थान पथी ६५
 प्राकृत ११२
 प्रागैतिहासिक युग ७, १४-३३
 प्राचीन राजतन्त्र की समीक्षा १७१
 प्राच्य भूमध्यसागरीय जाति १५
 प्राजापत्य ५६
 प्राणनाथ १६१
 प्रातिपक्ष ३८
 प्रान्तीय भाषाओं का विकास २३४
 प्रार्थनासमाज २२०
 प्रिन्सेप २३४
 प्रियदर्शिका १४७
 प्लिनी १०२, १०६
 फतहपुर सीकरी १६२
 फाहियान ११६, १३०, १८३
 फिरोजशाह तुगलक १४४
 फूनान १३४, १३४

बकिमल्ल चटर्जी २२३, २३४
 बंगाल की पाल घाटी १६६
 बख्शली पोथी १२४
 बरबुद्ध १३८
 बनिपर १०२
 बमुक २०६
 बहरामजी २२७
 बहुविवाह ५६
 बहुसुवर्णक १३७
 बाण १४२, १४८
 बादरामण ६४
 बासवध २२६
 बालविवाह २२७
 बालि १३७, १३८
 बिज्जल ८७
 बिल्वतिष्ठ १३५, १३६
 बिल्हण १४७
 बुद्ध ३७, २०६
 बुद्धगया १८४
 बुद्धधर्म १२२
 बुद्धचरित ११०
 बृहत्तर भारत १२७-३६
 बृहत्तर भारत की वास्तु कला १६८
 बृहत्तर भारत का सूचपात १०१
 बृहत्संहिता १२२, १२६
 बृहदारण्यक ६०
 बृहदीश्वर का मन्दिर १६७
 बेगार १०७
 बेगुर १६१
 बेसनगर १००
 बौद्ध, लार्ड विलियम २२६
 बीमोजकोई ३६

बोधिसत्त्व १०१

बोरोबुद्ध १३८, १६५

बौद्धियों १३७

बौद्धधर्म का लोप ८२

बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव ७७

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण ७०

बौद्धधर्म के आकर्षण ७०

बौद्ध दर्शन ६२

बौद्ध साहित्य के गणतन्त्र १७३

बौधायन धर्मसूत्र ३७, ३८

ब्रह्म ६४, ६५

ब्रह्मगुप्त १५०, १५२

ब्रह्मचर्य के नियम २०४

ब्रह्मचर्याश्रम और उपनयन संस्कार

२०३, २०४

ब्रह्मचारी २०५

ब्रह्मचाल युक्त ६५

ब्रह्मसमाज २१६, २२०, २३१

ब्रह्मसूत्र ६४

ब्रह्मसूत्रमिहान्त १५०

ब्राह्मण ग्रन्थ ३६

ब्राह्मी लिपि १३१

ब्रिटिश युग १३

भक्ति २०, ५७, ८५

भगवद्गीता ५६, ७८, ८३

भगीरथ की तपस्या १६२

भट्ट नारायण १४६

भट्ट १४७

भद्रकर्म १४५

भर्तृहरि १२१, १४८, १४९

भरत ६६

भवशत ६३

भवभूति १४७, १४८

भागद्वय ४६

भागवत धर्म ७५

भागवत धर्म का आरम्भिक प्रसार ६३

भागवत पुराण ८५

भाषा १८७

भाट्टमत ६४

भाततवडे २३६

भामती ६५

भामह १४८

भारत की मूल्य १४

भारत की विविधता और मौलिक
एकता ४

भारत विषयक धर्मग्रन्थ २३३

भारतीय कला की विशेषताएँ १६६

भारतीय पुरातत्व का धर्मग्रन्थ ३१

भारतीय संस्कृति १, इसकी विशेषताएँ

२४२, ४८

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का
प्रभाव ७१

भारतीय संस्कृति में जैनियों की देन ७३

भारतीय संस्कृति में सम्मिश्रण ३

भारवि १२१

भारसिंह ७६

भारहुत की कला १८३, १८४

भाषाविवेक १२२

भाष्यकान्त ६०

भास ११०

भास्कराचार्य १४६, १५०

भिक्षानृत्ति २०५

भूमध्य सागरीय मूल (इब्रिज) १५

भूमरा १६८

भृगुपञ्च १३५

भोज ६६, १४२, १५१

- मंगोल (किरात) १६, २०
 मंसूर २००
 मण्डन मिश्र १४५
 मधुरा १८, १०१
 मधुरानाथ ६७
 मधुरा वीली १८४, १८५
 मद्र १७४
 माध्य एशिया ११२, १३०
 माध्यकालीन संस्कृति १४०, १४२
 माध्यम मार्ग ६७
 माध्ययुग की भारतीय कला १६०
 माध्ययुग की मूर्तिकला १६०
 माध्ययुगीन चित्रकला १६६
 माध्य ६५
 मनु १०४, १०५, १०७, १२०, १५७.
 २०४
 मयूर ११६
 मलाया द्वीप समूह १३५
 मलाबार १५४
 मल्ल १७३
 मल्लिकार्जुन मुरारी ६२
 ममऊली १३६
 महाजम्पद युग ६
 महात्मा गांधी २३०, २३५, २३६
 महात्मा गांधी ६५, ६६
 महानारायण का रचना काल ५४
 महानारायण की महिमा ५४
 महाभाष्य १०४, ११०
 महाभित्तिचित्रण ६७
 महाभित्ति १०५
 महाभोज १०४
 महाभारत ६६, ७०, १०१, १११, ११६,
 १२१
 महारथी १०४
 महाजनवीस २३७
 महावस्तु १११
 महावीर ६६
 महावीरचरित १४७
 महावीरप्रसाद द्विवेदी २३५
 महेंद्र ६६, १३०
 महेंद्र लाल सरकार २३६
 महामाषिक ६६
 महासेनापति १०४
 मुहम्मद तुगलक २२६
 मा १६
 माघ १४७
 मातृदेवता १६
 मातृदेवी २४
 मातृशक्ति १६
 माषक १५०, १५७
 माष्यमिक ६२, ६३
 मानमार १२६
 मामलपुरम् १६१, १६२, १६५
 माषाबाद ६४
 मालती माषक १४०
 मालव १७५
 मालविकान्गिमणि १२१
 मिश्री १३१
 मिताक्षरा १४
 मिथिला १७३
 मिनान्दर ६६, ७०, १००
 मिथिल संस्कृत १११
 मिहिर कुल ११६
 मीनाधी १६७
 मुहंनुदीन चिस्ती १५५, १६०
 मुक्तिप्रीतिपत्र ३७
 मुगल वीली २००
 मुहम्मदगान्धि ४३

- मुद्रा ११५
 मुद्राराक्षस १२१
 मुरारि १४७
 मुरारि मिश्र ६४
 मुस्लिम फकीर १५४
 मुहम्मद १५३
 मुहम्मद गीस १६२
 मुहम्मद बिन कासिम १५४
 मुहर २८
 भूविज्ञान का प्रसार ७१
 मृच्छकटिक ११०
 मेघरुपनीज ३०, ८३, १०२, १०३, १०६
 मेघदूत १२१
 मेघातिथि १४८
 मेसोपोटामिया ३०
 मैकालिक १५८
 मैक्समुलर ३६
 मैक्स ६३, १२२
 मैक्सी ४७, ६०
 मोहेंजोदड़ो २१-३१
 मकल १०५
 मकनिका ११४
 मधोवरपुर १३४
 मधोवती १४६
 मधोवती १३४, १३८
 मनुवंद ३५, ५१
 महाभारतीय आन्दोलन ४३
 माकीवी ३६
 मातामलय १०४, १०५, १०७
 मातामलय स्मृति ११५, १२०, १२२, १४८
 मातामलय और मुमुत २०६
 मारकन्द १०२
 मुचान च्याय ८६, ८७, १८१, २०५
 २०६, २१४
 मुक्तिकल्पतरु १५१
 योग ६६
 योगाचार ६२
 यौधेय १७४
 रघुनन्दन १५८
 रघुनाथ शिरोमणि ६७
 रघुवंश १२१
 रजुल १००
 रत्नावली १४७
 रत्नी ४८, ४६, १६६
 रथ १६१
 रथकार ५०
 रन्तिदेव ६२
 रमाबाई २२७
 रविचर्मा २३८
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर २३५, २४१
 रहनुमाण मन्दावनान २२०
 राका १८
 रागमाला १६६
 राजकृत ४६
 राजगोपालाचार्य २३५
 राजान्न १६५-१७३
 राजतन्त्र पर प्रतिबन्ध १७१
 राजतरंगिणी १४७, १७२
 राजयोग ५८
 राजराज १६७
 राजसेखर १२१, १४२, १४६, १४८, २१०
 राजस्थानी शैली १६६
 राज्यश्री १४५, १४६
 राजाश्री का देवत्व १६६
 राजा के कर्तव्य ६२
 राजा का निराकरण ४६

राधा ८४, ८५, ८६
 रामकृष्ण परमहंस २२१
 रामकृष्ण भण्डारकर ७६
 रामकृष्ण मिशन ग्रान्दोलन २२१, २२२
 राममोहनराय २१६, २२६, २२८, २३५
 रामायण और महाभारत ७८, ११०
 रामायण का महत्त्व ५५
 रामायण का रचना काल ५४
 रामानन्द १५८
 रामानुज ८५, ८५, १५८
 रायल एथिमाटिक सोसायटी २३३
 रावण वध १४७
 राष्ट्रीय अनुसंधान कालाई २३७
 राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् २२५
 राम बिहारी घोष २३७
 राक्षस ५६
 रक्त ४३
 रत्नदामा १०७
 रत्नसेन ११८
 रेणु का मार्ग १०२, १०८
 रोचक २२
 रोमक ११६, १२५
 लक्ष्मीधर १४८
 ललित कलाएँ २३८
 ललितविस्तार ११३
 लल्लू लाल २३५
 लाट्पायल ३७
 लिवराज का मन्दिर १६१
 लिवराज सन्प्रदाय ८७, १४८
 लिवराज १७३, १७४, १७५
 लीलावती १४६, १५०
 लुम्बिनीवन ६७
 लेश १८७
 लेखी ११२

लोपत की सुवाई ३२, ३२
 लज्जि १७३, १७४
 लक्ष्मीधिका १७२
 लक्ष्मीधर ७०
 लक्ष्मी ११२
 लरण ४८
 लरतन्तु २०७
 लरण ४०
 लरों व्यवस्था ४६, ११६, १४१
 लरार्थिन पद्धति १०२
 ललमी १२२, १५४, २१५
 लल्लुभाचार्य ८८
 लल्लु विलास १६६
 लल्लु ४३, ७५, ८२
 लल्लुदेव प्रथम १०१
 लल्लुदेव ८३, १२२
 लाकाटक ११६
 लाल्लु १२५
 लाचस्पति मिथ ८१, ८६, ८७
 लात्पायन ८१, ८७, १११
 लाल्लु १४८, १४६
 लाल्लु और लल्लु ४१
 लाल्लुमार्गी पन्थों का जन्म ८०
 लाल्लु १३७
 लाल्लु ६१
 लातपदता १४८
 लात्तुकला १६१
 लल्लुमाल्लु २१०, २१५
 लल्लुमाल्लुदेव लल्लु १४७, १४८
 लल्लुमाल्लु १४६, १४६
 लल्लुमाल्लु १२१
 लल्लुमाल्लु १४६
 लल्लु १२०
 लल्लु १६७

- विज्ञानमित्र १६
 विज्ञानवाच ६३
 विज्ञानेस्वर १४८
 विष्णुनिन्द ३६
 विस्तार ३५
 विदेशियों की हिन्दू बनाना ११६
 विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति को
 ग्रहण करना १००
 विदेशी व्यापार की अद्भुत उन्नति १०२
 विषया विवाह १०५, १२०, २२६, २२७
 विनय मित्र ६६
 विनोद स्मिथ ११५
 विम वास ८६, १००
 विमल शाह १६६
 विमान १६१
 विलह्वरेष्ट २४२
 विलियम जोन्स २३३
 विवाह पद्धति ४४, ५६, १२०
 विवेकानन्द २४७
 विद्यालयकरणो ६३
 विशिष्टाई ६५
 विशाखदत्त १२१
 विशेष ६६
 विश्वेद्वर १५७
 विष्टि १०७
 विष्णु ४१, ७८
 विष्णु विम्वर २३६
 विष्णु धर्मोत्तर पुराण १२२
 विष्णुसर्मा १२१
 विजोबा सेनर १५६
 विहार १८७
 वीतनाम १०२
 वीरशैव ८७
 वृत्ती १३२
 वृत्तिगुण ६१
 वृष ४१
 वेणीमंहार १४७
 वेदव्यास ३४
 वेदों का महत्त्व ३४
 वेदांग ३८
 वेदान्त ३७
 वेदान्तदेशिक ६५
 वेम ६२, १७२
 वेदान्त ३७, ३८
 वैज्ञानिक और धार्मिक अनुसन्धान २३७
 वैज्ञानिक उन्नति ६३, १६३, २३६,
 वैतह्व ४६
 वैदिक और वर्तमान हिन्दूधर्म में भेद ४२
 वैदिक देवता ४०
 वैदिक धर्म का पुनरुत्थान १०१
 वैदिक धर्म के साथ समन्वय ८४
 दिक युग १६५
 वैदिक साहित्य और संस्कृति ३४-५३
 वैदिक साहित्य का काल ३६
 वैदिक संस्कृति ४०-४३
 वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ ५१
 वैद्यों ६१
 वैभाषिक ६२, ६३
 वैशम्पायन ५५
 वैशाखी ६६
 वैशाखी के तिथि १७३
 वैशेषिक ६७, ६८, १२२
 वैष्णव मत ८४
 वैराज्य ५०, १७३
 वैरोचन १०२
 व्याकरण ३६
 व्यापार ५१, १०८
 व्यासभाष्य १२२

अपान स्मृति १४१	शुल्व सूत्र ३७, ३८
अपोमतिवाचार्थ ६८	श्रुतक ११०
आकराचार्य ८५, ८७, ८९, ९४, ९५, १४५, १५८	शैलेन्द्र बल १३५, १३६, १६५
आक ६६, १०५	शैव ग्रंथ ७६
आसपत्र आश्रय ३६, ५१	शैव सम्प्रदाय ८७
आवर स्वामी ६३, ६४	शैव साहित्य ८७
आलाकाप्रहक १७५	शैवसिद्धान्त ८७
आहाबुदीन मौरी १५४	शोभन १०८
आकरभाष्य ६४	शोभू १३२
आज्ञाधर संहिता १५०	शमन ६६
आकष १७३	शमन वेल मोला १६१, १६७
आणार्थ ३६	आवर्णो २०६
आन्तरालित ६३, १३३	श्री १६
आन्ति स्वकष भटनागर २३७	श्रीकृष्ण ५७, ५८, ८४, १७५
आरिपुत्र प्रकरण ११०	श्रीमार १३५
आलिहीन ६१	श्रीलंका १३०
आसम प्रणाली १६५-१७६	श्रीविजय १२
आहूतही १६२	श्रीहर्ष ६५, १४७, १४८
शिक्षा ३८	श्रुतवर्मा १३४
शिक्षा और फीस २०६	श्रेणि १०६
शिक्षा काल २०७	श्रुतसूत्र ३७
शिक्षा केन्द्र २११	श्वेताश्वतर उपनिषद् ७६, ८६
शिक्षा पद्धति २०७	संगम ११२
शिक्षा पद्धति के उद्देश्य २१६	संगीत १६२
शिक्षाजीत २६, २८	संगीत रत्नाकर १४८
शिल्प ५०, ६१	संग्रहीता ४६
शिव १००	संगमग्र १२२
शिव ७५	संगमिका ६६, १२०
शिशुशाला १४७	संगम्यतन्त्रा ७०, ७१
शुभ ६६	संघातवाद ६२
शुक्रमन्त्र १४८	सन्तानवाद ६२
शुक्ल मन्त्र ३६	संवाज १८
शुद्धादित ६५	संयुक्त निकाय ६८
	संसारचन्द्र २००

संस्कृतियों का संगम १४
 संहिता ३४
 सतनामी १६०
 सतीप्रथा ३३, ५६, १२०, १४६, २२५
 सत्यपीर १६०, १६१
 सत्यार्थ प्रकाश २३३
 सदनभिन्ध २३५
 सद्धर्मपुण्डरीक ११२
 समलकुमार २०८
 सभा ४६, १६६
 सम्मता धीर संस्कृति १, २
 सम्मत्तबद्ध १२३
 समन्वयात्मक सिन्धु धर्म ८१
 समाज १०३
 समाज्य १०३
 समिति ४८, १६६
 समुच्चयपादी ८१
 समुद्र ५१
 समुद्रगुप्त १०, ६३, १२१
 सम्पत्ति का विनिमय ५०
 सम्पत्ति के अन्य परिणाम १५६
 सम्मितन की प्रकृति १५६
 सम्मिश्रण की प्रकृति १६०
 सरस्वती ३५
 सर सेवद महामद २२१, २३५
 सर्वोत्कर्षवाद ४२
 सर्वोन्नतिवाद ६३
 सरणी निवाह ११८
 सहदेव ६१
 सहिष्णुता का भाव ३, ५१, २४२
 सांख्यकारिका ६६, ११२
 सांख्य दर्शन ६५, ६६, १२२
 सांची ८४
 सांघों की पूजा २५

सांस्कृतिक एकता ५
 सांस्कृतिक प्रभाव, कृत्तर भारत में १३३
 सांस्कृतिक प्रसार के प्रेरक कारण १२८
 सातवाहन युग ६, १०, ६०, १६८, १८३
 सामवेद ३५, ३६
 सामाजिक दशा ४४, १०३, ११८, १४६
 सामाजिक संगठन ५६
 सारनाथ ६३
 साहित्यिक उन्नति १६३
 साहित्य १२१
 सिद्धमरी १३६
 सिद्धासन व्यापिशिका १४८
 सिकन्दर १५४, १७४
 सिकन्दर लोदी १५४
 सिगिरिया १६०
 सितार १६२
 सित्तनवासल १६०
 सिद्धसेन दिवाकर १२३
 सिद्धहर्म १४६
 सिद्धान्तशिरोमणि १५०
 सिन्धु १८
 सिन्धु ३५, ५१
 सिन्धु सभ्यता २१-३१
 सिन्धु सभ्यता का काम २६
 सिन्धु सभ्यता के निमाता ३०
 सिन्धु ६६
 सिन्धु सेवी २४६
 सीता १०२
 मुकरात २४३
 मुलावती १३२
 मुत्तपिटक ६६
 मुक्त्यु १४८
 मुक्त्युद्ध ११, १२६, १३५, १३७
 मुक्त्युद्ध १३१

मुक्तांगुलि १२६	हवपा तथा मोहोदयो की सम्पत्ता २१-३१
मुक्तास्तु १३	हम्नामामा २००
मुक्तु १११	हरविनास धारवा २२७
मुहूर्त्तलेख ६३	हरिजनों की उन्नति २२६, २३०
मूल ७८	हरिषेण १२१
मूषकाज दर्शनसाहित्य का ६०	हर्षचरित १४८
मूल साहित्य ३७	हवनकुण्ड ३३
सूर्य ४१	हवामुष १४६
सूर्यवर्मा १३४	हाकरगीद १५०
संयुक्तोद्गम २२४	हान ११२, १४६
संयुक्त ११४	हालेविद १६७
सहस्र १६४	हिन्दवीन के राज्य १३३
संग्रहबन्ध ६३	हिन्दसा १२४
सोमदेव १४८	हिन्दुधर्म का नया रूप ७७
सौमि ५४	हिन्दु धर्म के सुधार बान्दीन १५१
सौभाग्यिक ६२, ६३	हिण्णसा १०२, १०८, ११६
सौन्दरानन्द ११०	हिरण्यधर्म ४२
सौवीर ५०	हीनवान ६६, १०१
स्वप्न १८१	हुण-तीन १३४
स्वप्न १८१	हुमायूँ २००
स्त्रियों का उद्धार २३०	हेनरी मेन ११४
स्त्रियों की स्थिति ४७, ४८, १०५, १२०, १४५	हेमवन्द ६२, १४७, १४८
स्त्रीतन्त्र ८८	हेमाद्रि १४२, १४७
स्त्री शिक्षा २३१	हेमियोदोरस ८३, ८४, १००
स्पर्धा ४६, ४८	हैबल १६३, २३८
स्नानागार २३	सत्ता ४६
स्मिथ १८२, १८८	सधप ११४
स्मार्त सम्प्रदाय ८१	श्रीरस्वामी १४६
स्मृति चन्द्रिका १४२	श्वेमेन्द्र १४८
स्याद्वैत ६२	शुद्धक १७५
सौम्यन सम्प्रदाय १३३	शिकाण्ड शेष १४६
स्वामी दयानन्द सरस्वती २२३	शिष्टिक ६८
स्वामी विवेकानन्द २२१, २२२	शिमिली १६
स्वेज नहर १०८	शिशुति ८१, ८२
	शिविधर्म भट्ट १४८





Self-
N/15/25

Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

36851

Call No. 901.0954/Haz

Author - W. H. D. Rieu, et al.

Title - Shut is but a block

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.
